आचार्य शान्तिदेव का

# बोधिचर्यावतार

अनुवादक

शान्तिभिक्षुशास्त्री

अध्यापक, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन

बुद्धविहार

लखनऊ

२४९९ बुद्धाब्द : १९५५ ई०

प्राप्ति स्थान—

(१) बुद्धविहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ

(२) महाबोधि पुस्तक भण्डार, सारनाथ बनारस

(३) महाबोधि पुस्तक भण्डार, ४–ए बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता–१२

*To be had of—*

(1) Buddha Vihara, Risaldar Park, Lucknow. (India)

(2) Maha Bodhi Book Agency, Sarnath, Banaras (India)

(3) Maha Bodhi Book Agency, 4-A Bankim Chatterjee Street, Calcutta—12 (India)



**प्रथमवार**

एक हजार प्रतियां

**मूल्य १०) रुपया**

प्रकाशक—भिक्षु प्रज्ञानन्द, बुद्धविहार, रिसालदार पार्क, लखनऊ।

मुद्रक—श्री आर. डी. सेठ, दि पायनियर प्रेस, लखनऊ।

आचार्य शान्तिदेव का

# बोधिचर्यावतार

शान्तिभिक्षुशास्त्री

और परिश्रम की स्मृति को जीवित रखने के लिए उनके कार्यों का सचालन करते रहना महाबोधि सभा का कर्तव्य हो गया है।

महास्थविर जी के स्वर्गवास के पश्चात् ही १९५३ ई० में मगोलिया निवासी भदन्त मगलहृदय जी से नालन्दा पाली प्रतिष्ठान (इस्टिटचूट) में भेंट हुई। तभी हमारी प्रार्थना पर उन्होने लखनऊ विहार में रह कर तिब्बती भाषा एव साहित्य का अध्ययन-अध्यापन के कार्य में सहयोग देना स्वीकार कर हमारे उत्साह को बढाया और कुछ ही समय में एक पुस्तिका--तथागत-गर्भ-सूत्र--का अनुवाद भी कर दिया।

इसी समय अपने गुरु भाई श्री शान्तिभिक्षु शास्त्री को भी इस नये कार्य की गतिविधि के विषय में सूचित कर प्रतिवर्ष दो महत्वपूर्ण पुस्तको के प्रकाशन की अपनी इच्छा एवं अपने आचार्यवर की मनोकामनाओ की पूर्ति हेतु हाथ बटाने के लिए कहा। हमारी असुविधाए भी उनसे पूरी तरह विदित है। अत हमारी सहायता का हाथ बटाते हुए उन्होंने अपनी अनूदित 'बोधिचर्यावतार' की प्रेस कापी तैयार करके तुरन्त हमारे सुपुर्द कर दी तथा परिचयात्मक एक दीर्घ भूमिका, आकर्षक आधुनिक विषय-सूची, अनुक्रमणिका आदि स्वय तैयार कर, आचार्य शातिदेव का एक दुष्प्राप्य चित्र भी सग्रह कर हमारे उत्साह को बढाया। वास्तव में स्वर्गीय महास्थविर जी की पुण्यस्मृति में उनके द्वारा प्रतिष्ठापित पीठ के सरक्षण एव सवर्धन में सहयोग देना उनका भी कर्तव्य हो गया। उनके पीठ से प्रकाशित कराने में उन्होने बोधिसत्त्वो की चर्य्या का चुनाव किया है। यह उनकी कर्तव्य-परायणता का परिचायक है।

भारतीय वाङ्मय की एक अमूल्य निधि को अपने प्रथम प्रकाशन के रूप में पाठकों के हाथ में देते हुए हमें अतीव प्रसन्नता होती है। तिब्बती भाषा-साहित्य को योजनानुसार हिन्दी में अनूदित एव प्रकाशित करने के इस पुनीत कार्य में भाई भदन्त मंगलहृदय का हाथ प्रमुख है। हमारे कार्य को सुगम एव प्रशस्त कर लेने में उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री विद्वद्वर डॉ० सम्पूर्णानन्द जी तथा उत्तर प्रदेश के सूचना विभाग के सचालक श्री भगवतीशरणसिंह जी से विशेष बल मिला है। एतदर्थ हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते है।

इस कार्य में लखनऊ बौद्ध समिति के अध्यक्ष श्री जी सी लाल जी का सहयोग न मिलता तो इस शीघ्रता में ऐसी योजना की कल्पना भी सम्भव नहीं थी। प्रूफ सशोधन में सदा की भाति उपासक श्री भूलन प्रसाद जी ने हमारी सहायता की है तथा तिब्बती-चीनी आदि भाषाओं में सगृहीत भारतीय चिंतन-शैली के पठन-पाठन की दिशा में चर्चा करते रहकर डॉ० एच वी गुन्थर हमें प्रोत्साहित करते रहे है। हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन के प० श्री हरिशकर शर्मा का भी प्रूफ-शोधन में योगायोग रहा है। अत हम इन सबको हार्दिक धन्यवाद देते है।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने "दो शब्द" लिख कर जो सहयोग दिया है उसके लिए हम उनके आभारी है।

२०--८--५५ भिक्षु ग० प्रज्ञानन्द
लखनऊ

# दो शब्द

मेरे प्रिय मित्र विद्वद्वर पण्डित शान्तिभिक्षु जी शास्त्री ने 'बोधिचर्यावतार' की संस्कृत और हिन्दी में व्याख्या लिखकर मेरी एक चिराभिलषित कामना पूरी की है। सम्कृत टीका तो बाद में छपेगी, पर मेरे विशेष अनुरोध से उन्होंने हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करा दिया है। मेरा विश्वास है कि यह ग्रथरत्न अब हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित होकर सहृदय पाठकों को आनन्द और प्रेरणा देगा।

मैं इस पुस्तक से बहुत प्रभावित रहा हूँ। मानवता का जो रूप शान्तिदेव की इस रचना में निखरा है, वह सब प्रकार से स्तुत्य है। अपनी 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' में मैंने लिखा था कि "शान्तिदेव, जो गुजरात के राजपुत्र कहे जाते है, निस्सदेह बहुत उच्च कोटि के कवि थे। इनके तीन ग्रथ --शिक्षा-समुच्चय, सूत्र-समुच्चय, बोधिचर्यावतार--बौद्ध लोगो में प्रसिद्ध है। अन्तिम पुस्तक प्राप्त हुई है और वह सचमुच ही विश्व साहित्य की अमूल्य निधि है। कहते है, भूसुकपाद नामक सिद्ध से ये अभिन्न है।" आज भी मैं इस पुस्तक को इतना ही महत्वपूर्ण समझता हूँ। वस्तुत जो भी ग्रथ मनुष्य को उसके क्षणभगुर परिसर और सद्य पाती क्षणिक लाभ के लक्ष्य से ऊपर उठा कर त्याग और परहित-कामना के लक्ष्य तक ले जाने वाली बात इस ढग से कहता है कि पाठक के हृदय में सीधे और गहरे प्रवेश करता है वह श्रेष्ठ काव्य की कोटि में आता है। यद्यपि 'बोधिचर्यावतार' धार्मिक ग्रथ है और उसमे दार्शनिक सिद्धातो का विवेचन भी हुआ है तथापि वह अपने इन महान् गुणो के कारण उत्तम काव्य माना जायगा। मनुष्य का यह दुर्लभ जन्म नित्य नहीं प्राप्त होता। शान्तिदेव भी अन्यान्य भारतीय मनीषियो की भाति मनुष्य-जन्म को केवल भोग-योनि नहीं मानकर पुरुषार्थ-साधक दुर्लभ सयोग माना है। यह क्या मामूली सुयोग है कि आज हमने पुरुषार्थो के साधन करने में समर्थ मनुष्य-शरीर को पाया है? नरक में नहीं है, प्रेतयोनि में नहीं है, देवता या राक्षस नहीं है, गूगे या निर्बुद्धिक नहीं है--सुन्दर मनुष्य का जन्म पाया है। इसमें यदि परहित कामना मन में जगी तो फिर कहा जगेगी? क्या इस प्रकार समागम --समस्त शुभ सयोगो की एकत्र प्राप्ति--प्रतिदिन होती है?

> क्षणसपदिय दुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी।
> यदि नात्र विचिन्त्यते हितं पुनरप्येव समागम कुत॥ १४॥

भागवत में भी कहा है कि यह सुदुर्लभ मानव-शरीर रूपी नौका सुलभ हो गयी है, इस नैया को खेने के लिए सद्गुरु जैसा कर्णधार भी प्राप्त हो गया है और भगवान् की कृपा की अनुकूल हवा तो बह ही रही है, इस समय--इन सुन्दर

संयोगो के प्राप्त होने के दुर्लभ क्षण में यदि मनुष्य भवसागर को न तर सका, तो वह आत्मघाती के अतिरिक्त और कुछ नहीं है---आत्महा, स्वयं अपने आप को मार डालने वाला'---

नृदेहमाद्य सुलभ सुदुर्लभ
प्लव सुकल्प्त गुरुकर्णधारम् ।
मयानुकूलेन समीरणेरित
पुमान् भवाब्धि न तरेत् स आत्महा ।।

किन्तु वोधिचर्यावतार का कवि-सन्त अपने आपको तारने के लिए उतना चिन्तित नहीं है जितना प्राणिमात्र की दु ख-निवृत्ति के लिए । यह सन्त मुक्ति या निर्वाण नहीं वलिक सर्वप्राणियोंका क्लेश-शमन करना चाहता है । वोधि-चित्त का साधक अपने निर्वाण की चिन्ता नहीं करता । वह अपने पुण्य का एक ही उपयोग करना जानता है---यदि मैंने कुछ पुण्य किया हो, कुछ शुभ आचरण किया हो, तो उससे समस्त जगत के प्राणियों का दु ख दूर होवे---

एव सर्वमिद कृत्वा यन्मयासादित शुभम् ।
तेन स्यां सर्वसत्वानां सर्वदु खप्रशन्तिकृत् ।। १ ६ ।।

इतना ही नहीं, वह परिनिर्वाणाभिमुख बुद्धो से हाथ जोड कर प्रार्थना करता है कि वे निर्वाण प्राप्त करने में जल्दी न करें, अनन्त कल्पों तक ठहरें ताकि ससार में अधेरा न हो जाय और जगत् के दु खी प्राणी भटक-भटक के मरने न लगें ---

निर्वातुकामाश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलि ।
कल्पाननन्तास्तिष्ठन्तु मा भूवन्धमिद जगत् ।।

'कितनी उत्कृष्ट भावना है ? शातिदेव की भक्तिभावना और अद्भुत श्रद्धा तो उनके ग्रथ के प्रत्येक अश से प्रकट होती है । वोधिसत्त्वो की पूजा करने के लिए वे इतने आतुर हैं कि यदि उनकी चले तो समस्त विश्व के फूल, फल, मणि, रत्न और महार्घ वस्तुएँ---

यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव
भैषज्यजातानि यानि सन्ति
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके
जलानि च स्वच्छमनोहराणि

सव बुद्ध-पुत्रो की पूजा में लगा दें । परन्तु इतनी श्रद्धा और भक्ति के होते हुए भी वे मानते हैं कि परहित की वात भी वुद्धपूजा से वडी होती है फिर समस्त प्राणियों के सर्वसुख के लिए उद्यम की तो वात ही क्या ?

हिताशसनमात्रेण बुद्धपूजा विशिष्यते ।
किं पुन सर्वसत्त्वाना सर्वसौख्यार्थमुद्यमात् ।। १ ७ २ ।।

क्या उदात्त भावना है ! प्राणियो की दु:ख-निवृत्ति की कैसी उदार चिन्ता है ? इस श्रद्धा और भक्तिरस से उद्वेल्न ग्रथ सरोवर में स्नान करने वाले का कलुष दूर हो जाता हो तो आश्चर्य ही क्या है ? किसी भी सम्प्रदाय का मनुष्य हो, इस महती अनुशसा से निर्मलचेता बन सकता है ।

किन्तु बोधिचर्यावतार केवल भक्ति और श्रद्धा का भाव गद्‌गद् वाक्य ही नहीं है । शान्तिदेव इसमें श्रेष्ठ दार्शनिक आचार्य के रूप में भी आये हैं । प्रज्ञा-पारमिता वाले प्रकरण में वे अपने मत की स्थापना करते समय उत्तम युक्तियो का प्रयोग करते हैं और परपक्ष के निरसन में कठोर तर्क का शस्त्र चलाते हैं। एक तरफ वे अत्यन्त निरीह और आत्मत्यागी भक्त है तो दूसरी ओर कठोर तार्किक और कसके जवाब देने वाले वादमल्ल भी हैं --

'इद ब्राह्‌ममिद क्षात्रं शापादपि शरादपि ।'

लेकिन वस्तुतः वे प्राणिमात्र के कल्याणकामी सन्त ही है । उनके अन्तस्तल से जो ध्वनि निकलती है और रोम-रोम से उच्चरित होती है, वह यही है, कि कोई दुखी न रहे, रोगी न रहे, पापी न रहे, हीन न हो, परिभूत न हो, दुर्मना न हो--

मा कश्चिद् दु:खित· सत्त्वो मा पापी मा च रोगित ।
मा हीन परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मना ॥ १०-४१ ॥

बोधिचर्यावतार की मूल स्वर-धारा इसी लक्ष्य की ओर बढ़ती है ।

महायान मत की यह प्राणिहितेच्छा बहुत ही कल्याणकर है । बुद्धदेव के प्रवर्तित मार्ग के तीन यान प्रसिद्ध हैं--हीनयान, महायान और तत्रयान या वज्रयान । कहा जाता है कि उन्होंने अपने जीवन काल में तीन बार धर्मचक्र का प्रवर्तन किया था । प्रथम प्रवर्तन ऋषिपतन (सारनाथ) में हुआ। यही प्रवर्तन ऐतिहासिक है । इसमें श्रावकयान और प्रत्येक बुद्धयान आदि मार्गों का प्रवर्तन था, यह उपदेश व्यक्ति को निर्वाण या (मोक्ष) का मार्ग बताता है । इस प्रकार की साधना करने वाले हीनयान के अनुयायी कहे जाते हैं । दूसरी बार धर्मचक्र का प्रवर्तन गृध्रकूट पर और तीसरी बार धान्यकटक में हुआ था । ये दोनों ऐतिहासिक नहीं बल्कि भाव-जगत् से अधिक सम्बद्ध हैं । दूसरे धर्मचक्र के प्रवर्तन का उद्देश्य समस्त जीवों के मोक्ष में आनन्द प्राप्त करने की साधना का उपदेश है । यही महायान है । यद्यपि समस्त प्राणियो को मोक्ष प्राप्त करने में आनन्द अनुभव करने की साधना स्वय परमसाध्य नहीं है, वह बुद्धत्व-प्राप्ति का साधन-मात्र है, तथापि बोधिसत्त्वों की इस साधना ने ऐसा अद्‌भुत रूप ग्रहण किया है कि वह स्यमेव परमलक्ष्य--जैसी दिखने लगी है। 'बोधिचर्यावतार' इस भावना को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा देता है । बोधिसत्त्व की यह प्रार्थना कितनी महिमामयी है कि 'जगत् का जो कुछ दु:ख है वह सब मैं भोगूं और बोधिसत्त्व के किये समस्त शुभकर्मों से ससार सुखी हो'--

यत किंचिज्जगतो दुःख तत्सर्वं मयि पच्यताम् ।
वोधिसत्त्वशुभै सर्वेर्जगत् सुखितमस्तु च ॥ १०-५६ ॥

मुझे यह देख कर हार्दिक सतोष हुआ है कि प० शान्तिभिक्षु जी ने इस पुस्तक का अनुवाद सरल और सुबोध हिन्दी में किया है और आवश्यक स्थलों पर टिप्पणिया लिखकर मूलभाव को ठीक-ठीक हृदयगम करने में पाठको की सहायता की है । वे बौद्ध शास्त्रों के गभीर विद्वान् तो है ही अन्यान्य भारतीय दर्शनों और साहित्य के भी प्रगाढ़ पडित है । साथ ही उनकी दृष्टि आधुनिक विषयों के अनुशीलन से निर्मल और अन्तर्दर्शिनी बन गयी है । वे यद्यपि प्राचीन शास्त्रों के निष्णात विद्वान् है तथापि दुराग्रह और पूर्वग्रह से सर्वथा मुक्त है । ऐसे विद्वान् के इस साधु प्रयत्न से विद्वज्जन अवश्य उपकृत होंगे । एवमस्तु ।

काशीविश्वविद्यालय
७-११-५५

हजारीप्रसाद द्विवेदी

शान्तिदेवपरमैर्निजपुत्रै-<br>
स्तोषमेतु करुणामतिनाथः ।<br>
स्वागतार्थमवलोक्य जनाना-<br>
मग्रयानमुपलब्धमनेन ॥

# विषय सूची

# ग्रन्थपञ्जी

(Bibliography)

१. वोधिचर्यावतार (मूल कारिका) सपादक I P Minayeff, 1889

२ वोधिचर्यावतार (मूल कारिका) न० १ का प्रतिमुद्रण Journal of the Buddhist Text Society, Calcutta, 1894

३ वोधिचर्यावतार (मूल कारिका) भोट अनुवाद के साथ । न० २ की सस्कृत कारिकाए भोटानुवाद के आधार पर शोधित तथा भोटानुवाद साथ साथ । पहले मूल श्लोक, फिर उसका भोटानुवाद । हाशिए पर शोधित पाठ । यह मेरी अपनी हस्तलिखित पुस्तक है ।

४. वोधिचर्यावतार पजिका (वोधिचर्यावतार की मूल कारिकाएँ तथा प्रज्ञाकरमति की टीका) सम्पादक—La Vallée Poussin, Bibliotheca Indica, Calcutta, 1901-1914 पजिका खडित है । दशम परिच्छेद, ३।२३–३३, ४।१–४५, ८।१०९–८६ इसमें नहीं है ।

५. वोधिचर्यावतार (मूल कारिकाएँ तथा वगानुवाद) कपिलाश्रम, मधुपुर, विहार से प्रकाशित । इसकी मेरी अपनी प्रति थी, जो अव विद्यालंकार परिवेण, लका में है । न० ४ के अनुसार इसमें कारिकाएँ है । फलत जहां पजिका के खडित होने से कारिकाएँ नहीं मिलीं वहा उन्हें छोड दिया गया है । अनुवादक को नं० १ तथा न० २ के ग्रथो का पता न था ।

६. English Translation of Bodhicaryavatara By L D Barnett, London 1909 यह वस्तुत सक्षिप्तानुवाद है । विशेष कर नवम परिच्छेद जो दार्शनिक विषय प्रस्तुत करता है, वहुत ही सक्षिप्त कर दिया गया है ।

७ शातिदेवेर वोधिचर्यावतार (शाति निकेतन से प्रकाशित वोधिचर्यावतार के आठ परिच्छेदो का वगानुवाद) इस अनुवाद का आधार ग्रन्थ न० ४ है । आरभ से लेकर ८वें परिच्छेद के कुछ अश तक का मुद्रण हो चुका था तव इसके अनुवादक श्री सुजितकुमार मुखोपाध्याय ने इसकी मुझ से चर्चा की । चर्चा के फलस्वरूप छूटी हुई कारिकाएँ न० २ तथा न० ३ के आधार पर परिशिष्ट में सम्मिलित हो सकीं । इस वात की चर्चा अनुवादक ने मुखवन्ध में यो की है—"La Vallee Poussin का सस्करण किया ग्रन्थ खडित और असम्पूर्ण है । तृतीय परिच्छेद के तेतीस श्लोको में से पहले के केवल वाईस, चतुर्थ परिच्छेद के अडतालीस श्लोको में से अन्त के केवल तीन, तथा अष्टम परिच्छेद के एक सौ छियासी श्लोको में से केवल एक सौ आठ इसमें पाये

जाते हैं। दशम परिच्छेद इसमें है ही नहीं। मैंने इसी से अनुवाद किया था। अनुवाद जब प्राय: छप चुका था तब दो स्थानों से शेष श्लोक हस्तगत हुए। हमारे मित्र और सहकर्मी शातिभिक्षु शास्त्री के पास.... इन श्लोकों की प्रतिलिपि थी तथा चीनभिक्षु भदन्त शुक्लप्रज्ञ के पास (न० २ की) छपी प्रति।"

८. फ्रासीसी और जर्मन तथा इतालियन अनुवादो के लिए देखिए, "M Winternitz, A History of Indian Literature Vol II P 370 Note 1

९ प्राचीन समय में इस ग्रन्थ पर लगभग एक दर्जन टीकाएँ हुई थीं। उनमें खडित प्रज्ञाकर मति की पजिका को छोड शेष सब भोट अनुवादों में ही प्राप्य हैं। चीनी और मंगोल भाषाओं में भी इस ग्रन्थ के अनुवाद हुए थे और प्राप्य हैं।

१० uber Den Quellenbezug Eines Mongolischen Tanjurtextes Berlin, 1950

इस जर्मन भाषा में लिखित निबन्ध के अन्त में बोधिचर्यावतार का भोट-रूपान्तर लीथो-मुद्रण-विधि से पाठान्तर सहित छपा है।

# चित्रपरिचय

सन् १९४५ में जब मैं बोधिचर्यावतार का अनुवाद कर रहा था, भिक्षुणी चन्द्रमणि जी ने पिलो (कनोर) से बोधिचर्यावतार के भोटानुवाद की एक पोथी मुझे भेजी। यह पोथी, कुन्-जङ्-च्वे-ने ल्हा-सा में लकडी के ठप्पों द्वारा जो पोथियां धर्मार्थ छपायी थीं, उनमें से एक थी। पोथी के दूसरे पत्र के मुख-पृष्ठ के मध्यभाग में शांतिदेव का एक रेखाचित्र था। चित्र की प्रामाणिकता के बारे में कुछ कहना भोट मनोभाव को स्पर्श किये बिना संभव नहीं है। भारत के सभी प्रधान आचार्यों को भोट में कुछ न कुछ रंग-रूप मिला है। शांतिदेव भी उनमें से अन्यतम हैं।

मैं इस चित्र को निरलंकृत रूप में ही बोधिचर्यावतार के अनुवाद के साथ जाने देना चाहता था। पर हमारे मित्र श्रीकृपालसिंह शेखावत ने उसे अलं-कृत रूप दे डाला। और चित्र १९४६ में ही मुझे भेज दिया जब कि मैं लंका में था। चित्र भेजा तो गया पर मुझे मिला नहीं। १९४७ में मेरे शांतिनिकेतन लौट आने पर उन्होंने चित्र की वह प्रति जो अपने लिए रख छोडी थी मुझे दी, जो इससे पहले नाना कारणों से काम में न आ सकी। ब्लाक बनाने के लिए चित्र का फोटो हमारे मित्र श्री के० एम० वर्मा ने बडे श्रम से उतारा है।

इस प्रसंग में इन सभी कल्याण-मित्रों के प्रति अनुवादक कृतवेदिता का प्रकाश करता है।

# भूमिका

## १ शान्तिदेव और उनकी कृतियां

### शातिदेव का जीवनोपाख्यान

आचार्य शान्तिदेव के संवन्ध में हम वहुत ही कम जानते है । सभवत ये सातवीं शती में विद्यमान थे । लामा तारनाथ के अनुसार ये गुजरात के किसी राजा के पुत्र थे और कुछ समय तक पचसिंह राजा के मन्त्री रहे थे । अन्त में ये भिक्षु हो गये थे। ये जयदेव के शिष्य थे। जयदेव नालन्दा के पीठस्थविर धर्मपाल के उत्तराधिकारी थे । [A History of Indian Literature by M Winternitz Vol II pp 365-366]

महामहोपाध्याय हरप्रसादशास्त्री ने नेपाल से प्राप्त तीन तालपत्रो के आधार पर इडियन एँटीक्वेरी (In ian Antiquary 42, 1913, pp 49-55) में शातिदेव की जीवनी पर एक निवन्ध लिखा था । उससे इतना ही और विशेष मालूम होता है कि शातिदेव के पिता का नाम मजुवर्मा था। नालन्दा में ये एक कुटी वनाकर रहते थे। अत्यन्त शात होने के कारण इनका नाम शातिदेव था। ये भुसुक नाम की समाधि में रत रहते थे। अत इनका नाम भुसुक भी था। (भुंजानोऽपि प्रभास्वर सुप्तोऽपि कुटीं ततोऽपि तदेवैति भुसुकसमाधिसमापन्नत्वाद् भुसुक नामख्याति सघेऽपि p 50) चर्यागीतियों में भुसुक के पद है। इनके विषय का एक उपाख्यान भी उस जीवनी में है। अत्यन्त शांत एव सरल होने के कारण छात्र इन्हें विल्कुल वुद्धू समझते थे। एक दिन धर्मदेशनामंडप में इन्हें आसन पर बिठा दिया। सोचा था कि ये कुछ बोल तो न सकेंगे फिर इन्हें खूव वनाया जायगा । आसन पर वैठकर शातिदेव ने जिज्ञासा की—किम् आर्षं पठामि, अर्थार्ष वा (=ऋषि वचनो का पाठ करूं अथवा अर्थत ऋषिवचनो का पाठ करूं) ? यह सुनते ही सव लोग चकित हुए और कहा कि हम लोग आर्ष (=वुद्धवचन) तो वहुत सुन चुके है आप अर्थार्ष (=अर्थत. बुद्धवचन) सुनाइये । अनन्तर इन्होंने वोधिचर्यावतार का पाठ करना प्रारभ किया। पर जब ये

यदा न भावो नाभावो मते सतिष्ठते पृथक् ।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥ [९।३५]

इस कारिका का पाठ कर रहे थे, आर्य मजुश्री प्रकट हुए और विमान पर वैठा कर स्वर्ग लेकर चले गये। नालन्दा के पडितो और छात्रो में वडी खलवली मची। सबने इनकी कुटी खोजी। तीन ग्रन्थ मिले—शिक्षासमुच्चय, सूत्रसमुच्चय और वोधिचर्यावतार। इन सबने इन तीनों ग्रथो का प्रचार किया।

## शिक्षासमुच्चय

आज शातिदेव की दो कृतिया प्राप्त है—शिक्षा समुच्चय * और बोधिचर्यावतार। शिक्षासमुच्चय में आचार्य ने सत्ताईस कारिकाओ द्वारा महायान की धार्मिक-चर्या का स्वरूप सूत्र रूप में उपस्थित किया है फिर उन सूत्रों के चारो ओर महायानसूत्रों के उद्धरणों की राशि एकत्रित कर दी है। ये उद्धरण आज अध्ययन की अमूल्य निधि है। कारिकाओं में महायान धर्म का जो निरूपण हुआ है उसे यहां ग्रन्थ में प्रवेश कराने के निमित्त दिया जा रहा है।

बोधिसत्त्व सोचता है कि भय और दु ख न तो मुझे ही प्यारा है और न दूसरों को ही। फिर भला मुझमें कौन सी विशेषता है जो मै दूसरो की तो रक्षा नहीं करता पर अपनी रक्षा में लगा रहता हूँ। दु ख का अन्त करने और सुख का छोर पाने की इच्छा से श्रद्धा के मूल को दृढ़ करके बोधि पाने के लिए दृढ़ यत्न करना चाहिए। बोधिसत्त्व का कर्तव्य है कि आत्मभाव (=शरीर), भोग और त्रैकालिक पुण्यो का प्राणियों के लिए उत्सर्ग कर दे। पर उत्सर्ग तभी हो सकता है जब वह उनकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धि कर सके। फलत रक्षा, शुद्धि और वृद्धि का उद्देश्य है उनका प्राणिहित के लिए उत्सर्ग कर देना। यदि इनकी रक्षा न की गयी तो भोग सभव ही कहा और वह दान ही कैसा जिसका कि भोग नहीं। अत. प्राणियो को भोग लाभ हो सके, सिर्फ इस ख्याल से इनकी रक्षा बहुत जरूरी है। रक्षा करने में सूत्रो के अध्ययन तथा कल्याण मित्रो की सगति से बहुत सहायता मिलती है। (कारिका १—६) अगली कारिकाओं में बोधिसत्त्व के कर्तव्यों का साधन सहित निर्देश यों हुआ है —

| कर्तव्य | साधन |
|---|---|
| (१) आत्मभाव की रक्षा अर्थात् दुष्कर्म-परित्याग | प्राणिमात्र की सेवा को छोड सब दूसरे कार्य निष्फल है और उन निष्फल कार्यों के त्याग से ही मनुष्य अपनी पूरी रक्षा कर पाता है। स्मृति या जागरूकता से इस अनर्थ का त्याग पूर्णतया सिद्ध हो पाता है। स्मृति उत्कट-आदर या श्रद्धा से होती है। श्रद्धा ज्ञान सहित उत्साह से उत्पन्न होती है जो शम या शाति की महान् आत्मा है। समाहित पुरुष को यथार्थ ज्ञान हुआ करता है और इन ज्ञान के कारण बाह्य चेष्टाओं के रुक जाने से मन शाति से विचलित नहीं होता। बोधिसत्त्व को चाहिए कि सर्वत्र शात रहे। धीमी-धीमी, मापी-जोखी और स्नेह भरी बातों से सज्जनों का मन नरम बनाये रहे। ऐसा करने से लोग उसे चाहते है। लोक में उस जिनांकुर (=बोधिसत्त्व) |

* सपादक Cecil Bendal M A , St. Pètersbourg, (1897-1902)

को जो नहीं चाहता वह राख दवी नरको की आग में पचता रहता है। वोधिसत्त्व को चाहिए कि जिन वातों से लोग असन्तुष्ट हों उनका यत्न के साथ परित्याग कर दे और इसीलिए तथागत ने संक्षेप से रत्नमेघसूत्र में वोधिसत्त्व के सदाचार का निरूपण किया है। भैषज्य से (मास-मछली से नहीं) और वस्त्र से ही यह आत्मभाव की रक्षा करनी होती है। भोगों का सेवन भी शरीर-रक्षा के लिए ही करना होता है, तृष्णापूर्ति के लिए नहीं। भोग में तृष्णा रखने से क्लिष्टापत्ति होती है—वडा पाप लगता है। (कारिका ७—१३)

(२) भोगरक्षा

पूर्ण रूप से उपायों को जानकर पुण्य करते रहना चाहिए। इस शिक्षापद का आचरण करने से भोगरक्षा सुकर और सहज हो जाती है। (कारिका १४)

(३) पुण्यरक्षा

अपने लिए फल की तृष्णा न रखने से पुण्यो की रक्षा होती है। पुण्य करके कभी पछतावा न करना चाहिए कि मैंने यह क्यों किया, न करता तो भी क्या विगड़ा जाता था। पुण्य करके उसका ढिंढोरा भी न पीटना चाहिए। वोधिसत्त्व को चाहिए कि लाभ और सत्कार से डरता रहे। अभिमान का त्याग कर दे। धर्म में श्रद्धालु रहे तथा धर्म में अविश्वास न करे [कारिका १५—१६]

(४) आत्मभावशुद्धि

आत्मभाव के शुद्ध हो जाने पर भोग उसी तरह पथ्य होता है जैसे देहधारियों के लिए पका भात, जिसमें किनकी नहीं रहती , हितकर होता है। तृणो से ढकी खेती जैसे रोगों से क्षीण हो जाती है, फलती-फूलती नहीं, वैसे क्लेशों से ढका वुद्धांकुर नहीं वढता। पाप रूपी क्लेशों का शोधन करना ही आत्मभाव की शुद्धि है। वुद्ध-वचनों का सार समझ कर उसके अनुसार यत्न न करने से मनुष्य को दुर्गति भुगतनी पडती है। क्षमाशील रहना चाहिए। शास्त्र सुनना चाहिए। वन का आश्रय ले समाधि के लिए यत्न करना चाहिए। समाधि—योग करना चाहिए। ससार के प्रति अशुभ-वुद्धि रखनी चाहिए। [कारिका १७—२०]

(५) भोगशुद्धि

सम्यगाजीव अर्थात् जीविका के समीचीन साधनों की शुद्धि से भोग-शुद्धि होती है। [कारिका २१ पूर्वार्ध]

(६) पुण्यशुद्धि

शून्यतादृष्टि तथा करुणाचित्त से (लोक हितार्थ) कार्य

| | |
|---|---|
| | करने से पुण्य-शुद्धि होती है। [कारिका २१ उत्तरार्ध] |
| (७) आत्मभाववृद्धि | लेने वाले बहुत हैं। देने के लिए यह छोटा सा आत्मभाव। इससे बनेगा क्या? किसी की पूरी तृप्ति नहीं होगी। इसलिए इसे बढ़ाना होगा। बल और अनालस्य का बढ़ाना ही आत्मभाव की वृद्धि है। [कारिका २२–२३ पूर्वार्ध] |
| (८) भोगवृद्धि | शून्यतावृष्टि तथा करुणाचित्त द्वारा दान करने से भोगवृद्धि होती है। (कारिका २३ उत्तरार्ध) |
| (९) पुण्य वृद्धि | आरभ से ही दृढ सकल्प और दृढ चित्त से करुणाभाव को आगे करके पुण्य-वृद्धि करनी चाहिए। श्रद्धा सहित भद्रचर्याविधि करनी चाहिए। वदना, पापदेशना, पुण्यानुमोदना और अध्येषणा का नाम भद्रचर्या है। श्रद्धा, वीर्य,स्मृति, समाधि और प्रज्ञा बलों का अभ्यास करना चाहिए। चारो ब्रह्मविहारों की भावना करनी चाहिए। बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति सघानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, शीलानुस्मृति और देवानुस्मृति रखनी चाहिए। सब अवस्थाओ में निरामिष धर्मदान और बोधिचित्त पुण्यवृद्धि के कारण हैं। चार सम्यक् प्रहाणों द्वारा प्रमाद न करने से, स्मृति और सप्रजन्य तथा गभीर चिन्तन से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है। (कारिका २४—२७) |

## बोधिचर्यावतार

शिक्षा समुच्चय तथा बोधिचर्यावतार का विषय एक ही है। भेद निरूपण शैली में है। बिना काव्य का प्रयत्न किये ही आचार्य ने उसे धर्म का काव्य बना दिया है। इसके अतिरिक्त बोधिचर्यावतार तथा शिक्षासमुच्चय दोनों ही एक दूसरे के पूरक भी हैं। शून्यवाद का प्रतिपादन बोधिचर्यावतार में है पर शिक्षासमुच्चय में उसका नाम-कीर्तन मात्र है। शिक्षासमुच्चय सूत्रों के उद्धरणों से विपुल ग्रन्थ हो गया है पर बोधिचर्यावतार में सूत्रों का यत्र-तत्र सकेत ही है। समूचा बोधिचर्यावतार नौ सौ तेरह श्लोकों में परिनिष्ठित हुआ है। जिसका विरण यों है —

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथम परिच्छेद | बोधिचित्तानुशसा | श्लोक-सख्या | ३६ |
| द्वितीय ,, | पापदेशना | ,, | ६६ |
| तृतीय ,, | बोधिचित्तपरिग्रह | ,, | ३३ |
| चतुर्थ ,, | बोधिचित्ताप्रमाद | ,, | ४८ |
| पचम ,, | संप्रजन्यरक्षण | ,, | १०९ |
| षष्ठ ,, | क्षान्तिपारमिता | ,, | १३४ |
| सप्तम ,, | वीर्यपारमिता | ,, | ७५ |
| अष्टम ,, | ध्यानपारमिता | ,, | १८६ |
| नवम ,, | प्रज्ञापारमिता | ,, | १६८ |
| दशम ,, | परिणामना | ,, | ५८ |
| | | | ९१३ |

बोधिचर्यावतार किसी समय बहुत लोकप्रिय ग्रन्थ था। इसी कारण इस पर अनेकों टीकाएं हुई थीं। भोट देश में इस ग्रन्थ का पाठ आज भी गीता की भांति होता है। महायान धर्म और दर्शन को सहजभाव से समझने के लिए यह बहुत ही उत्तम ग्रंथ है।

आचार्य शांतिदेव जिस समय हुए थे वह समय ऐसा था जब बौद्धधर्म पूर्णरूप से विकसित हो चुका था तथा उसमें उन सब धर्मबीजो का वपन हो चुका था, जिनसे कि गांधी-युग से पूर्व का संतों से प्रभावित हिन्दू-धर्म फूला-फला है। इस धर्म में सुभाषितो का बहुत आदर था तथा प्रत्येक सुभाषित जो जाति-कुल आदि के अभिमान से अछूते रह कर मनुष्य को उदात्त भावो की ओर ले जाते थे उन्हें बुद्धवचन मान लिया जाता था*। धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियो का समावेश हो चुका था तथा शून्यवाद अपनी पराकाष्ठा को पहुँच चुका था। एक ओर जहां यह सब हो रहा था वहां इस धर्म के सारभाग को ग्रहण करते हुए भी महाभारत और पुराणों के माध्यम से इस धर्म का, विशेष रूप से ससारवैमुख्य तथा जातिवाद-निराकरण के विरोध में भी कार्य हो रहा था। इस प्रतिक्रिया की परिनिष्ठा हम तुलसी के 'मानस' में देखते हैं। इन सब प्रवृत्तियो के विकास की रूपरेखा यहां प्रस्तुत करना आवश्यक है जिसे 'आगमप्रामाण्य का विकास', 'बौद्धधर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास', 'ब्राह्मणप्रमुख धर्म में बौद्धधर्म की प्रक्रिया के चिह्न' तथा 'भारत के दार्शनिक विकास की पडताल' शीर्षको में विभक्त कर प्रस्तुत किया जा रहा है।

## §§२. आगमप्रामाण्य का विकास

"यत् किंचित् सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम्" †

बौद्ध और जैन वेदागम को प्रमाण नहीं मानते, वे अपने-अपने आगमो को प्रमाण मानते हैं। इस तरह ब्राह्मण, बौद्ध श्रमण तथा जैन श्रमणों में जो परस्पर भेद है वह आगम के कारण है। और यह आगम का भेद इसलिये हुआ कि आगम प्रवर्तको के दार्शनिक विचारो में ही नहीं प्रत्युत् धर्म के व्यावहारिक रूप पर भी भिन्न-भिन्न मत थे। व्यावहारिक और दार्शनिक मतभेदों की चर्चा यहां नहीं की जा सकती पर स्वर्ग-नरक, आवागमन, मोक्ष जैसी बातो में भी जिन पर जनता का बहुत विश्वास था तथा जिनकी चर्चा श्रमण-ब्राह्मण समान भाव से करते थे—परस्पर बहुत भेद था। अदृष्ट या न दिखाई पडने वाली बातो के भेद की पुष्टि केवल आगमों द्वारा ही होती थी और हर सम्प्रदाय के लिए उनकी पुष्टि करना जरूरी भी था। अन्यथा अलग-अलग आगमों का टिकना सभव न था। इस तरह

---

* यदर्थवद् धर्मपदोपसहितं त्रिधातु सक्लेशनिर्वहणं वच।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशसदर्शक तदुक्तमार्षं विपरीत मन्यथा॥
(बोधिचर्यावतारपंचिका पृष्ठ ४३२)

† वही, पृष्ठ ४३२

अदृष्ट–विषयक भेदों के समर्थन के लिए भिन्न-भिन्न आगमों का रहना जहां जरूरी था वहां उन-उन आगमों को प्रामाणिक या श्रेष्ठ बतलाना भी बहुत अपेक्षित था क्योंकि बिना ऐसा किये उन आगमों की अनुयायी जनता का विश्वास दृढ नहीं किया जा सकता था। जनता के विश्वास को दृढ़ करना श्रमण-ब्राह्मणों के लिए बहुत जरूरी था। जनता के सहारे ही वे जीते थे। यदि जनता का उन पर से विश्वास उठ जाय तो यह उनके लिए बहुत ही हानि की बात थी। दक्षिणा-दान-भिक्षा के साथ जनता से जो मान-पूजा की प्राप्ति होती थी उसकी रक्षा के लिए उनके लिए जैसे भी हो, जनता के विश्वास को अवश्य रखना अपेक्षित था।

आगमों की प्रामाणिकता और श्रेष्ठता बतलाने के लिए सब सम्प्रदायों ने बडा प्रयत्न किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप जिन सिद्धांतो का उदय हुआ, वे यों है —

[अ] वेदागम–प्रामाण्य के समर्थक सिद्धात
- I. अपौरुषेयवाद (= अकर्तृत्ववाद)
- II. पौरुषेयवाद (= कर्तृत्ववाद)
  - १. सर्वज्ञ-ईश्वर–कर्तृत्ववाद
  - २. आप्तकर्तृत्ववाद (= यथार्थज्ञ–मनुष्य–कर्तृत्ववाद)

[ई] जैनागम-प्रामाण्य-समर्थक-सिद्धात
  - ३. सर्वज्ञवाद

[उ] बौद्धागम-प्रामाण्य-समर्थक सिद्धांत
  - ४. धर्मज्ञवाद

इन वादों में कौन पहले और कौन पीछे उत्पन्न हुआ, यह बतलाना बहुत कठिन है, त्रिपिटक में प्राचीन ऋषियों को वेद का कर्ता बताया है। अष्टकं, वामक, वामदेव, विश्वामित्र, यमदग्नि, अगिरा, भरद्वाज, वशिष्ठ, कश्यप और भृगु को तेविज्जसुत्त (दीघनिकाय) में मन्त्रो का कर्ता कहा गया है। मन्त्रकर्ताओं के इन नामो का इसी क्रम से त्रिपिटक में और भी कितनी ही जगहो पर उल्लेख है। बुद्ध से पहले (लगभग ६००ई० पू०) यास्क ने अपने निरुक्त में ऋषियों को ही मन्त्रो का प्रवक्ता कहा है—

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवु । तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादु । (अध्याय १ खड २०)।

ऋषि हुए वे जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार किया था। उन्होंने उपदेश द्वारा उन लोगों को मत्र प्रदान किये जिन्होंने धर्म का साक्षात्कार नहीं किया था और (इसी कारण जो उन ऋषियों की अपेक्षा) अवर (=हीन) थे।

यास्क ने इतना ही नहीं प्रत्युत ऋषि परम्परा पर प्रकाश डालते हुए यह भी बताया कि जो लोग धर्म के साक्षात्कार करने वाले नहीं थे वही प्राचीन ऋषियों के उपदेश या मत्रों को लेकर ग्रन्थ-रचना करने लगे —

उपदेशाय ग्लायन्तो अवरे बिल्मग्रहणायेम ग्रन्थ समाम्नासिषुर्वेद च वेदांगानि च। (निरुक्त अध्याय १—खण्ड २)

उपदेश ग्रहण में असमर्थ उन अवर (=हीन) लोगो ने इस ग्रंथ (= निघण्टु) तथा वेद और वेदांगो का संग्रह किया जिनसे स्पष्टतया ज्ञान हो सके !

जो बात यास्क ने कही है उसी से मिलती-जुलती बात अग्गञ्ञसुत्त (दीघ-निकाय) में आयी है. "वे (ब्राह्मण) जंगल में पर्णकुटी बना कर वहाँ ध्यान करते थे।......उनमें से कितने ध्यान न पूरा कर सकने के कारण ग्राम या निगम के पास आकर ग्रन्थ बनाते हुए रहने लगे।.... उस समय वह नीच समझा जाता था; किन्तु आज वह श्रेष्ठ समझा जाता है।"

यास्क और बुद्ध के इन वचनो की तुलना करें तो उसका निष्कर्ष यों होगा—

| यास्क | बुद्ध |
|---|---|
| (१) धर्म का साक्षात् करने वाले ऋषि। | (१) ध्यान करने वाले ब्राह्मण। |
| (२) धर्म का साक्षात् न करने वाले लोग, और उनका ऋषियों से उपदेश लेना। | (२) ध्यान पूरा न करने वाले ब्राह्मण। |
| (३) धर्म का साक्षात् न करने वालों के द्वारा ग्रन्थ-रचना। | (३) ध्यान न पूरा करने वालो द्वारा ग्रन्थ-रचना। |
| (४) × | (४) ग्रन्थ-रचना के कार्य की पूर्व युग में निन्दा। |
| (५) × | (५) ग्रन्थ-रचना के कार्य की बुद्धयुग में प्रशंसा। |
| (६) ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य था स्पष्टतया ज्ञान प्राप्ति का साधन प्रस्तुत करना। | (६) × |

इस तुलना से साफ जान पड़ता है कि यास्क और बुद्ध ने एक ही बात कही है। यास्क के विचार से ऋषियो ने ही मन्त्रो का उपदेश दिया और उन्हीं की परम्परा में चलकर वेदो और वेदांगो का निर्माण हुआ। बौद्ध परम्परा भी यास्क की बात का ही समर्थन करती है। बुद्ध और उनके पूर्ववर्ती यास्क को यही पता था कि ऋषियों ने ही मन्त्रो की रचना की है। भले ही ऋषियों ने मंत्रो की रचना की हो और भले ही यास्क जैसे कुछ बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार करते रहे हो पर जैमिनि और बादरायण के मत इस बात में सर्वथा भिन्न है। जैमिनि के विचार से वेद किसी ने नहीं बनाये। जैमिनि ने अपनी बात का समर्थन करने के लिए सारी परम्परा को ही उलट दिया। जैमिनि के समय में लोग यह मानते थे कि वेद के रचयिता ऋषि ही हैं। पूर्वपक्ष के रूप में उन्होने इसका यों उल्लेख किया है —

वेदाश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्या। (पू० मी० १।१।२७)

सूत्र का भावार्थ—'वाल्मीकीय' रामायण शब्द में वाल्मीकीय का अर्थ है वाल्मीकि की बनायी हुई (रामायण)। इसी तरह वैदिक ग्रंथो के साथ काण्व, शौनकीय, कौथु-मीय, काठक, तैत्तिरीय आदि शब्द जुडे दिखायी पड़ते है जिनका अर्थ है कण्व, शौनक कौथुम, कठ, और तित्तिरि की कृति। वैदिक ग्रंथो के साथ इस तरह के अनेकों

नाम जुडे है जिनसे पता चलता है कि उनकी रचना, सकलन और सम्पादन उन-उन ऋषियो के द्वारा हुआ है।

जैमिनि को यह मत पसन्द नहीं है। उन्होने साफ-साफ कहा--

आख्या प्रवचनात्॥ (पू० मी० १।१।३०)

वैदिक ग्रथो के साथ जो उनके नाम जुडे है उनका इतना ही अभिप्राय है कि उन-उन ऋषियो ने उन-उन ग्रथो (या मत्रों) का प्रवचन किया--दूसरो को सिखाया और पढाया, उसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि उन-उन मत्रो और ग्रथों की रचना भी उन्होने की। इस तरह वेदो को किसी की रचना न मान कर जैमिनि ने जिनकी प्रतिभा से मन्त्रो का उदय हुआ तथा वेदों का सकलन एव सम्पादन हुआ उन ऋषियो के यश पर प्रहार किया तथा उन्हें कोरा तोते के समान वेदों को रट-रट कर दूसरों को रटा देने वाला बताकर ठीक उन श्रोत्रियो (=वेद-पाठको) के समकक्ष बना दिया जिनका उपहास करते एक कवि ने कहा है--

"राजमाषनिभैर्दन्तै कटिविन्यस्तपाणय।
द्वारि तिष्ठन्ति राजेन्द्र छान्दसा श्लोकशत्रव.॥"

(राजन्! द्वार पर श्लोक के शत्रु वेदपाठी कमर पर हाथ रखे दात--राज-माष के समान दात--निपोरे खडे है।)

वेदों को किसी की रचना न मानने के सिद्धात का नाम ही अपौरुषेयवाद है। यद्यपि किसी भी बुद्धिमान् की समझ में इस बात का आना कठिन ही नहीं असम्भव भी हो सकता है पर उस पूर्व युग में इस ढग की वार्ता का होना कुछ भी अचरज की बात नहीं थी। इस तरह की असम्भव और अनहोनी बातों का बखान करने में जैमिनि और उनके अनुयायियो को कुछ भी सकोच नहीं हुआ और वे यही समझते रहे कि इस अपौरुषेयवाद के सिद्धात का आविष्कार कर उन्होंने नाम कमाया है--यश पिया है (यश पीतम्)। एक परवर्ती तार्किक जयन्त भट्ट ने क्षुब्ध होकर मीमासकों के प्रति कहा· हा, आप लोगो ने यश जरूर पिया है! आप लोग चाहें यश पियें, चाहे दूध पियें, और चाहे अपनी बुद्धि की जडता दूर करने को ब्राह्मी घृत पियें पर इस बात पर सदेह करने की गुजाइश नहीं है कि वेद की रचना किसी न किसी पुरुष के द्वारा हुई है। भले ही उसकी रचना में कुछ विलक्षणता हो पर विलक्षणता के बल पर यह कह देना कि उसकी रचना किसी ने की ही नहीं, यह तो बिल्कुल नयी सूझ है।--

"मीमासका यश पिबन्तु पयो वा पिबन्तु बुद्धिजाड्यापनयनाय ब्राह्मीघृत वा पिबन्तु। वेदस्तु पुरुषप्रणीत एव नात्र भ्रान्ति।............वैचित्र्यमात्रेण वेदे कर्त्रभावो रूपादेव प्रतीयते इति नूतनेय वाचो युक्ति।"

--न्याय मञ्जरी, आह्निक ४.

अपौरुषेयवाद के सिद्धात का सहारा लेकर 'वेद नित्य है' का सिद्धात भी उठ खड़ा हुआ। जिनके मत में वेद किसी की रचना नहीं, उनके मत से वेद को नित्य

होना ही चाहिए। पर वेद की नित्यता केवल यह कहकर नहीं सिद्ध की गयी "चूकि वेदों की रचना करने वाला कोई नहीं है इसलिए वे नित्य है," किन्तु उनकी नित्यता सिद्ध करने के लिए शब्द (=वर्ण) मात्र को मीमासको ने नित्य माना। यहा शब्द (=वर्ण) की नित्यता आदि के झझट में फसना ठीक न होगा पर यदि उन्हें नित्य मान लिया जाय, उन्हें ही नहीं वर्णो से बने पदो तक को भी नित्य मान लिया जाय तो भी वाक्यो की नित्यता सिद्ध करना कठिन कार्य है। वेद के वर्ण, पद और वाक्यों को नित्य मानना पर अश्वघोष और कालिदास के ग्रथो म उन्हे अनित्य मानना सचमुच निराली सूझ है। शाब्दिक नित्यवाद को इस जगह छेडना ठीक न होगा। यहां उसका उल्लेख कर देने का केवल इतना ही प्रयोजन है कि इस वाद का अपौरुषेयवाद से बहुत सबध है। इन दोनो वादों का जैमिनि ने प्रतिपादन किया है। वादरायण को भी जैमिनि से विरोध नहीं है। देवताधिकरण में वादरायण ने साफ-साफ वैदिक नित्यत्ववाद का प्रतिपादन किया है। वेद की नित्यता और उसकी अपौरुषेयता द्वारा जैमिनि और उनके अनुयायियो ने भले ही वेद के प्रति लोगों की श्रद्धा को न डिगने दिया हो पर वादों द्वारा साधारण जनता को ही नहीं बुद्धिमानों की बुद्धि पर पोथी-भार लाद कर बुद्धि के विकास को जरूर कुठित किया। यदि वेदों के प्रति यह धारणा बनी रहती कि वे पूर्वयुग के पुरुषों की रचनाएं हैं और वे भी हमारे जैसे ही थे, उनमें भी सब गुण ही गुण न थे, तो कदाचित् वेद के अनुयायियो को बहुत विचार-स्वतन्त्रता रहती और वेद की बातों को मानने या न मानने में उन्हें कोई मजबूर न कर सकता। जैमिनि के पहले इतनी मजबूरी थी भी नहीं। वेद के वचनो को लोग ऋषियों की कृति मानते थे और वेद की आज्ञा को राजाज्ञा के समान मानने को तैयार न थे। उनमें उस समय इतनी हिम्मत थी कि वे कह सकें कि मन्त्रो की रचना में कितनी जगह अर्थ स्पष्ट नहीं है, कितनी ही जगह विरोध है —

"अथापि विप्रतिषिद्धार्था भवन्ति .......अथाप्यविस्पष्टार्था भवन्ति।"

—निरुक्त, अध्याय १ खड १५

वेदों के सबध में यह और इस तरह की आलोचनाओ से सबध रखनेवाले दूसरे विचार यास्क ने अपने निरुक्त में सकलित किये है। जैमिनि ने भी इस तरह के विचारों को पूर्वपक्ष के रूप में रखकर उन्हें मरने से बचाया है। वे विचार इतना तो प्रकट कर ही देते है कि वेद को कितने लोग अपौरुषेय या नित्य न मानकर प्राचीन ऋषियों की रचना मानते थे और उस रचना में उन्हें बहुत से दोष भी दिखलाई पडते थे।

विचार स्वतन्त्रता की हत्या जैमिनी ने वेदो को अपौरुषेय और नित्य सिद्ध करके की, पर वे लोग जो किसी भी आगम को नित्य और अपौरुषेय नहीं मानते थे दूसरे तरीके से वही बात करने में न चूके। जैमिनि का ख्याल था कि जो अपौरुषेय एव नित्य है वही निर्भ्रान्त है, उसमें किसी भूल-चूक की गुंजाइश नहीं। अक्षपाद और कणाद के अनुयायियो को यह बात न जची। उन्होंने सोचा कि अपौरुषेयता और नित्यता को तर्क और बुद्धि से सिद्ध करना कठिन है, इसलिए

वेदो का रचयिता तो कोई-न-कोई होना चाहिए और उन्होने ईश्वर को वेद का रचयिता माना। उनके ख्याल से ईश्वर का ज्ञान पूर्ण और नित्य है, इसलिए यदि वेदों को उसकी रचना मान लिया जाय तो वेदो की प्रामाणिकता भी सिद्ध होगी और वेदों में कोई भूल-चूक भी न निकाल सकेगा। यद्यपि भूल-चूक निकालने वाले लोग सदा बने ही रहते है। वे केवल इतने भर से चुपचाप नहीं बैठ सकते कि वेद अपौरुषेय है या वेद किसी सर्वज्ञ एव निर्भ्रान्त पुरुष अथवा ईश्वर की रचना है। अक्षपाद ने इस प्रकार के मत को पूर्वपक्ष के रूप में उद्धृत किया है। उसमें कहा गया है कि वेद की बातें सच्ची नहीं उतरतीं। पुत्र-उत्पत्ति के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करना चाहिए यह वेद की आज्ञा है पर पुत्रेष्टि यज्ञ करने वालों को भी बहुत करके पुत्र नसीब नहीं होता। यह बात वेद को झूठा साबित करती है। ––उसमें अनृत––दोष है, इस बात को प्रकट करती है। अक्षपाद ने इस बात को यह कहकर उड़ा दिया है कि पुत्रेष्टि यज्ञ करने में कुछ गड़बड़ी हो जाने के कारण यदि पुत्र नहीं हुआ तो उसमें ठीक-ठीक यज्ञ न करने वालो का दोष है। इससे वेद की सचाई पर कुछ भी धब्बा नहीं लगता। (विस्तार के लिए देखिए––न्याय सूत्र अध्याय २ आह्निक १ सूत्र ५८––६१)।

जिन लोगों ने ईश्वर को आगमों का प्रवर्तक न मान मनुष्यो को ही उनका प्रवर्तक माना उन्होंने भी विचार-स्वतन्त्रता पर कम आक्रमण नहीं किया। साख्य सम्प्रदाय में कपिल को आप्त या यथार्यज्ञ माना। जो बात कपिल ने कही, वही प्रामाणिक है दूसरी नहीं। कपिल के अनुयायियों ने कपिल को लोकोत्तर स्थान पर बिठाया तो, पर वे वेद के विरोध में कुछ भी बोलने को तैयार न थे। फलत उन्होंने यह भी कहा कि कपिल का उपदेश सर्वथा वेदानुकूल है। इस तरह कपिल को वेदानुकूल बताकर उन्होंने कपिल की बुद्धि का अपमान किया। परम्परा में कपिल को आदि विद्वान् कहा जाता है, पर उनके अनुयायियों को कपिल की विद्वत्ता वेद के उच्छिष्ट भोजन से अधिक नहीं जची। कपिल को एक स्वतन्त्र विचारक न मानकर उनको वेद की बातों को दुहरानेवाला बताने पर भी वेद के कट्टर अनुयायियों द्वारा वे कपिल को वैदिक न सिद्ध करा सके। बादरायण ने अपने सूत्रों में अनेक स्थानों पर साफ-साफ कपिल के मत को वेद-विरोधी बताया। जो भी हो, इतना तो कहा जा सकता है कि सांख्य वालों ने एक बार हिम्मत कर अपौरुषेयता और ईश्वरीयता के पचड़े से अपने को निकाला, भले ही वैदिकता का ममत्व उनसे नहीं छूटा।

विचार-स्वतन्त्रता में बौद्ध और जैन वैदिकों से कुछ बढ़े हुए थे। कुछ, इसलिए कि उन्होंने वेद और ईश्वर से छुटकारा तो जरूर पा लिया, पर अपने-अपने धर्मप्रवर्तक के वचनों को उसी तरह प्रमाण माना जिस तरह वैदिकों ने वेद को। फलत उनकी मानसिक दासता पूरे तौर पर दूर न हो पायी। वे एक बधन से छूटे पर दूसरे में बधे। यहा सक्षेप से यह देखना है कि जैनों और बौद्धों का अपने शास्ता के प्रति क्या झुकाव है।

जैन लोग आरम्भ से ही अपने धर्म के प्रवर्त्तक वर्धमान महावीर को सर्वज्ञ मानते थे। 'अचाराग सूत्र' में कहा है —

"से... .जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी"

वे केवली जिन सर्वज्ञ और सव पदार्थों के द्रष्टा है। 'आवश्यक निरुक्ति' में कहा है —

"तं नत्थि ज न पासइ भूय भव्व भविस्स च"। (गाथा १२७)

भूत, भविष्यत् और वर्तमान की कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है जिसे वे नहीं जानते।

बौद्ध साहित्य से भी वर्धमान महावीर के सर्वज्ञ होने की प्रसिद्धि पर प्रकाश पडता है। 'मज्झिमनिकाय' के 'चूलदुक्खक्खन्धसुत्त' (सूत्र १४) में कहा गया है कि "निगण्ठ नायपुत्त (=जैन तीर्थकर महावीर) सर्वज्ञ" (है)। 'सन्दकसुत्त' (७६) में यही वात मजाक के साथ दुहरायी गयी है। "एक शास्ता सर्वज्ञ.......होने का दावा करते हैं . .वह सूने घर में जाते है, (जहा) भिक्षा भी नहीं पाते, कूकुर भी काट खाता है। .(सर्वज्ञ होने पर भी) ....गाव-कस्वे का नाम और रास्ता पूछते है।"

बौद्ध लोग वुद्ध को सर्वज्ञ मानते है। यद्यपि त्रिपिटक में कुछ उल्लेख ऐसे भी है जिनमें वुद्ध ने अपनी सर्वज्ञता से इन्कार किया है। 'तेविज्ज वच्छगोत्त सुत्त' (मज्झिमनिकाय सूत्र ७१) में वुद्ध ने कहा है "जो कोई मुझे ऐसा कहते हैं—श्रमण गौतम सर्वज्ञ है।'.. (वे) असत्य (–अभूत) से मेरी निन्दा करते है।" पर इतने उल्लेख भर से वुद्ध की सर्वज्ञता से इनकार नहीं किया जा सकता और किया भी कैसे जाय? सर्वज्ञता के सूचक वचन तो जा-वजा त्रिपिटक में भरे पडे है। नागसेन ने अपने 'मिलिन्दपञ्ह' में वुद्ध को सर्वज्ञ वताया है—" .वुद्ध सर्वज्ञ थे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वे हर घडी हर तरह से ससार की सभी वातो की जानकारी वनाये रखते थे। उनकी सर्वज्ञता इसी में थी कि ध्यान करके वे किसी भी वात को जान ले सकते थे।" (हिन्दी मिलिन्द प्रश्न पृ० १२९)। जिस तरह की वात नागसेन ने कही है वैसी ही वात 'कण्णत्थलकसुत्त' (मज्झिमनिकाय सूत्र ९०) में कही गयी है, "ऐसा श्रमण-ब्राह्मण नहीं जो एक ही वार सव जानेगा। यह सभव नहीं।" एक वार में न सही, पर जव जो कुछ जानना जरूरी हो, तव उसको जान लेना वुद्ध के लिए सभव है। इस तरह तीर्थकर की सर्वज्ञता और वुद्ध की सर्वज्ञता में कुछ भेद रह गया। तीर्थकर सदा सव कुछ देखते रहते हैं और वुद्ध जव जिसकी जरूरत पडती है तव देख या जान लेते है। शातरक्षित ने और 'तत्त्वसग्रह' में इस वात को दोहराया है —

"यद्यदिच्छति वोद्धु वा तत्तद्वेत्ति नियोगत।
शक्तिरेवविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ॥"

समाधि द्वारा वे जिस वात को जानना चाहते है जान लेते है। उनकी शक्ति ऐसी ही है। उनका आवरण (=अज्ञान) दूर हो चुका है।

बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हुए भी बौद्धों ने सर्वज्ञता पर जोर नहीं दिया है। सर्वज्ञता की अपेक्षा धर्मज्ञता पर ही जोर दिया गया है। धर्मकीर्ति ने 'प्रमाणवार्तिक' में कहा है कि बुद्ध को बौद्ध इसलिए प्रमाण मानते हैं कि वे उपायसहित हेय और उपादेय तत्त्वों को बतलाते हैं। इसलिए नहीं कि वे सब कुछ जानते हैं—

हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदक ।
य प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदक· ।।

भारतीय दर्शन की बौद्ध और जैन शाखा ही नहीं दूसरी शाखायें भी इस सर्वज्ञतावाद से अछूती नहीं बची है । मीमासा के दूसरे सूत्र "चोदनालक्षणऽर्थो धर्म" पर शबर ने कहा है कि वेद के विधिवाक्यों (–चोदना) में भूत, भविष्यत् सूक्ष्म, व्यवहित अर्थात् छिपे हुए और दूर पर विद्यमान सब तरह के अर्थों का ज्ञान कराने की शक्ति है —

"चोदना हि भूत भविष्यन्त सूक्ष्म व्यवहित
विप्रकृष्टमित्येव जातीयकमर्थ शक्नोत्यवगमयितुम् ।।"

सीधा अभिप्राय यह कि वेद सर्वज्ञ है। बादरायण के ब्रह्म की सर्वज्ञ-वादिता में सन्देह का अवकाश नहीं, उनके ब्रह्म को सर्वज्ञ ही नहीं और भी बहुत कुछ कहा जाता है। "सर्वधर्मोपपत्तेश्च" (ब्रह्मसूत्र २–१–३७) ब्रह्म में सभी धर्मों का सामजस्य है। शकर ने खोल कर इस सूत्र के भाव को समझाया है —

"ब्रह्मणि......सर्वे.....धर्मा उपपद्यन्ते 'सर्वज्ञ सर्वशक्ति महामाय च ब्रह्म' इति ।"

ब्रह्म सर्वज्ञ है, सर्वशक्ति स्वरूप है, उसकी माया महान् है, उसमें सब धर्मों का समन्वय हो जाता है।

कणाद ने योगियों में सब कुछ जान लेने की शक्ति मानी है। उन्होंने कहा है कि आत्मा और मन के सयोग-विशेष से (समाधि से) आत्मा का ज्ञान होता है तथा अन्य द्रव्यों का भी । सरल शब्दों में कहें तो भाव यह है कि योगी समाधि द्वारा सब कुछ जान लेते हैं —

आत्मन्यात्ममनसो सयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम् । तथा द्रव्यान्तरेषु । (वैशेषिक सूत्र ९।१।११, १२)

कणाद के मूल सूत्रों में ईश्वर का पता नहीं है। पर बाद में कणाद के अनुयायियों ने आत्मा के दो भेद किये —जीवात्मा और परमात्मा। परमात्मा या ईश्वर में उन्होंने सर्वज्ञता मानी तथा उसे वेद का कर्ता बताया । 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वैशेषिक सूत्र १–१–१) का अक्षरार्थ इतना ही जान पड़ता है कि आम्नाय या वेद इसलिए प्रमाण है कि उसमें तद्वचन (=धर्म का कथन) है। सूत्रों के क्रम को देखने से 'तत्' शब्द से धर्म का ही बोध होता है। 'अथातो धर्म व्याख्यास्याम '।।१–१–१।।'यतोऽभ्युदयनिश्रेयस सिद्धि स धर्म '।।१–१–२।।'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' ।।१–१–२।। इनमें पहले सूत्र में कहा है कि अब हम धर्म की व्याख्या करेंगे। दूसरे में कहा है अभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति जिससे

होती है वह धर्म है। तीसरे में कहा है कि तद्वचन या धर्म का कथन चूंकि वेदों में है इसलिए वे प्रमाण हैं। पर प्रशस्तपाद ने तद्वचन का भाव 'ईश्वरचोदना-भिव्यक्ते' बताया है। शंकर मिश्र ने 'उपस्कार' में स्पष्ट ही कहा है कि वेद की प्रमाणता इसलिए है कि वे ईश्वर की रचना है—

"तेनेश्वरेण प्रणयनाद् वेदस्य प्रामाण्यम् ॥"

अक्षपाद ने शब्द-प्रमाण की व्याख्या करते हुए कहा है कि शब्द-प्रमाण आप्त या पहुँचे हुए लोगो के उपदेश है जिनमें दृष्ट और अदृष्ट दोनो का वर्णन है। "आप्तोपदेश शब्द । स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्॥" (न्याय सूत्र अध्याय १ आह्निक १)। दृष्ट और अदृष्ट जो दोनों ही जानते है उनकी सर्वज्ञता में सदेह की गुजायश नहीं हो सकती। वैशेषिक सूत्रों की तरह न्याय सूत्रों में भी स्पष्टतया न तो ईश्वर को वेद का कर्ता कहा गया है और न उसकी सर्वज्ञता कहीं बतायी गयी, पर यह बात बाद में अक्षपाद के अनुयायियों ने कर ली है। (विस्तार के लिए देखिए–'न्याय मजरी', शब्द-प्रमाण प्रकरण)।

योगदर्शनकार पतजलि योगियों में सर्वज्ञता मानते है योगियों को सयम के बल से अन्तिम भूमि में जो ज्ञान प्राप्त होता है उसे तारक कहते है। वह सब विषयों तथा विषयों की सब-सब अवस्थाओं का ज्ञान है जिसके लिए किसी क्रम की जरूरत नहीं, योगी एक बार में ही करतलामलकवत् जान लेता है—

तारकं सर्वविषय सर्वथाविषयक्रम चेति विवेकज ज्ञानम्। (योगसूत्र ३–५४)

ईश्वर के बारे में कहा है कि उसमें सर्वज्ञता का बीज है और वह बीज उसमें निरतिशय या पराकाष्ठा को प्राप्त है। वह काल के बन्धन में नहीं है, वह पुराने ऋषियो का गुरु है—

तत्र निरतिशय सार्वज्ञबीजम् [स] पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात् ॥ (योगसूत्र १–२५, २६)

कपिल के मत में आप्तवचन द्वारा ही परोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। प्रत्यक्ष की जहा पहुँच नहीं है वहा अनुमान पहुँच सकता है पर जहा अनुमान की भी पहुँच नहीं वहा आप्त-वचन या ऋषिप्रणीत आगम के द्वारा ही ज्ञान होता है—

"तस्मादपि चासिद्ध परोक्षमाप्तागमात् सिद्धम् ॥" (साख्य कारिका ६)

आप्त या पहुँचे हुए पुरुषों के वचनो पर जहा इतनी आस्था है वहा उनकी सर्वज्ञता के बारे में ननु-नच करने की अपेक्षा ही नहीं। कपिल के अपने वचन आज हमारे पास नहीं है, इसलिए सर्वज्ञतावाद पर उनका निजी विचार क्या था, हम कुछ नहीं कह सकते। ईश्वरकृष्ण की साख्य-कारिकाओं से इतना पता चलता है कि वे आप्त पुरुषों की सर्वज्ञता पर भले ही विश्वास करते हो और आप्त वचन होने के कारण भले ही वेदों को प्रमाण मानते हो पर ईश्वरवाद के समर्थक न थे। पर बाद में कपिल पर ईश्वरवाद भी लादा गया तथा मीमासको का

अपौरुषेयवाद भी। ईश्वरवाद तो लवते-लवते बच गया, पर पता नहीं कि कपिल के किस दुरदृष्ट से किसी ने 'साख्य प्रवचनसूत्र' गढ कर कपिल के मुह से ही कहलवा दिया कि वेद अपौरुषेय है क्योंकि उनके रचयिता पुरुष का पता नहीं --

न पौरुषेयत्व तत्कर्तु' पुरुषस्याभावत्। (साख्य प्रवचन सूत्र २।४६)

जो भी हो, हमने ऊपर देखा है कि भारत की प्राय सभी दार्शनिक शाखाओं में सर्वज्ञतावाद ओतप्रोत है। सर्वज्ञतावाद का जामा पहनकर ही वे सभी वाद जिनका हमने आरम्भ में ही सकलन कर दिया है अपनी-अपनी बात सुनाते है। खासकर अदृष्ट जगत् को सिद्ध करने के लिए सबको सर्वज्ञतावाद की जरूरत थी। यह सर्वज्ञतावाद चाहे वेद के साथ जोडा जाय, या ब्रह्म के साथ, अथवा ईश्वर के साथ, किंवा वर्धमान महावीर, बुद्ध, कपिल, कणाद, अक्षपाद, पतजलि अथवा दूसरे ऋषि-मुनियों के साथ, सबका अभिप्राय है 'दृष्ट जगत् पर अदृष्ट के बोझ को लादना।' अदृष्ट के भार को जनता के माथे लाद उसे दृष्ट जगत् के प्रति उदासीन बनाने में भारतीय दर्शनों ने कोई कोर-कसर न उठा रखी। दार्शनिक स्वय भी दृष्ट जगत् के विषय में सचेत न थे। दृष्ट जगत् विषयक उनका अज्ञान आज उतना ही रोचक है जितना कि कोई ऐन्द्रजालिक उपन्यास। इस धरती पर रहते हुए उन्होंने धरती का जो वर्णन किया है उस पर आज शायद ही कोई विश्वास करे। पर उन्होंने जो दूसरे अदृष्ट जगत् का बखान किया है उससे आज भी लोग मोहित है। इस पराधीन वृत्ति में भी जो अभूतपूर्व बात हुई है, वह है जनता में सुभाषितों के प्रति अनुराग की भावना का जागरण। यदि यह सहज भावना न होती तो नाना धर्मपन्थ के प्रवर्तकों की कथा कोई न सुनता। धार्मिकों के द्वारा जनता का शोषण इस भावना के कारण हुआ है। पर इस शोष्य-शोषण भाव के होते हुए भी दूसरा भाव भी रहा है। जनता को सीखने का बहुत-कुछ अवसर मिला है तथा इस प्रकार की शिक्षा देने वालों को अर्थ के अतिरिक्त अभूतपूर्व सम्मान मिला है।

## §§३. बौद्ध धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश और विकास

बौद्धधर्म में मनुष्य के व्यक्तिगत विकास और मुक्ति के लिए तीन शुद्धियों पर जोर दिया गया है। पहली है "शीलविशुद्धि" जिसके लिए बुद्ध ने कायिक और वाचिक सदाचारों का प्रतिपादन किया है। कायिक सदाचारों में काममिथ्याचार से विरत रहने पर बहुत जोर दिया है। बुद्ध के समय और उससे पहले भारत में यौन-सदाचार का भाव बहुत ही शिथिल था। अध्यात्मवादी ऋषि-मुनि भी यौन सबध में कोई दोष न समझते थे। इस विषय के उदाहरण इतिहास और पुराणों में भरे पडे है। जिनमें तपस्वी ऋषियों के यौन-सबध का वर्णन है और उस यौन-सबध के कारण उन्हें पतित नहीं कहा गया। यद्यपि आज के समाज में उस प्रकार यौन-सबध करने वाले को समाज में मुह दिखाना भी कठिन हो सकता है। छान्दोग्योपनिषद् में सामोपासना को मिथुन-भाव पर घटाते हुए कहा है उपमन्त्रण १

हिंकार है, ज्ञापन २ प्रस्ताव है, स्त्री के साथ शयन उद्गीथ है, स्त्री के साथ अभिमुख शयन प्रस्ताव है, (द्वय-समापत्ति) में जो समय जाता है और उसका जो पार होना है वह निधन है। यह वामदेव्य (साम) मिथुन में ओतप्रोत है। मिथुन में ओत-प्रोत इस वामदेव्य (साम) को जो जानता है वह मिथुनीभाव से रहता है,. ..पूर्णायुष्य को प्राप्त करता है, उज्ज्वल जीवन बिताता है, प्रजा, पशु और कीर्ति से महान् होता है। उसका व्रत है कि "न काचन परिहरेत्।" शंकराचार्य के शब्दों में इसका अर्थ है "न काचन कामयमाना परित्यजेत्"। वामदेव्य साम का उपासक ब्रह्मचर्य के विषय में कितना शिथिल है यह इतने से खूब स्पष्ट है। बुद्ध के समय यौन-संबंध की किस बेहूदगी से चर्चा होती थी इसका पता हमें विनयपिटक में षड्वर्गीय भिक्षु और भिक्षुणियों के वृत्तान्त से अच्छी तरह मिल जाता है। बुद्ध के पहले के समय में तो इस प्रकार का फूहड़पन अपनी सीमा को पार कर गया था। ऋग्वेद में इन्द्र का रोमशा ब्रह्मवादिनी के साथ संवाद हुआ है। उस संवाद को हिन्दी अनुवाद के द्वारा बढ़ाना बहुत ठीक बात नहीं है। (देखिए—बृहद्देवता अध्याय ४। ऋग्वेद १।१२६।७)

इतने से हमें इस बात का पता पूरे तौर पर चल जाता है कि बुद्ध के समय और उससे पहले यौन-संबंध की किस तरह खुल्लमखुल्ला चर्चा होती थी और वामदेव्य साम के उपासक जैसे धार्मिक लोग भी थे जिनके धर्म में यौन-संबंध का महत्त्वपूर्ण स्थान था। इसके साथ बुद्ध ने जो काममिथ्याचार से विरति और ब्रह्मचर्य पर इतना जोर दिया उसका कारण भी समझ में आ जाता है। सचमुच यदि उस काल में यह पशुधर्म इतने जोरों से फैला न होता तो शायद बुद्ध को एतत्संबंधी सदाचार पर बहुत जोर न देना पड़ता। इसके अतिरिक्त उस समय मद्य और मांस का भी खूब रिवाज था। भोजन के लिए और यज्ञ के लिए पशुओं का वध होता था। धर्म में भी मदिरा का स्थान था। सौत्रामणि जैसे यज्ञों में खुल्लमखुल्ला मदिरा का उपयोग होता था। बुद्ध ने अपने अनुयायियों को प्राणिवध एवं मद्यपान से विरत रहने का उपदेश दिया। साथ ही साथ स्वार्थवश युद्ध और लड़ाई झगड़े से जो खूनखराबी होती थी उससे भी विरत रहने पर बहुत जोर दिया।

दूसरी शुद्धि जिसका बुद्ध ने प्रतिपादन किया है वह है "चित्तविशुद्धि"। इसके लिए बुद्ध ने समाधि भावना का उपदेश दिया जो बुद्धयुग के लिए नयी बात थी। बुद्ध से पहले श्रमण और ब्राह्मण समाधि भावना का अभ्यास आत्मसाक्षात्कार के लिए करते थे। आत्मसाक्षात्कार के अतिरिक्त विविध प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति के लिए भी समाधि भावना का अभ्यास किया जाता था। इन ध्यान में लीन श्रमणों के उपदेश को लोग सादर सुनते थे और उनकी पूजा करते थे। धनी राजाओं और श्रेष्ठियों की अपेक्षा इन अकिंचन तपस्वियों का बहुत मान था। धनी से लेकर गरीब तक, पंडितों से लेकर मूर्ख तक, सभी उन्हें पूजते थे। तैत्तिरीयारण्यक में वातरशन श्रमण ऋषियों का यों जिक्र है —"वातरशन ऋषि श्रमण

२. उपमन्त्रण=संकेत करना, ज्ञापन=धनादि से संतुष्ट करना।

और ऊर्ध्वरेतस् थे। कुछ दूसरे ऋषि मतलब से उनके पास आये (अर्थमायन्)। वे वातरशन ऋषि कूष्माड मत्रों में छिप रहे। दूसरे ऋषियो ने श्रद्धा और तप से उन्हें जान लिया और उनसे कहा। क्यों छिप रहे हो? वे बोले. भगवन्, तुम्हें नमस्कार हो, इस जगह किस चीज से खातिर करू। ऋषियो ने उनसे कहा, जिससे हम पाप से परे हो सकें वैसा उपदेश दें। तब उन्होंने इन सूक्तों को देखा (और उन्हें उपदेश दिया)। प्रपाठक ३, अनुवाक ७।" बुद्ध के समय तो अनेक श्रमण ब्राह्मण थे जिनका जनता पर बहुत प्रभाव था और समाधि सबधी चर्चा सब जगह खूब होती थी। कुरुदेश में एतत्सबधी चर्चा बहुत साधारण बात थी। सतिपट्ठानसुत्त की अट्ठकथा में जिक्र है कि वहा "दास और कर्मकर नौकर-चाकर भी स्मृत्युस्थान सबधी कथा ही को कहते हैं। पनघट और सूत कातने के स्थान आदि में भी व्यर्थ की बात नहीं होती। यदि कोई स्त्री अम्म! तू किस स्मृत्युस्थान की भावना करती है? पूछने पर नहीं बोलती है तो उसको धिक्कारते हैं--धिक्कार है तेरी जिंदगी को, तू जीती भी मुर्दे के समान है। फिर उसे कोई एक स्मृत्युस्थान सिखलाते हैं।" बहुत स्पष्ट है कि बुद्धयुग में समाधि भावना की चर्चा आरण्यक श्रमणों और ब्राह्मणों में ही नहीं जनसाधारण के बीच में भी खूब हुआ करती थी।

तीसरी शुद्धि जिसका बुद्ध ने प्रतिपादन किया है वह है "दृष्टि विशुद्धि"। दृष्टिविशुद्धि के लिए बुद्ध ने विश्व को पाच स्कन्धों में विभक्त करके प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा उन्हें अनित्य अर्थात् परिवर्तनशील बताया। इसी सिद्धात के सहारे बौद्ध दार्शनिकों ने क्षणिकवाद अर्थात् "यत् सत् तत् क्षणिकम्" के सिद्धात का प्रतिपादन किया। इसी सिद्धात के सहारे नागार्जुन ने सापेक्षतावाद अर्थात् "किसी पदार्थ की स्वाभाविक सत्ता है ही नहीं" के सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इसे ही शून्यवाद कहा जाता है। बाद में नागार्जुन के इस सिद्धांत से प्रभावित होकर असग और वसुबन्धु ने विज्ञानवाद का विकास किया। बाह्य जगत् को मिथ्या या असत् मानकर विज्ञान स्कन्ध के परिणाम द्वारा विश्व के विकास को बताना विज्ञानवाद है। आगे चलकर हम देखेंगे कि तांत्रिक प्रवृत्तियों के समर्थन में इन दार्शनिकवादों का बहुत बडा हाथ है।

इन तीन प्रकार की शुद्धियों को स्वीकार करते हुए महायान ने कुछ अन्य आदर्शों का प्रचार किया जिनके बारे में हीनयानी लोग तटस्थ से थे। इन्होंने बोधिसत्वो की चर्या को अपना आदर्श माना और स्पष्ट रूप से घोषणा की --

"मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा।
तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेणारसिकेन किम् ॥" (बोधिचर्यावतार)

दूसरे प्राणियों को दुख से छुडाने में जो आनन्द मिलता है वही बहुत काफी है। अपने लिए मोक्ष प्राप्त करना नीरस है, उससे हमें लेना-देना ही क्या? एव अपने लिए मोक्ष को ठुकरा कर प्राणिमात्र के मोक्ष के लिए यत्न करने का व्रत लेने की

लहर चली और इसने जनता के हृदयों को बहुत कोमल और दु ख-सहिष्णु बना दिया। भारत की आज भी साधारण मनोवृत्ति दु ख सह लेने की है, दूसरों को दु ख देने की नहीं।

वोधिसत्वो की चर्या के मर्मस्थान का शिक्षासमुच्चय में यो जिक्र है '—

"आत्मभावस्य भोगाना त्र्यध्ववृत्ते. शुभस्य च
उत्सर्ग. सर्व सत्वेभ्यस्तद्रक्षाशुद्धिवर्धनम् ।"

सम्पूर्ण प्राणियो के हित के लिए अपने आत्मभाव (मनोवचन सहित शरीर) अपनी भोग सामग्री और अपने पुण्य का उत्सर्ग कर देना चाहिए और उत्सर्ग के लिए ही उनकी रक्षा, शुद्धि और वृद्धि करनी चाहिए।

आत्मभाव की शुद्धि तो उन तीन विशुद्धियो से हो सकती है जिनका कि ऊपर जिक्र हो चुका है। पर रक्षा और वृद्धि उनमे नहीं हो सकती। शरीर-रक्षा के लिए महायान में भौतिक साधन बहुत ही विरल है। केवल भोजन और वस्त्र से शरीर रक्षा का विधान है पर भोजन हीनयानियों का भोजन नहीं है जिनमें मत्स्य और मास का सेवन बुरा नही समझा जाता। वोधिसत्वव्रतियो के भाग्य में भैषज्य (कन्द, मूल-फल अन्न आदि) ही भोजन का काम दे सकती है और भैषज्य का सेवन भी वितृष्ण होकर करना होगा नहीं तो पाप से वचा नहीं जा सकता। इसीलिए शिक्षा-समुच्चय में कहा है —

"एषा रक्षात्मभावस्य भैषज्यवसनादिभि ।
आत्मतृष्णोपभोगात्तु क्लिष्टापत्ति प्रजायते ।।"

इतने मात्र भौतिक साधन से मनुष्य जी तो जरूर सकता है पर वितृष्ण होकर शाक-पात के भरोसे आत्मभाव की वृद्धि नहीं हो सकती फिर भी भौतिक साधनो के अभाव में आध्यात्मिक साधनों से तपस्वी लोग आत्मभाव की वृद्धि करते थे और उन आध्यात्मिक साधनों में जहां एक ओर शील और समाधि भावनाओं का स्थान था वहा दूसरी ओर अनेक प्रकार के मन्त्र-तन्त्रो का भी। सो मन्त्र-तन्त्रों का वुद्ध के वचनों में समावेश हुआ और हुआ महायान सूत्रो का सहारा लेकर। वाद में सभी प्रकार की रक्षा और वृद्धि के निमित्त नाना प्रकार के मन्त्र-तन्त्र चल पड़े और उनके सहारे लोग अपने भौतिक सुख की रक्षा और वृद्धि का यत्न करने लगे।

मन्त्रों के साथ किसी न किसी देवता का सवध जुडा रहता है। वे मन्त्र चाहे वैदिक हों और चाहे तान्त्रिक हो—देवता सवध से अलग नहीं रह सकते। हां, इतना जरूर है कि वैदिक देवताओं का जहा बहुत कुछ भौतिक अस्तित्व है वहा तांत्रिक देवताओ के भौतिक अस्तित्व का हमें पता ही नहीं, हा, उनका औपासनिक महत्व है और उनकी सत्ता अध्यात्म में ढूंढी जा सकती है। वैदिक ऋषि प्रात काल देवताओं का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और मारे हर्ष के उछल पडते हैं और वोलते हैं "चित्र देवानामुदगादनीक . .सूर्य आत्मा जगतस्तस्युपश्च" (यजुर्वेद ७।४२)। आश्चर्य! देवताओं की सेना उग आई .... स्थावर और जंगम जगत् का आत्मा सूर्य उग

आया। बृहद्देवता के प्रथम अध्याय में वैदिक देवताओं के मर्मस्थल की ओर यों सकेत किया है :—

"भवद्भूत भविष्यच्च जगम स्थावर च यत् ।
अस्यैके सूर्यमेवैक प्रभव प्रलय विदु ॥
असतश्च सतश्चैव योनिरेष प्रजापति ।
कृत्वैव हि त्रिधात्मानमेषु लोकेषु तिष्ठति ।
देवान् यथायथ सर्वान् निवेश्य स्वेषु रश्मिषु ॥
अग्निरस्मिन्नथेन्द्रस्तु मध्यतो वायुरेव च ।
सूर्यो दिवीति विज्ञेयास्तिस्र एवेह देवता ॥"

अतीत, अनागत एव वर्तमान जंगम और स्थावर जगत् एकमात्र सूर्य से ही उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। सत् और असत् सभी की उत्पत्ति इसी प्रजापति से होती है। सब देवताओ को अपनी रश्मियो में सन्निविष्ट कर वह इस त्रिलोकी में अपने को तीन रूप से विभक्त कर स्थित है। यहा तीन ही देवता है । (पृथिवी लोक) में अग्नि, मध्यम लोक में इन्द्र या वायु और द्यौ लोक में सूर्य ।

तांत्रिक देवताओं का इतनी सरलता से निर्देश नहीं किया जा सकता और न उनका दर्शन ही इतना सुलभ है। निरन्तर ध्यान के द्वारा उनका साक्षात्कार होता है। सच कहें तो वे हमारी मानसिक भावनाओं के ही विकास हैं—मानसिक भावना की तीव्रता के कारण हम भले ही उन्हें मन से बाहर लाकर खड़ा कर दें और अपनी आंखों से देख लें पर मूलत वे हमारे अध्यात्म में स्थित हैं। उनका भौतिक अस्तित्व तथा रूप और आकार का वर्णन सर्वथा साकेतिक एव मन प्रसूत है।

मन्त्रों के साथ यह देवता लोग नाना नाम-रूप धर कर बौद्ध धर्म में आये और अपनी साधना या उपासना के उन तत्त्वों को भी लाये जो बौद्ध धर्म में पहले न थे। मद्य-मांस और मुद्रा (स्त्री) का साधना के उपकरण के रूप में प्रवेश हुआ तथा साधकों के लिए बुद्ध की "शील विशुद्धि" का महत्त्व ही न रह गया। भक्ष्या-भक्ष्य, पेयापेय, गम्यागम्य विचार, साधना के भीतर से चला गया।

पर यह सब हुआ क्यों? इनकी क्या जरूरत पड़ी? इसके उत्तर में इतना तो जरूर ही कहा जा सकता है कि बुद्ध से पहले यह सब प्रवृत्तियां मौजूद थीं और उन्हें बुरा नहीं समझा जाता था। बुद्ध ने शील एव सदाचार का जो मार्ग दिखाया उसे जनसमाज ने अपनाया तो पर सभी पुरानी बातों को छोड कर उसे शुद्ध रूप में अपनाना शायद लोगों के लिए कठिन था सो बाद में धीरे-धीरे दूसरी प्रवृत्तियों ने बुद्ध के धर्म-विनय में घुसना शुरू किया। भिक्षुओं के लिए जिस कठोर सदाचार का प्रतिपादन बुद्ध ने किया था उसे सहज जीवन नहीं कहा जा सकता और जब चारो ओर के वातावरण में उस कठोर तप की विघातक सामग्री मौजूद हो तब तो उसका टिकना सभव हो ही नहीं सकता और हुआ भी वही। महायान के सहारे तान्त्रिक प्रवृत्तियों ने प्रवेश कर बौद्धधर्म को वज्रयान एव सहजयान में बदला।

भिक्षु लोग भीतर से वज्रयानी, ऊपर से महायानी और लोगो में वात करने के लिए हीनयानी वने रहते थे। उनकी स्थिति वाद के हिन्दू तान्त्रिको जैसी थी जो—"अन्त शाक्ता. वहि शैवा सभामध्ये च वैष्णवा." थे।

प्राग्वुद्धकालीन इन तान्त्रिक प्रवृत्तियो को वुद्ध धर्म में अपना स्थान वनानें में कम समय नहीं लगा और न इन सवने एक साथ ही उसमें प्रवेश किया। प्रत्युत ज्यों-ज्यों समय वीतता गया वुद्ध की शिक्षामात्र से सन्तुष्ट न होने वाले उनके अनुयायी अपने चारो ओर विद्यमान दूसरी-दूसरी साधना के तत्वों को उसमें वुद्ध के नाम से शामिल करते रहे। हम ऊपर देख चुके हैं कि आटानाटिय रक्षा जैसे सूत्र ईसा से पूर्व ही वौद्धधर्म में आ चुके थे। अनेकों महायान सूक्तों का चीनी भाषा में अनुवाद ईसा की दूसरी शती में ही हो गया था सो उससे पहले कितने ही महायान ग्रथ प्रचारित हो चुके थे और सगायन या लेखन द्वारा सख्या के नियत न होने से वाद में भी उनका निर्माण होता रहा। और उनमें मन्त्रों एव धारणियों के समावेश के साथ-साथ छिपे-छिपे मुद्रा और मंडल वनाने के प्रकार, वहुत सी साधनाएँ जिनमें मैथुन का भी स्थान था शामिल होती गयीं। नागार्जुन (१५० ई०) से लेकर हर्ष (६०६—६४७ ई०) तक महायान खूव विकसित हो चुका था और महायान सूक्तों के सहारे तत्र का उसमें प्रवेश हो चुका था। हर्ष-काल में श्री पर्वत (आन्ध्रदेश) तान्त्रिको का अड्डा समझा जाता था और अनेकों साधक तान्त्रिक साधनाओं का अभ्यास गुप्त रूप से करते थे। इन साधनाओं के प्रतिपादक ग्रन्थ भी इस समय तक जरूर वन चुके थे। हर्ष के वाद ८ वीं से १२ वीं शती के वीच में सिद्धयुग में यह सव गुह्य साधनाएँ खुल्लमखुल्ला होने लगी थीं। ८ वीं शती के आरम्भ में ही होने वाले आचार्य इन्द्रभूति ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञानसिद्धि' में अनेक तान्त्रिक रहस्यपूर्ण शब्दो की व्याख्या की है। वे शब्द और वाक्य गुह्य-समाज तत्र से लिए गये हैं। सो वहुत साफ है कि ८ वीं शती से पूर्व ही गुह्य-समाज का साधना क्षेत्र में खूव प्रचार हो चुका था। यहा गुह्यसमाज की साधनाओ के उद्देश्यो का सक्षेप में वर्णन करना वहुत ठीक होगा।

साधना का लक्ष्य काय, वाक् और चित के व्यापारों में एकरूपता ले आना है। जो कुछ चित्त में है वही काय और वाणी का व्यापार हो एव जो कुछ काय और वाणी का व्यापार हो ठीक वही चित्त का भाव हो। जरा खोलकर कहें तो यों कह सकते हैं—शरीर अर्थात् शरीरस्थ इन्द्रिय और वाणी के सव विक्षेप शांत हो तथा चित्त में भी किसी प्रकार का विक्षेप न हो ऐसी शातावस्था को पाना ही साधना का उद्देश्य है। इसीलिए कहा है:

"उत्पादयन्तुभवन्त चित्तं कायाकारेण काय चित्ताकारेण चित्त वाक्प्रव्याहारेणेति ॥" पृष्ठ ११ ॥

इसी शातावस्था को प्राप्त साधक को स्थितप्रज्ञ कहा जाता है। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए अनेको कठोर साधनाओ—कायपीडन का उपयोग भी किया जाता था पर वुद्ध के धर्म में जहां दूसरे को पीडा पहुँचाना मना है वहा अपने को पीडा

देना भी अनार्य-कर्म कहा गया है। सौगत तन्त्र ने भी आत्मपीडा के मार्ग को ठीक नहीं समझा। स्पष्ट ही कहा है —

सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छत ।
अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥
दुष्करैर्नियमैस्तीव्रै सेव्यमानो न सिद्ध्यति ।
सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयश्चाशु सिद्ध्यति ॥ (गुह्य समाज पृष्ठ २७)

कामोपभोगों से विरत जीवन बिताने वाले साधकों में मानसिक क्षोभ उत्पन्न होते होंगे—कामभोगो की ओर उनकी इच्छा दौड़ती होगी और विनय के अनुसार उसे वे दबाते होंगे, पर क्या दमनमात्र से चित्तविक्षोभ सर्वथा चला जाता होगा ? दबायी हुई वृत्तिया जागृतावस्था में न सही, स्वप्नावस्था में तो अवश्य ही चित्त को मथ डालती होगी। इन प्रमथनशील वृत्तियों को दमन करने से दबते न देख अवश्य ही साधकों ने उन्हें समूल नष्ट करने के लिए जागरूक एव दान्तावस्था में थोडा अवसर दिया होगा कि वे भोग का भी रस ले लें, ताकि उनका सर्वथा शमन हो जाये और वासनारूप से वे हृदय के भीतर न रह सकें। अनगवज्र ने कहा है कि चित्त क्षुब्ध होने से कभी भी सिद्धि नहीं हो सकती, अत इस तरह बरतना चाहिए जिसमें मानसिक क्षोभ उत्पन्न ही न हों—

"तथा तथा प्रवर्तेत यथा न क्षुभ्यते मन ।
सक्षुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदा चन ॥" (प्रज्ञोपायविनिश्चय ५।४०)

जब तक चित्त में कामभोगोपलिप्सा है, तब तक चित्त में क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। भोगलिप्सा मन में उत्पन्न न हो इसके लिए एक मार्ग यह था कि भोगों से दूर रहा जाय। पर भोगों से दूर रहने पर भी अवसर पाते ही सोते-जागते मन में छिपी भोग की वासना बदला लिये बिना न मानती थी, सो बहुत पहले लोगो ने इसे समझ लिया था कि भोग से जान तभी बच सकती है जब उनको स्वीकार भी कर लिया जाय और उनके फन्दे में भी न फसा जाये। गीता में कहा है, समुद्र में नदियों के पानी की तरह बिना चाहे जिसके पास काम-भोग पहुँचते है, उसे शाति मिलती है, काम-भोगो को चाहने वाले को नहीं—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठसमुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शातिमाप्नोति न कामकामी ॥

इस तरह योगी जैसे शरीर धारण के लिए अन्न ग्रहण करता है, पर जिह्वालपट पेटू व्यक्ति की तरह उसके रस में नहीं फसता, उसी तरह मन की पशुवृत्तियों को शमन करने के लिए योगियों ने कामोपभोग को स्वीकार किया, पर लम्पट पुरुष की भाति भोग स्वीकार के पक्ष में वे नहीं थे। जो भी हो, आरम्भ में भले ही भोगो का स्वीकार बहुत साफ दिल से किया गया हो, पर बाद में भोगों के प्रलोभन से बहुत लोग इसमें घुसे होंगे और उन्हीं के कारण इस साधना के मार्ग में ऊपरी ढोग बहुत बढ गये होगे तथा साधना के बहाने लोग विलासी जीवन भी बिताने लगे होगे।

साधना के इस मार्ग में अनेक प्रकार की योग सबधी कसरतें भी करनी पडती थीं और उनमें जरा भी गडबड होने से साधक को विविध व्याधियों का सामना भी करना पडता था। इसलिए साधक के लिए यह बहुत जरूरी था कि वह किसी गुरु की शरण ले जो उसे साधना के बीच मदद पहुँचाये। फलत. इस साधना में गुरु का बडा आदर है। यह पूछने पर कि आपका गुरु कौन है? बुद्ध ने उत्तर दिया था कि मैंने सबका पराभव किया है, मैं सर्वविद् हूँ, सब धर्मों से मैं निलिप्त हूँ, मैंने सबका त्याग किया है, मेरी तृष्णा का क्षय हो चुका है, मैं मुक्त हूँ, मैंने स्वय जाना है—मैं किसे अपना गुरु बताऊ—

"सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि
सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बजहो तण्हक्खये विमुत्तो
सय अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्य ॥"

पर गुह्य साधना में बिना गुरु के न कोई साधक हो सकता है और न सिद्धि ही। जो सिद्ध हो चुका है उसके भी गुरु हैं और जो साधक है वह तो सर्वथा गुरु के आश्रय में है ही। इसलिए गुह्य साधना के अनुसार बुद्ध जो सचमुच सिद्ध है और बोधिसत्त्व जो साधकावस्था में है, गुरु की सदा पूजा करते है। गुह्य साधना के इस गुरु—वज्राचार्य के दार्शनिक रूप को आगे चलकर देखेंगे। इस वज्राचार्य के प्रति बुद्ध और बोधिसत्त्व जैसे बरतते थे उसका जिक्र यों है—

"मैत्रेय बोधिसत्त्व ने सब तथागतो को नमस्कार करके पूछा कि तथागत और बोधिसत्त्व वज्राचार्य के प्रति कैसे देखें (व्यवहार करें)? तथागतों ने कहा .सक्षेप में कहते है, लोक धातुओ में जितने बुद्ध और बोधिसत्त्व है, वे तीनो समय आकर उस आचार्य की पूजा कर के अपने-अपने लोक को लौट जाते है और कहते हैं, आप सब तथागतो के पिता और माता है।" (पृष्ठ १३७—१३८)। अतएव बहुत स्पष्ट है कि बुद्ध और बोधिसत्त्वों के बीच इस साधना में आचार्य का स्थान प्रमुख है।

तथागतों का इस साधना के भीतर शक्ति या भार्या के सहित वर्णन है। तथागत ही नहीं, तथागत की भार्याएँ भी वज्राचार्य की पूजा करती है। तथागत और उनकी भार्याओ के दार्शनिक रूप को हम आगे चल कर देखेंगे। वज्राचार्य के बहुत कुछ मूर्त रूप वज्रपाणि तथागत है। वज्र के सकेत के रहस्य को हम अनुपद ही देखेंगे। वज्रपाणि तथागत से तथागत की शक्तिया अपनी कामना के लिए प्रार्थना करती हैं और वे समाधिस्थ होकर उनकी कामना करते है। यहा तथागत की शक्तियो की प्रार्थना को उद्धृत करना उपयुक्त होगा—

त्व वज्रचित्त भुवनेश्वर सत्त्वधातो
त्रायाहि मा रतिमनोज्ञ महार्थकामैं।
कामाहि मा जनक सत्त्वमहाग्र बन्धो
यदीच्छते जीवित मञ्जुनाथ ॥.. . इत्यादि (पृष्ठ १४५)।

इस प्रार्थना को सुन कर "वज्रपाणिस्तथागत .. सर्व तथागतदयितां समयचक्रेण

कामयन् तूष्णीमभूत्" इस कामना के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहा है कि उस समय जितने प्राणी थे वे त्रिवज्ज्ञानी सम्यक् सम्बुद्ध हो गये· "सत्वा सर्वे ते तथागता· अर्हन्त सम्यक्सम्बुद्धास्त्रिवज्ज्ञानिनो ऽभूवन् ।"

इस गुह्य-साधना में काय-वाक्-चित्त की ही साधना है, तथागत और तथागत की शक्तियों का ही प्रमुख स्थान है। इसलिए यहां उनके स्वरूप पर विचार कर लेना ठीक होगा। बौद्ध-दर्शन में विश्व के सम्पूर्ण पदार्थों का विभाजन पचस्कंधों में किया गया है। साधना के भीतर इन्हीं पाच स्कन्धों को पंच तथा गत माना गया है। "पचस्कन्धा समासेन पच बुद्धा प्रकीर्तिता·" (पृष्ठ १३७)। रूपस्कन्ध को वैरोचन, वेदनास्कन्ध को रत्नसभव, सज्ञास्कन्ध को अमिताभ, सस्कारस्कन्व को अमोघसिद्धि और विज्ञानस्कन्ध को अक्षोभ्य कहते हैं। इस गुह्य-साधना का दर्शन शून्यवाद है और शून्यवाद के हिसाब से पांचों स्कन्धों की सत्ता निरपेक्ष है ही नहीं। निरपेक्ष-सत्ता के अभाव को ही माध्यमिक शून्यता कहते हैं। यह शून्यता ही सब धर्मों का स्वभाव है—

"गुडे मधुरताचाग्नेरुष्णत्व प्रकृतिर्यथा ।
शून्यता सर्वधर्माणां तथा प्रकृतिरिष्यते ।।" (अद्वयवज्र सग्रह पृष्ठ ४२)।

इसी शून्यता के मूर्तरूप वज्रसत्त्व है ; वज्रधर, वज्रपाणि तथागत भी इस शून्यता के ही मूर्तरूप है । साधना के आचार्य भी इसी शून्यता के ही प्रतीक हैं। वज्रशब्द शून्यता का ही सकेत है ।

इन पाच तथागतों के पाच 'कुल' हैं। रूपस्कन्ध का मोहकुल है, वेदनास्कन्ध का ईर्ष्याकुल है, संज्ञास्कन्ध का रागकुल है, सस्कारस्कन्धका वज्र या चिन्तामणिकुल है, और विज्ञानस्कन्ध का द्वेष या समयकुल है । इसी तरह पाच शक्तियां भी हैं—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति वज्ररति और द्वेषरति। इन कुलों और शक्तियों का नामकरण बहुत कुछ स्कन्धो के स्वभाव के अनुसार हुआ है। रूपस्कन्ध जिसमें भूत(पृथिवी आदि) शामिल है, बन्धन या आवरण के स्वभाव वाला है। मोह भी बाधता है—ज्ञान को आवृत करता है, सो रूपस्कन्ध के साथ मोहकुल को जोड़ा है। यही बात दूसरे कुलों के साथ है। शक्तियों का नामकरण भी पाच स्कन्धों के स्वभाव के अनुसार ही किया गया है । पर शक्तियां केवल पांच स्कन्धों के स्वभावों की ही प्रतीक नहीं हैं, वे पृथिवी, वायु, तेज, और जल धातुओं की भी प्रतीक हैं । मोहरति पृथिवी की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम लोचना है। ईर्ष्यारति वायु की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम तारा है। रागरति तेज की प्रतीक है। इसका दूसरा नाम पाण्डरवासिनी है। द्वेषरति जल की प्रतीक है, इसका दूसरा नाम मामकी है। इन तथागतों और शक्तियों का विविध चिन्हों और रंगरूप के साथ वर्णन है। उन सबको यहा नहीं छेड़ा जा सकता पर इन वर्णनों का महत्त्व बहुत है, भारतीय मूर्तिकला और चित्रकला को इन सब चिह्नों और सकेतों के जाने बिना समझा नहीं जा सकता । यहा इनका एक कोष्ठक दे देना ठीक होगा .

| पच स्कन्ध | पच तथागत या ध्यानी बुद्ध | रग | चिन्ह | वर्ण | पंच कुल | पचतथागत भार्या या शक्तियां | शक्तियों के दूसरे नाम | प्रतीक भूत शक्तियों के तत्व | रंग | चिह्न |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| रूप | वैरोचन | शुक्ल | शुक्लचक्र | कवर्ग | मोह | मोहरति | लोचना | पृथिवी | शुक्ल | चक्र |
| वेदना | रत्नसभव | पीत | रत्न | टवर्ग | ईर्ष्या | ईर्ष्यारति | तारा | वायु | श्याम | नीलोत्पल |
| सज्ञा | अमिताभ | रक्त | पद्म | तवर्ग | राग | रागरति | पाण्डरवासिनी | तेज | रक्त | पद्म |
| सस्कार | अमोघसिद्धि | श्याम | वज्र | पवर्ग | वज्र (चिंतामणि) | वज्ररति |  |  |  |  |
| विज्ञान | अक्षोभ्य | कृष्ण | कृष्णवज्र | चवर्ग | द्वेष (समय) | द्वेषरति | मामकी | जल | कृष्ण | कृष्णवज्र |
| शून्यता | वज्रसत्व | शुक्ल | वज्रघंटा | अन्तस्थ |  |  | प्रज्ञापारमिता |  |  |  |

इन पाच स्कन्धों से ही सौगत सिद्धांत के अनुसार हमारे अध्यात्म का विकास हुआ है। अध्यात्म से अभिप्राय है, काय, वाक् और चित्त। एव काय, वाक् और चित्त की साधना में इन स्कन्धों का प्रमुख स्थान होना स्वाभाविक है। स्कन्ध जैसा कि ऊपर जिक्र किया जा चुका है, माध्यमिकों के अनुसार नि स्वभाव है, उनकी स्वाभाविक सत्ता नहीं है, अत. वे शून्य है। शून्यता का उपयोग जितना दार्शनिक क्षेत्र में है, उससे कहीं अधिक उपयोग साधना के क्षेत्र में है। साधक जिस शान्तावस्था को प्राप्त करना चाहता है उसके लिए यह बहुत जरूरी है कि वह तृष्णा से मुक्त हो और शून्यता तृष्णा से पीछा छुडाने में मदद करती है—जो चीज टिकाऊ है ही नहीं उसके साथ हमारी तृष्णा टिकाऊ हो ही नहीं सकती। पर शून्यता से यह समझना कि वह कोरी अभावात्मक दृष्टि है, कदापि ठीक न होगा। आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि जो लोग नित्यवादी है उनको तो शून्यता के द्वारा उस वाद से निकाला जा सकता है, पर जो शून्यतावादी हैं उनका इलाज ही नहीं हो सकता—

"शून्यता सर्वदृष्टीना प्रोक्ता नि सरण जिनै ।
येषा तु शून्यता दृष्टिस्तान् असध्यान् बभाषिरे ॥" (माध्यमिक कारिका)

इस शून्यवादी दर्शन ने तत्ववाद के क्षेत्र में जहां नित्य या स्थिर समझे जाने वाले तत्वों को असत् सिद्ध कर दिया, वहा तन्त्र में प्रविष्ट होकर आचार की भीत को भी गिराना शुरू कर दिया। आचार के जो सभी नियम समाज में थे, उन्हें मनगढन्त करार देकर निकम्मा सिद्ध कर दिया गया। आचार के नियमों को मनगढन्त सिद्ध करना तो सचमुच ही ठीक था, पर निकम्मा सिद्ध करना अच्छी बात न थी। पर जब तक उन्हें निकम्मा न बताया जाता तब तक गुह्य-साधनो में प्रवृत्त होना किसी के लिए सम्भव भी न था। लोकाचार के नियमों को आध्यात्मिक उन्नति के लिए निकम्मा समझने के ख्याल ने ही चौरासी सिद्धों के युग में साधकों को भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय और गम्यागम्य के झझट से छुडा दिया।

बौद्धो के पचस्कन्ध आदि पदार्थ जिस तरह ध्यानी बुद्ध आदि के रूप में बदल गये, वैसे ही अन्य देवतागणों को भी जो अबौद्ध धर्मों में जगह बनाये हुए थे, बौद्ध धर्म में घुस आने पर बहुत-कुछ बौद्ध रूप ग्रहण करना पडा और तदनुसार अपने रूप में थोडा हेर-फेर भी करना पडा। यहा हिन्दुओं के प्रमुख देवता ब्रह्मा विष्णु और महेश का जिक्र करना ठीक रहेगा। ऊपर हम त्रिवज्र का जिक्र कर चुके है। वज्र का धर्म शून्यता या नि स्वभावता है। काय की नि स्वभावता का नाम ब्रह्मा, वाणी की नि स्वभावता का नाम महेश्वर और चित्त की नि स्वभावता का नाम विष्णु है —

"कायवज्रो भवेत् ब्रह्मा वाग्वज्रस्तु महेश्वर ।
चितवज्रधरो राजा सैव विष्णुर्महर्द्धिक ॥" (पृष्ठ १२९)

इन देवगणों ने बाहर से बौद्ध धर्म में प्रवेश कर भले ही ऊपर से बौद्ध रूप ग्रहण कर लिया हो, पर उनकी जो साधनाए बौद्ध धर्म में प्रविष्ट हुई, उनके मूलतत्त्व

ज्यों के त्यों बने रह गये । शिवोपासना जो इन्द्रिय द्वय के प्रतीक रूप में होती है और जिस उपासना में आज अश्लीलता की गन्ध भी नहीं मालूम होती, उसकी साधना के रहस्य का वर्णन करते हुए कहा गया है —

> त्रैधातुकस्थितां सर्वांगना सुरतविह्वलाम् ।
> कामयेत् विविधैर्भावै समय परमाद्भुत ।। (पृष्ठ १२९)

बहुत स्पष्ट रूप से इसमें मैथुन की उपादेयता का प्रतिपादन है । वाग्वज्र के रूप में महेश्वर बौद्ध धर्म में आते और उनकी साधना का उपकरण पचम मकार न आता, यह सभव ही कैसे था ?

इस तरह बौद्ध धर्म में मन्त्र, मद्य, मास, और मैथुन का साधना या योगाभ्यास में सहायता देने के लिए प्रवेश हुआ। मुख्यतया सिद्धियो की लिप्सा ने इस प्रकार के तत्वों को बौद्ध धर्म में घुस आने दिया । जनसाधारण का दिव्य शक्तियो पर विश्वास था ही, और इस प्रकार साधनाओं से दिव्य शक्ति मिलती है। यह धर्माचार्यों ने उन्हें समझा ही दिया था, फलत ये प्रवृत्तिया जो पहले छिपे-छिपे काम करती थीं, बाद में खुल्लमखुल्ला काम करने लगीं। यद्यपि बुद्ध ने अपने धर्म में सिद्धि के चमत्कारों को विशेष स्थान नहीं दिया है और न उन चमत्कारों के कारण मुक्त होने की बात ही कहीं है, फिर भी त्रिपिटक में चमत्कारों और सिद्धियों का वर्णन खूब है और उनके कारण धर्माचार्यो के सत्कार और पूजा होने की बात का भी उल्लेख है । अत सिद्धि के लिए लोगो का यत्नशील होना उस काल में स्वाभाविक था और चाहे जिस उपाय से हो, सिद्धि प्राप्त करना धर्माचार्यों का ध्येय था । सौगततत्र में दो प्रकार की सिद्धियों का प्रतिपादन है। अन्तर्धान इत्यादि सिद्धियां साधारण मानी जाती हैं और बुद्धत्व की प्राप्ति मुख्य सिद्धि। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए महायान ने जिस बोधिचर्या का उपदेश दिया वह बडी दुष्कर थी। अनेक जन्मो तक प्राणिहित के लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने के बाद बुद्धत्व की प्राप्ति होने की अपेक्षा यदि थोडे यत्न से बुद्धत्व प्राप्ति हो सके तो उस ओर लोगों का झुकना स्वाभाविक था। तन्त्र ने यह रास्ता खोल दिया और घोषणा की कि साधारण सिद्धिया ही नहीं, बुद्धत्व प्राप्ति भी इसी जन्म में हो सकती है "गगा नदी की बालुका के समान अनन्त कल्पो तक परिश्रम करते हुए बोधिसत्व जिस बोधि को नहीं पाते, उसे गुह्य-साधना में रत बोधिसत्व इसी जन्म में पाकर बुद्ध हो जाता है।" (पृष्ठ १४४) सामान्य सिद्धियो और बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए नाना प्रकार के उपायों से मन्त्रशास्त्र भरा पडा है। उन उपायो और साधनाओ के वर्णन के लिए एक विशाल वाङ्मय का सृजन हुआ है। यद्यपि वह आज सस्कृत में उपलब्ध नहीं, पर अपने तिब्बती अनुवादों में सुरक्षित है । तिब्बती साधकों और तिब्बती में अनूदित मन्त्रशास्त्र के अनुवादों से भारतीय योग की हठयोग, त्राटक, स्वरोदय, भूतावेश आदि की प्रक्रियाओं और उनके इतिहास को जाना जा सकता है।

बौद्ध धर्म में बाहर से आयी हुई इन साधनाओं में उन्हें ही सिद्धि प्राप्त हो सकती थी जो सब प्रकार के आचार-विचार से वियुक्त हों। चडाल, डोम आदि

जो समाज के निचले स्तर में गिने जाते थे, उन लोगो का इस साधना में केवल स्थान ही नहीं, प्रत्युत प्रशस्त स्थान समझा जाता था। सिद्धो में अनेक हीन वर्णों में से ही थे। शौचाशौच सबधी सभी नियमों को छोडे बिना किसी की इन साधनाओं में गुजाइश न थी। इससे हम और कोई निष्कर्ष न भी निकालें तो इतना जरूर कह सकते है कि बौद्ध धर्म की इस तांत्रिक लहर ने समाज के सभी स्तरों को बहुत प्रभावित किया था। छोटे से बडे सभी इन सिद्धो का आदर करते थे। हीन समझी जाने वाली जातियों में से अनेक सिद्धों ने उस समय बडी प्रतिष्ठा पायी होगी। उनके उपदेशों से जनता के निचले स्तर में बहुत चेतना आ गयी होगी और वे इस बात का अनुभव करने लगे होंगे कि केवल श्रोत्रिय लोगो को ही नहीं, उन्हें भी धर्म में अधिकार है।

## §§४. ब्राह्मणप्रमुख धर्म में बौद्ध धर्म की प्रतिक्रिया के चिन्ह

एक ओर बुद्धप्रमुख श्रमणों की परम्परा में जहां एक व्यापक सार्वजनीन धर्म-दर्शन की विचारधारा का विकास हो रहा था, वहां दूसरी ओर ब्राह्मण परपरा में अनेक प्रतिक्रिया के चिन्ह भी दिखायी देते थे। यह प्रतिक्रिया तुलसीदास के समय तक पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी पर पूर्व युग में इससे लगी निष्ठुरता इस युग में कम हो गयी थी। वस्तुत श्रमण-ब्राह्मण अथवा सत-ब्राह्मण परम्परा में कुछ मौलिक भेद है। दोनों एक दूसरे की शत्रु भी नही है पर दोनों में पूर्ण मैत्री भी नहीं है।

इन श्रमण-ब्राह्मण विचारधाराओं की परम्परा यद्यपि गयु-बुद्ध से भी पूर्व में खोजी जा सकती है; पर बुद्ध-युग में वे धाराए इतनी प्रत्यक्ष है कि हम उनकी ओर से आखें नहीं मूदे रह सकते। ब्राह्मण और श्रमण विचारधाराओ में परस्पर क्या भेद है? ब्राह्मण विचारधारा को यदि दूसरे शब्दों में कहें तो वह प्रधानतया प्रवृत्ति-मार्ग की विचारधारा है। इस प्रवृत्तिमार्ग का स्वरूप श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित धर्म है, जिसके नेता ब्राह्मण ही है और हो सकते है। ब्राह्मण होना अपने वस की बात नहीं है। सुनते है *विश्वामित्र अपने बलबूते* पर ब्राह्मण हो गये थे। किन्तु यह भी सुना है कि कोई-कोई रगड करते-करते खतम भी हो गये, पर ब्राह्मणत्व नसीब नहीं हुआ। महाभारत के अनुशासन पर्व में, २०–२१ वें अध्यायों में एक चांडाल की कथा इस बात पर पूरा प्रकाश डालती है। किसी ब्राह्मण के पुत्र का नाम मतग था। पिता ने उसे यज्ञकार्य के लिए सामग्री लाने को बाहर भेजा। वह गधजुते रथ पर बैठकर जा रहा था। उसने तेज चलने के लिए गधे के नथुने पर प्रहार किया जिससे घाव हो गया। उसे देख रास्ते में चरती हुई उस गधे की माता ने कहा—'पुत्र! शोक न करो, चाडाल तेरे रथ पर बैठा हुआ है।' गधे की माता की बात सुन मतग ने उससे पूछा तो उसने कहा कि तू ब्राह्मण का पुत्र नहीं है। शूद्र से ब्राह्मणी में तेरी उत्पत्ति हुई है। यह सुन कर मतग लौट आया और उसने पिता से सब बात कही। फिर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लिए वन में तप करने चला गया। उसके तप से प्रसन्न हो, इन्द्र ने

उसे दर्शन दे, वर मागने को कहा। उसने ब्राह्मणत्व मागा। इन्द्र ने कहा कि ब्राह्मणत्व इस शरीर से नहीं मिल सकता। उसने पहले से भी उग्र तप करना शुरू किया। इन्द्र फिर आये और यह कहकर चले गये कि इस शरीर से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसने अब और भी उग्र तप करना शुरू किया और "दुर्वह योग का अभ्यास करते कृश, (मास के अभाव में) धमनि सतत (= नसों से व्याप्त) हड्डी-चमड़े मात्र शरीरवाला वह धर्मात्मा (भूमि पर) गिरने लगा।[1] पर इन्द्र ने उसे जमीन पर गिरने नहीं दिया और बीच ही में उठा लिया तथा फिर वही बात कही कि इस शरीर से ब्राह्मणत्व प्राप्ति नहीं होगी। इस पर मतग ने कहा—"मुझ दुःख पीड़ित को क्यों और दुःख दे रहे हो, मुझ मरे को क्यों मार रहे हो। मुझे तो तुम्हारा सोच है कि ब्राह्मणता पाकर भी तुम ब्राह्मण नहीं होना चाह रहे हो। हे इन्द्र! अपने आपमें रमा, राग द्वेषादि द्वन्द्वो से रहित परिग्रहहीन, मै अहिंसा और इन्द्रिय-सयम करके भी कैसे ब्राह्मणता के योग्य नहीं हूँ?"[2] इन्द्र ने इतने पर भी ब्राह्मणता का वरदान नहीं दिया। हा, यह वर दिया कि तुम्हारा यश होगा और स्त्रिया तुम्हें पूजेगीं (स्त्रिणा पूज्यो भविष्यसि)। उपसहार में इतना और कह दिया है कि मरने पर उसे ब्रह्मलोक मिला (सप्राप्त स्थानमुत्तम)। इस प्रकार ब्राह्मणों के प्रवृत्ति मार्ग में नेतृत्व करने वाला ब्राह्मण जन्ममूलक ब्राह्मण है। वह इस जन्म में शील-गुण द्वारा, वैराग्य-सयम द्वारा, अहिंसा-मैत्री द्वारा, क्षमा-सहिष्णुता द्वारा नहीं बन सकता। ऐसा जन्मसिद्ध ब्राह्मण ही मानस कवि के अनुसार पूज्य है, चाहे उसमें शीलगुण हों या न हो; शीलगुण होने पर भी दूसरा पूजा के योग्य नहीं है—

पूजिय विप्र शील गुन हीना। शूद्र न गुनगन ज्ञान प्रवीना॥

श्रमणों या सतों की विचारधारा वस्तुत प्रधानतया निवृत्तिमार्ग की विचार-धारा है। उसका नेतृत्व वे सभी लोग कर सकते है, जो शीलगुण के धनी हो, विद्याचरण सम्पन्न हों, उनका जन्म भले ही किसी कुल में क्यों न हो। ऐसे व्यक्ति के लिए बुद्ध ने कहा है कि वह देवताओं और मनुष्यो में श्रेष्ठ होता है। हिन्दू स्मृतियों में हीनवर्ण के लोगो के लिए शीलगुण अर्जन की सुविधा नहीं है। मनु ने कहा है—"शूद्र को बुद्धि नहीं देनी चाहिए, न यज्ञ का उच्छिष्ट ही देना चाहिए। उसे धर्म का उपदेश भी नहीं देना चाहिए और न उसे व्रत का विधान ही बताना चाहिए।"[3] अत्रि ने कहा है—"जप, तप, तीर्थ-यात्रा प्रव्रज्या और मत्रसाधन इन छह बातो से स्त्री और शूद्र पतित हो जाते है।"[4] मनु और भी कहते है—'ब्रह्मा ने शूद्र के लिए एक कर्तव्य बताया है और वह यह कि वह इन द्विजवर्णों

---

१ सुदुर्वह वहन्योग कृशो धमनिसतत। त्वगस्थिभूतो धर्मात्मा स पपातेति न श्रुतम्।

२ कि मा तुदसि दुःखार्त मृत मारयसे च मा। त्वा तु शोचामि यो लब्ध्वा ब्राह्मण्य न बुभूषसे॥
एकारामो ह्यह शक्र निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रह। अहिंसादममास्थाय कथं नार्हामि विप्रता॥

३ न शूद्राय मति दद्यान्नोच्छिष्ट न हविष्कृत। न चास्योपदिशेद्धर्म न चास्य व्रतमादिशेत्॥

४ जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मत्रसाधनम्। देवताराधन चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट्॥

की असूया छोड कर सेवा करे।"५ हीन वर्णों पर इन सव धर्मशास्त्र की कडाइयो के होते हुए भी श्रमणों ने—सतों ने सदा धर्म में समानाधिकार के पक्ष की देशना की। धर्म-समता का प्रचार करने वाले इन सतो को समय-समय पर राज-तन्त्र की अनुकूलता और प्रतिकूलता के कारण मान-अपमान, सत्कार और अत्याचार सभी कुछ नसीब हुआ। अशोकावदान में इन आप बीती घटनाओं की एक झलक है। अशोक सभी भिक्षुओं की वन्दना करता था। यह वात उसके अमात्य यश को अच्छी न लगी। वह बोला—'महाराज! इन शाक्य श्रमणो में सव जाति के लोग हैं, इनके सामने आपका सिर नमाना उचित नहीं।' इसका उत्तर अशोक ने नहीं दिया और कुछ समय बाद वकरे-भेंड आदि मेध्य प्राणियों के सिर मगाकर अमात्यों से उन्हें वेंच लाने को कहा। यश अमात्य को मृत मनुष्य का सिर देकर वेंचने भेजा। बकरे आदि प्राणियों के सिरों की कुछ कीमत मिली। लेकिन मनुष्य के सिर का कोई खरीददार न मिला। तब अशोक ने उसे किसी को मुफ्त में दे देने की आज्ञा दी। किन्तु उसे मुफ्त लेने वाला भी कोई न मिला। तब अशोक ने उससे पूछा—'इसे लोग मुफ्त क्यों नहीं लेते?' यश—(क्योंकि इस सिर से लोग घृणा करते हैं।' अशोक—'इसी सिर से लोग घृणा करते है या सब मनुष्यों के सिर से घृणा करेंगे?' यश—'महाराज, किसी के भी काटकर लाये सिर से लोग घृणा करेंगे।' अशोक—'क्या मेरे सिर से भी?' इस प्रश्न का उत्तर देने में यश वहुत हिचकिचाया, पर अशोक के अभयदान देने पर उसने कहा—'महाराज के सिर से भी लोग घृणा करेंगे।' अशोक ने इस पर कहा कि यदि मेरा ऐसा सिर भिक्षुओं के आगे झुका तो आपको बुरा क्यों लगा। वहीं अशोकाववान में जोर देकर कहा गया है कि—'लडकी के लेने-वेने के समय यदि कोई जाति का विचार करे तो करे, पर धर्म करने के समय जाति का विचार नहीं किया जा सकता। धर्मक्रिया में गुण ही कारण होते हैं—जाति नहीं, गुण जाति विचार कर किसी के पास नहीं जाते।"६ इस प्रकार अशोक जैसे राजा से मान पाकर बाद में पुष्यमित्र जैसे राजाओं से उन्हें अपमान और अत्याचार भी कम नहीं सहने पडे। वहीं अशोकावदान में कहा है—"पुष्यमित्र भिक्षुओं को मारता और सघारामों को जलाता चला। वह स्यालकोट पहुँचा। और घोषणा की कि जो मुझे एक श्रमण का सिर देगा उसे मैं सौ दीनार दूगा।"७ राजमान या राजकोप में श्रमणों का मूल्य नहीं कूता जा सकता। उनके मूल्य को जनता पर पडे उनके प्रभाव से आका जा सकता है। जनता का वह वर्ग जो शूद्र या अतिशूद्र है, जिसे श्रुति, स्मृति और पुराण प्रतिपादित धर्म में अपमान के अतिरिक्त और कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, उसमें कोमलता, दया और

५. एकमेव हि शूद्रस्य प्रभु कर्म समादिशत्। एतेषामेव वर्णाना शुश्रूषामनसूयया॥

६ आवाहकालेऽथ विवाह काले जाते परीक्षा न तु धर्म काले।
धर्मक्रियाया हि गुणा निमित्ता गुणाश्च जाति न विचारयन्ति॥

७. पुष्यमित्रो यावत् सघारामान् भिक्षूश्च घातयन् प्रस्थित। स यावच्छाकलमनुप्राप्त।
तेनाभिहित यो मे श्रमणसिरो दास्यति तस्याह दीनारशत दास्यामि॥

मैत्री आदि सद्‌गुणो का जो विकास हुआ है, वह श्रमणों या सतो की कृपा से ही हुआ है। लोगो में निर्वैरभावना, क्षमा, एव सहिष्णुता का विकास करना ही श्रमणता का मुख्य ध्येय है। तथागत ने स्वय कहा है—"(दूसरे से सताये जाने पर यदि तुम टूटे कासे के समान चुप रहो तो तुमने निर्वाण पा लिया। तुम्हारे लिए सारभ (हिंसा या कलह) नहीं रहा।"८

इस प्रकार की श्रमणता का उपदेश देने वाले बुद्ध प्रमुख सत निर्मुक्त थे, उन पर न तो वेदों का भार था और न ब्राह्‌मणों की गुलामी। मानस के कवि का विचार सतों की इस निर्मुक्त धारा से प्रभावित हुआ है और इसलिए सतों के प्रति उसका हृदय बड़ा उदार है। पर उसका उपास्य सत उन सतो की परम्परा का सत नहीं है, जिसमें बुद्ध, उनके अनुयायी अनेक आचार्य एव सिद्धगण तथा कबीर आदि हुए हैं। मानस का सत स्वतन्त्र चेता, श्रमी, यती एव तपस्वी नहीं है; उसके सिर पर वेद और ब्राह्‌मणो की पराधीनता का अपार भार है, जिससे उसे सास लेना मुश्किल हो रहा है। अब हम इस बात का मानस की सहायता से प्रतिपादन करेंगे।

मानस के आरम्भ में ही सत-वन्दना है। वह वन्दनीय सत सकल गुणो से युक्त है, स्वय दु ख सहकर दूसरे के दु खो को दूर करने वाला है, वह मगलमय है, उसकी सगति से बुद्धि बढ़ती है, कीर्ति प्राप्त होती है, सद्‌गति का भरोसा हो जाता है, ऐश्वर्य भी मिलता है, मनुष्य कल्याण का भागी होता है, दुर्जन सज्जन बन जाते हैं। इस महनीय चरित्र वाले सत की गुणावली का वर्णन करने में ब्रह्‌मा, विष्णु, शिव, कवि और विद्वानों की वाणी पार नहीं पाती। फलत ऐसा कौन है जो ऐसे सत की वन्दना न करे। मानस का कवि इन्हें बड़ी भक्ति के साथ स्मरण करता है, पर यह सब वन्दना अग्र वन्दना नहीं है। अग्र वन्दना का स्थान तो ब्राह्‌मण के लिए सुरक्षित है और मानस का कवि बड़े उल्लास के साथ कह उठता है—

बन्दौं प्रथम महीसुर चरना।

सत बेचारे की वन्दना की भी गयी, पर उसके चरणों को बरा दिया गया। कहना ही होगा कि मानस-कर्ता ने सत की सारी महिमा को ब्राह्‌मणो के चरणो के नीचे लुठित कर दिया है।९

---

८ स चे नेरेसि अत्तान कसो उपहतो यथा। एस पत्तोऽसि निब्बान सारभो ते न विज्जति।
(धम्मपद)

९ बन्दौं प्रथम महीसुर चरना। मोह जनित ससय सब हरना॥
सुजन समाज सकल गुनखानी। करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी॥
मुद मगल मय सन्त समाजू। जो जग जगम तीरथराजू॥
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहा जेहि पाई॥
सो जानब सतसग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ॥
सतसगति मुद मगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला॥
सठ सुधरहिं सतसगति पाई। पारस परसि कुधातु सोहाई॥
बिधि हरि हर कवि कोबिद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी॥
सो मोसन कहि जात न कैसे। साक बनिक मनि गुन गन जैसे॥

मानस में संतो के गुणगान का दूसरा प्रसंग अरण्य कांड में आता है। नारद मुनि राम को सीताहरण के अनन्तर पंपा के पास प्रियाविरह में रोते और प्रलाप करते देखते हैं। नारद राम के पास जाते हैं। यहां पर हुए राम-नारद-संवाद में नारद का अंतिम प्रश्न संतों के विषय में होता है।

संतों के लक्षण पूछने पर राम उनसे ब्योरेवार कहते हैं--संत काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर--इन छह विकारो से रहित होता है। वह पुण्यात्मा, वीतराग, स्थिरचेता, अपरिग्रही, मन-वचन-कर्म में पवित्र, अपार ज्ञानी, इच्छारहित, मिताहारी, सत्यनिष्ठ और न जाने क्या-क्या होता है। पर इन सब गुणों के होते हुए विप्र में उसका प्रेम होना आवश्यक है। संत का प्रेम तो सबसे होता ही है, फिर विप्र उस प्रेम के भागी न हो सो तो हो नहीं सकता। इसलिए मानस के कवि के ख्याल से संत की विप्र में ही नहीं प्रत्युत् विप्र के चरणों में प्रीति होनी चाहिए। फलत. संत का सारा ऐश्वर्य "बिप्र पद प्रेमा" से वशीभूत असमर्थ ऐश्वर्य है।१०

संतों के उत्कर्ष का तीसरा प्रसंग उत्तर कांड में आता है। राम अपने भाइयों और हनुमान के साथ उपवन देखने गये। उसी समय उचित अवसर जान सनकादि ऋषि राम के दर्शन के लिए पहुँचे। राम ने मुनियों को दण्डवत् प्रणाम किया और अपना निजी पीताम्बर उनके बैठने के लिए बिछाया। फिर हनुमान तथा अन्य राम के भाइयों ने मुनियों को दण्डवत् प्रणाम किया। राम के साथ चर्चा कर मुनिगण ब्रह्मलोक चले गये। संतों के आदर-सत्कार से भरत बहुत प्रभावित हुए और राम से संतों के लक्षण वर्णन करने की प्रार्थना की। राम ने बताया कि जो लोग अपकारी के प्रति भी उपकार करने वाले, विषयरहित, शीलवान्, गुणवान्, परसुख में सुखी, पर दुःख में दुःखी, समता रखने वाले, निर्वैरी, मदरहित, वीतराग, लोभ, क्रोध, हर्ष और भय से हीन, कारुणिक, दीनदयालु, निष्कपट, भक्तिवान्, मानरहित, सबके सम्मान-

---

१० सुनु मुनि सन्तन्ह के गुन कहऊँ। जिन्ह तें मैं उन्हके बस रहऊँ॥
षट बिकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोबिद जोगी॥
सावधान मानद मदहीना। धीर धरम गति परम प्रबीना॥
गुनागार संसार दुख, रहित बिगत संदेह॥
तजि मम चरन सरोज प्रिय, तिन्ह कहुँ देह न गेह॥
निज गुन स्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जप तप ब्रत दम संजम नेमा। गुरु गोबिन्द बिप्र पद प्रेमा॥
स्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥
बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना। बोध जथारथ बेद पुराना॥
दंभ मान मद करहिं न काऊ। भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला। हेतु रहित पर हित रत सीला॥
मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते॥

कर्ता है वे सन्त हैं। पर इतने गुणों का होना पर्याप्त नहीं है। इन सब गुणो में शायद बड़ी कमी रह गयी है, इसलिए मानस का कवि उनमें द्विज-पद-प्रीति आवश्यक समझता है। सबके प्रति कारुणिक, सबके प्रति समान भाव रखने वाला सत क्या द्विजो से द्वेष कर सकता है? कभी भी नहीं। फिर भी मानस के कवि के ख्याल से द्विजों में ही नहीं, प्रत्युत द्विजों के चरणों में प्रीति जब तक न हो तब तक वह सत ही कैसा ?११

यहा दो बातें ध्यान में रखने की है। पहली यह कि सतो का एक दल एक दीर्घ काल से यहां ब्राह्मणो की जन्मजात श्रेष्ठता का विरोध करता रहा है। इन श्रमणों के अनुसार ब्राह्मणत्व की सिद्धि जन्म से नहीं होती प्रत्युत् ब्राह्मणता निष्पाप होने का नाम है (वाहित पापोति ब्राह्मणो)। जो शात, दान्त, सयत, ब्रह्मचारी और अहिंसक है, वही श्रमण है, वही ब्राह्मण है और वही भिक्षु है। ब्राह्मणता के इस स्वरूप का मान बुद्धप्रमुख श्रमणों ने पूर्वकाल में किया और परवर्ती सत इसको दुहराते रहे। पर मानस के कवि को यह सह्य नहीं है कि गुणो के कारण कोई ऐसा ऊँचा बन जाये कि जन्मजात ब्राह्मणो पर अपनी गुणजात श्रमणता या ब्राह्मणता का सिक्का जमाये। मानस का कवि ऐसा कहने को पाप-युग का प्रभाव बतलाता है जिसके फलस्वरूप शूद्र लोग ब्रह्मज्ञानी को असली ब्राह्मण मानते हैं और स्वय श्रम एवं तप द्वारा उस ब्राह्मणता तक पहुँच कर जन्मजात ब्राह्मणों से कह बैठते है कि हम तुमसे हीन नहीं है—

वादहिं सूद्र द्विजन्ह सन हम तुम्ह तें कछु घाटि।
जानइ ब्रहम सो विप्रवर आंखि देखावहिं डाटि॥

नीची जातियो की बढ़ावढ़ी मानस के कवि को पसन्द नहीं है, क्योंकि वे श्रुति-स्मृति-पुराण प्रतिपादित हिन्दू धर्म के समर्थक है, जिनमें इन लोगो का दबकर रहना ही धर्म माना गया है।

दूसरी बात यह कि श्रुति-स्मति-पुराणो से चिपटे रहने के कारण उनके प्रवर्तकों का स्थान ऊँचा मानना ही पड़ता है। इनके प्रवर्त्तक ब्राह्मण ही रहे है। ब्राह्मण लोग श्रमण-परम्परा से बहुत दूर के लोग है। भले ही सुदूरवर्ती पूर्व काल

---

११ सन्तन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥
विषय अलपट सील गुनागर। पर दुख दुख सुख सुख देखें पर॥
सम अभूतरिपु विमद विरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन्ह पर दाया। मन वच क्रम मम भगति अमाया॥
सर्वहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥
विगत काम मम नाम परायन। साति विरति विनती मुदितायन॥
सीतलता सरलता मइत्री। द्विज पद प्रीति धरम जनयित्री॥
ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात सन्त सन्तत फुर॥
सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष वचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥
निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कज।
ते सज्जन मम प्रान प्रिय। गुनमदिर सुख पुज॥

में होने के कारण तथा ऋषि मुनि आदि के रूप में प्रसिद्ध होने के कारण उन्हें श्रमण-कल्प समझ लिया गया हो। यही लोग ब्राह्मणों के पुरखा और गोत्र प्रवर्तक रहे हैं। पूर्व युग में इनका अपार प्रभाव रहा है। ये और इनके वशज यह कभी नहीं चाहते कि उनका प्रभुत्व कम हो। 'मानस' का कवि इसी विचारधारा का समर्थक है। सतो का उत्कर्ष उनके गुणों के कारण होता है तो हो पर उसे ब्राह्मणों और ब्राह्मण-शास्त्रो, श्रुति, स्मृति, पुराणों की छत्रछाया में रहकर होना चाहिए। जो इनके साम्राज्य को तोडना चाहें तो उन्हें हाय कलियुगी! चिल्लाने के अतिरिक्त और किया ही क्या जा सकता है --

नहिं मान पुरान न बेदहिं जो। हरि सेवक सन्त सही कलि सो॥

हम कबीर आदि सतों को देखते हैं कि वे जिस राम की उपासना करते है, वे न तो क्षत्रसहारी परशुराम है और न असुरारि राजाराम और न वे "सालिगराम" (=शालग्राम, विष्णु) ही हैं। प्रत्युत वह आत्माराम हैं।१२ पौराणिक परम्परा के राम-कृष्ण को वे सदेह की दृष्टि से देखते हैं और कहते है--बोलो भाई! किसको भगवान् मानें--कृष्ण को, हनुमान् को या शेष को? कृष्ण ने गोवर्धन उठाया, हनुमान् ने द्रोणाचल उठाया, पर शेष ने समूची धरती ही उठा ली है। फिर बडा भगवान् शेष हुआ या कृष्ण? राम ने समुद्र में सेतु बाधा, तब लका गये पर अगस्त्य मुनि उसका आचमन ही कर गये। अब दोनो में कर्ता कौन? सब लोग राम को जपते हैं क्योंकि वह सुखधाम है, पर स्वय राम ने वसिष्ठ को गुरु करके किसके नाम की दीक्षा ली।१३ श्रमण-परम्परा के हिसाब से अध्यात्मभाव से बाहर--अपनी काया से परे स्थित कोई तत्त्व उपास्य नहीं है। 'योग वासिष्ठ' में राम का कथन है कि "वह बुद्ध ही सुखी है जो परोपकार करने वाली, परदु ख से दु खित होने वाली और अपनी आत्मशाति से शीतल हुई वाणी से युक्त है। न मैं राम हूँ न मेरी कोई इच्छा है, न मेरी दुनिया के पदार्थों में कोई रुचि है। मैं शात होकर बैठना चाहता हूँ, जैसे जिन (=बुद्ध) आत्मनिष्ठ हो बैठते है।१४

इस आत्माराम में रमण करने वालों और पौराणिक आख्यानों में प्रतिपादित राम को न मानने वालों के प्रति मानस-कवि के विचार बहुत अनुदार हैं। बालकांड के शिव-पार्वती-सवाद में पार्वती प्रश्न करती है कि परमार्थवादी जिस राम की उपासना करते हैं वे राम दशरथसुत है या और कोई? यदि राजपुत्र है तो ब्रह्म कैसे? और

---

१२. प्रथमैं सालिगराम है दूजे फरसा राम। तीजे राजाराम है चौथे आतमराम॥
राम चारि हैं जगत में तीन राम व्यवहार। एक राम तत्त्व सार है ताको करो विचार॥

१३. गोवरधन धारे किसन दौनागिरि हनुमन्त। सेस सृष्टि सिर पर धरी इनमें को भगवन्त॥
सिंधु पाटि लका गये सीता के भरतार। मुनि अगस्त्य तेहि अचइगे दो में को करतार॥
तीन लोक रामहिं जपै जानि मुक्ति को धाम। राम बसिष्ठहिं गुरु कियो सुन्यो कौन सो नाम

१४. परोपकारकारिण्या परार्तिपरितप्तया। बुद्ध एव सुखी मन्ये स्वात्मशीतलया गिरा।
नाह रामो न मे वाछा भावेषु न च मे मन। शांत आसितुमिच्छामि स्वात्मनीव जिनो यथा

यदि ब्रह्म हैं तो स्त्री के विरह में उनकी बुद्धि बावली कैसे हुई? कृपया यह बात समझाइये। शिवजी ने समझाया तो कुछ नहीं। हाँ, इस प्रकार के लोगों को खरीखोटी जरूर सुनायी कि ऐसा कहने वाले 'अधम नर' हैं, 'पाखंडी' हैं, 'पिशाचग्रस्त' हैं, 'लंपट', 'कपटी' हैं, 'विषयी' हैं, और न जाने क्या-क्या हैं।[१५] संत के ऊपर वेदों और पुराणों का बोझ लादने का फल यह हुआ कि शिव को भी खरीखोटी सुनाकर अकुशल-कर्मत्व का भागी होना पड़ा।

मानस में वेदों और पुराणों को मूर्धन्य स्थान देने के कारण उसके संत को ब्राह्मणों, ब्राह्मणशास्त्रों और ब्राह्मण देवताओं की पराधीनता स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यद्यपि 'मानस' का कवि ब्राह्मण-शास्त्रों की दुहाई देते हुए भी उनको बन्धन का कारण मानता है और देवताओं को स्वार्थी एवं कुटिल समझता है क्योंकि ये दोनों ही प्रवृत्ति-मार्ग के प्राण हैं। और 'मानस' के कवि का झुकाव निवृत्ति-मार्ग की ओर अधिक है। वह स्वयं कहता है —

जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥
श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई॥
छोरत ग्रंथि जानि खगराया। बिघ्न अनेक करइ तब माया॥
रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
जौं तेहि बिघ्न बुद्धि नहिं बाधी। तौ बहोरि सुर करहिं उपाधी॥
इन्द्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥
आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥
जब सो प्रभंजन उर गृह जाई। तबहिं दीप बिग्यान बुझाई॥
इंद्रिन्ह सुरन्ह न ग्यान सोहाई। बिषय भोग पर प्रीति सदाई॥

ब्राह्मण-शास्त्रों और देवताओं के प्रति यह दृष्टि रख कर पौराणिक आख्यानों में वर्णित राम को उपास्य मानने के कारण ब्राह्मण-शास्त्रों और उनके प्रवर्तक ब्राह्मणों की प्रभुता स्वीकार किये बिना 'मानस' के कवि का काम नहीं चला। और इसी कारण 'मानस'-प्रतिपादित संत महान् होते हुए भी ब्राह्मणों की प्रभुता और ब्राह्मण-शास्त्रों की विभुता से बद्ध एक अत्यन्त असमर्थ प्राणी बनकर रह गया।

---

१५. प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥
राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥

जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरहँ मति भोरि।
देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥

उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई॥
एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी॥
तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥

कहहिं सुनहिं अस अधम नर, ग्रसे जे मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख, जानहिं झूठ न साँच॥

अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥
लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहुँ संत सभा नहिं देखी॥
कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्ह कें सूझ लाभु नहिं हानी॥

## §§ ५. भारत के दार्शनिक विकास की पड़ताल

भारतीय दर्शनों में तीन वाद बहुत प्रसिद्ध है परिणामवाद सबसे पुराना है। आरम्भवाद और विवर्तवाद क्रमश परिणामवाद के बाद विकसित हुए हैं। कपिल ने ही परिणामवाद की सबसे पहले स्थापना की। प्रकृति के महान् अहकार, पांच तन्मात्राएँ और ग्यारह इन्द्रिया,* पाच महाभूत क्रमिक परिणाम है। कपिल, प्रकृति के परिणाम को मानने से परिणामवादी अवश्य कहे जा सकते है पर उनका पुरुष अपरिणामी है। पुरुष को प्रकृति से सर्वथा अछूता प्रतिपादन करने में ही उन्होंने परिश्रम किया है। एव वे प्रधानत नित्यवादी या शाश्वतवादी ही है। प्रकृति का परिणाम स्वीकृत करने में वे प्रकृति को मूल तत्त्व मानकर चले है। दूध के परिणाम दही में जैसे दूध से अभिन्नता रहती है, वैसे ही प्रकृति के विकार प्रकृति से अभिन्न रहते है। अभिप्राय यह है कि कार्यमात्र कारण से अभिन्न रहता है। एव कार्य-कारण में अभिन्न होने के कारण कारणावस्था में सत् ही होता है। सो कपिल के परिणामवाद का पर्यवसान एकसत्, नित्य या शाश्वत पदार्थ के मानने में ही होता है। योग भी साख्य के सब तत्त्वों को मानकर चलता है। ईश्वर उसमें अधिक माना गया है। जो पुरुष या आत्मा का बड़ा भाई है। साख्य आत्मवादी होते हुए भी अनीश्वरवादी था पर योग के साथ दोनों ही लगे है। जैनियो को ईश्वरवाद से परहेज जरूर है पर आत्मवाद (=जीववाद) उनके भी गले का हार है। इस प्रकार सांख्य, योग और जैन तीनों ही एक नित्य या शाश्वत के चक्र में पड़े है, उनका परिणामवाद या परिवर्तनवाद उस नित्य-शाश्वत आत्मा के लोक-परलोक सबव और मोक्ष प्रक्रिया में सहायता के लिए ही है। लोकायत, नित्य या शाश्वत के फेर में नहीं है पर उसकी निगाह बहुत मोटी है। वह परलोक से दूर भागता है और लोक में भी इतना अधिक भूतवादी है कि मन से बढ़कर उसे आख पर ही विश्वास है। मनन से उसे परहेज है और दार्शनिकता उसके लिए हवा में महल खड़े करने से अधिक कोई और बात नहीं है। परिणाम या परिवर्तनशीलता हो तो हुआ करे, उसे खाने-पीने और मौज उड़ाने से फुरसत ही कहा जो उस पर मनन करे! पर इस मोटी निगाह-वाले में नित्य-शाश्वत के फदे से निकल भागने की समझ तो है ही जो कपिल, पतजलि और महावीर में नहीं पायी जाती जो बहुत ज्यादा ज्ञानवान् समझे जाते है।

बुद्ध ने आत्मवादियों का रग-ढग ठीक-ठीक पहचाना, लोकायत की मोटी निगाह को भी लक्ष्य में रखा। परिणामवाद को सकारणता और परिवर्तन के रूप में उन्होने उपस्थित किया। यह एक नयी दृष्टि थी। कार्य-कारण से न तो अनन्य है और न अन्य ही। जैसे अकुर न तो बीज ही है और न बीज से भिन्न ही। कार्य को कारण से अन्य मानने पर कारण का उच्छेद मानना पड़ता है तथा अनन्य • या अभिन्न मानने पर कारण का शाश्वतवाद उपस्थित हो जाता है। बुद्ध कार्य को कारण से अन्य नहीं मानते सो लोकायत के उच्छेदवाद से बच जाते है। अनन्य भी नहीं

*ग्यारह इन्द्रिया अहकार की परिणति है। पच महाभूत पच तन्मात्राओं के परिणाम है। यह १६ प्रकृति के चरम परिणाम है जिनका फिर परिणाम नहीं होता।

मानते अत आत्मवादियों के शाश्वतवाद का भी झमेला नहीं रहता। कार्य और कारण के 'न तत् नान्यत्' अथवा 'अशाश्वत और अनुच्छेद' वाद जिस सकारणता और परिवर्तन के नियम पर विकसित हुए है वह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहलाता है। बौद्धों के पिछले सभी दार्शनिकवाद इसी प्रक्रिया के आधार पर है।

कौटिल्य से पूर्व सांख्य, योग और लोकायत दर्शन व्यवस्थित हो चुके थे। वैसे ही नागार्जुन ( १५० ई० ) से पूर्व हीनयानी सौत्रान्तिक और वैभाषिक दर्शन विकसित और व्यवस्थित हो चुके थे। वैभाषिक दर्शन कनिष्क (७८ ई०) के समय में सम्पन्न विभाषा टीका के सहारे विकसित हुआ है। सौत्रातिक दर्शन टीका के सहारे नहीं बल्कि सूत्रान्त (=सूत्र=बुद्ध-उपदेश+अन्त=सिद्धात) या मूल बुद्धवचनों के आधार पर विकसित हुआ। दोनो सर्वास्तिवादी है। जो कुछ सत् या वर्तमान है उसे तीन कालो में स्वीकार करते हैं। जैसे कपिल ने पहले पहल गिनकर (=सख्या कर) पचीस तत्त्व गिनाये। ऐसे ही बाद में औरों ने भी अपनी मान्यताओं को गिनकर सख्या कर बताया। यद्यपि सख्या करने के कारण कपिल के दर्शन को जो सांख्य नाम मिला वह सख्या करने पर भी पिछलो को न मिला, पर सख्या तो लोग करते ही रहे। सांख्य ने जैसे पुरुष और प्रकृति के दो विभागो में पचीस तत्वो की व्याख्या की वैसे ही सौगततन्त्र में पांच स्कन्धों में बाह्य और आभ्यन्तर तत्त्वो को समझाया है। बाह्य जगत् को रूपस्कन्ध कहते है जिसमें पांच इन्द्रिय, पांच अर्थ, एक अविज्ञप्ति* और चार महाभूत (=पृथ्वी, अप, तेज, वायु) हैं। आभ्यन्तर जगत् चार स्कन्धो में विभक्त है। मन (=इन्द्रिय), धर्म (=मन के विषय) और मनोविज्ञान तथा पाचों इन्द्रिय विज्ञान यह सब विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्गत है। सुख, दुःख या तदभाव रूप जो अनुभव होता है, उसे वेदनास्कन्ध कहते है। रूप और विज्ञान का सबध होने से जो इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होता है तथा मन का धर्म से सबध होने पर जो मनोविज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्ध में अन्तर्भूत है पर इन छह विज्ञानों के विषयों की मन में जो विशेष रूप से जानकारी (=सज्ञा=सम्यक् ज्ञा=जानकारी) होती है वह सज्ञास्कन्ध है। जैसे आख से जो वर्ण और सस्थान का सामान्यतया ज्ञान होता है वह विज्ञानस्कन्ध के अन्तर्गत है पर बाद में 'यह नीला' है, 'यह पीला है' 'यह ह्रस्व है', 'यह दीर्घ है', 'यह पुरुष है', 'यह स्त्री है', इत्यादि जो विशेष रूप से या सम्यक् रूप से ज्ञान होता है वह सज्ञास्कन्ध है। इन चारों स्कन्धो के अतिरिक्त मन पर जो विषय ज्ञान की वासना अपनी छाप छोड जाती है वह सस्कार स्कध है। ये पांचो स्कन्ध सस्कृत है—अनित्य है—परिवर्तनशील हैं। इन पाचो स्कन्धों के अतिरिक्त और कोई सत् पदार्थ नहीं है। ये सब सत् है पर परिवर्तनशील होने से क्षणिक है। पांचो स्कन्ध

---

* अभिधर्मकोश १।११ में अविज्ञप्ति का लक्षण यों है —

"विक्षिप्ताचित्तकस्यापि यो ऽनुबन्ध. शुभाशुभ ।
महाभूतान्युपादाय साह्यविज्ञप्तिरुच्यते ॥"

यह अविज्ञप्ति ब्राह्मण दार्शनिको के 'अदृष्ट' से तुलनीय है।

है पर प्रतीत्य समुत्पन्न होने से —सकारणता और परिवर्तन के नियम में प्रतिवद्ध होने से नित्य नहीं है। यह बात सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों को मजूर है। पर वाह्य सत्ता के स्वीकार करने में दोनों की प्रक्रिया में कुछ अन्तर है। वैभाषिक वाह्य-वस्तु का प्रत्यक्ष मानते है। आख से नीले कपडे या घडे का जो ज्ञान होता है उस ज्ञान में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं। 'नील' (घट या पट) प्रमेय है। 'आख' साधन है। क्योंकि उसी से नील-ज्ञान होता है। 'नील-ज्ञान' प्रमा है। जिस विषय से ज्ञान उत्पन्न होता है वह विषय के सदृश ही होता है। जैसे नील (घट या पट) से उत्पन्न ज्ञान नील सदृश या नीलाकारक ही होता है। आख से जो नील (घट या पट) का ज्ञान होता है वह नील (घट या पट) के सवेदन का व्यवस्थापक नहीं होता प्रत्युत नील-ज्ञान में जो नीलाकारता या नील सारूप्य का अनुभव होता है वह नील (घट या पट) के सवेदन का व्यवस्थापक है। इस प्रकार नीलज्ञान 'प्रमा' में जो 'नीलाकारता या नील सारूप्य' है, वह 'प्रमाण' है जिससे नील (घट या पट) 'प्रमेय' का सवेदन होता है। एव सौत्रान्तिको के न्याय से 'नील-सारूप्य' से नील (घट या पट) का अनुमान होता है। सो सौत्रान्तिक वाह्यर्थानुमेयवादी है जब कि वैभाषिक वाह्यार्थप्रत्यक्षवादी है। इतने अन्तर को छोड़ कर दोनो सर्वास्तिवादी है। इनकी सर्वास्तिता प्रतीत्य-समुत्पाद से प्रतिबद्ध होने के कारण अनित्य है—क्षणिक है।

सर्वास्तिवादी दर्शन जब देशव्यापी हो रहा था उसी समय नागार्जुन (१५०ई०) उत्पन्न हुए। दक्षिण कोसल में ब्राह्मण कुल में इनका जन्म हुआ। यह केवल दार्शनिक ही नहीं प्रत्युत रसायन-शास्त्री और योगी भी थे। एक पहुँचे हुए सिद्ध के रूप में इनकी प्रसिद्धि केवल यौगिक क्रियाओं के कारण न थी बल्कि रासायनिक सिद्धियों के कारण भी थी। सोया हुआ महायान इनके समय में ही इनके कारण जागा और पीछे अपनी महिमा में सभी बौद्ध सम्प्रदायों को आत्मसात् कर लिया। दार्शनिक जगत् में इन्होंने एक क्रांति उपस्थित की थी। प्रतीत्य समुत्पाद मानने के कारण सर्वास्तिवादी सत्ता को क्षणिक मानते थे और उसे ही परमार्थ सत् समझते थे। नागार्जुन ने प्रतीत्य समुत्पाद की व्याख्या करते हुए बताया कि प्रतीत्य समुत्पाद अशाश्वत-अनुच्छेदवाद उपस्थित करता है (माध्यमिक कारिका १८।१०)। परिणाम के पीछे — परिवर्तन की ओट में —नित्यता देखना या अनित्यता देखना दोनो ही किनारे की बातें हैं, एकान्तवाद है। क्योंकि नित्यता देखने का अर्थ है शाश्वतवाद मानना और अनित्यता देखने का अर्थ है उच्छेदवाद मानना। सो प्रतीत्यसमुत्पाद का अभिप्राय नित्य–एकान्तवाद या अनित्य-एकान्तवाद मानने में नहीं है प्रत्युत नित्यानित्य–विनिर्मुक्त शुद्ध शून्यवाद मानने में है। शून्यवाद ही मध्यमा प्रतिपदा है*। हमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह स्वप्न जैसा ही है। जैसे जाग पडने पर स्वप्न नहीं रहता वैसे ससार भी मोह निद्रा टूटने पर नहीं रह जाता। इन्द्रजाल की माया दिखलाने वाला जानकार जैसे उस माया को कुछ भी (=सत् या असत्) नहीं समझता वैसे ही तत्व ससार को कुछ भी नहीं समझता। वह माया और मायामय पदार्थों को देखता है और जानता है

* माध्यमिकारिका १५–१०, २४।१८

कि ये सचमुच कुछ नहीं है।† सत् या असत्, नित्य या अनित्य दृष्टि का होना ही परमार्थ सत्य है। सर्वास्तिवादियों की सत्ता की जो अनित्यता दृष्टि है वह षड्न्द्रियो से प्रत्यक्ष होने से संवृत्ति सत्य या व्यवहार सत्य है। तैर्थिकों की नित्यता दृष्टि न तो संवृति सत्य ही है और न परमार्थ सत्य ही।

सत्ता को नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियों से न देखने का अर्थ सत्ता या भाव को परमार्थ दृष्टि से अस्वीकार कर देना है। इस मान्यता से सर्वास्तिवादी दार्शनिक जो सत्ता की अनित्य दृष्टि को परमार्थ सत् समझते थे एक झटका लगा। तैर्थिक सत्ता को नित्य दृष्टि से देखते थे, परिणाम या परिवर्तन के कारण अनुभूत होती हुई अनित्यता की ओर चश्मपोशी करने के अभ्यासी थे। अब उनसे न रहा गया। उपनिषदों से ब्राह्मणों में जो तत्त्व-चिन्तन की धारा बह रही थी उसमें नागार्जुन के शून्यवाद ने बाँध का काम दिया जिससे वह थोडा मुड़कर बहने लगी। उसके घुमाव-फिराव के कुछ यत्न पहले भी हो चुके थे। लोकायत तो हमेशा ही फूहड़ शब्दों में श्रुति की खबर लिया करते थे। जैन भी श्रुति से परहेज रखना कल्याणकर समझते थे यद्यपि श्रोत्रियों की नित्य दृष्टि के कायल थे। सांख्य, योग जो वेद के विरोधी न होते हुए भी श्रोत्रियों के मार्ग को "अविशुद्धिक्षयातिशययुक्त" समझते थे, भले ही नित्य दृष्टि मानते थे। श्रोत्रियो के सामने दो बातें थीं—एक तो श्रुति-प्रामाण्य स्थापित करना। दूसरे, अपने दार्शनिक चिन्तन को इस रूप में उपस्थित करना जिसमें वह नित्य दृष्टि की रक्षा हो। नागार्जुन के बाद के दार्शनिकों को इसीलिए दो बातो में व्यग्र देखा जाता है एक तो अनित्य और अभाव (क्षणिक और शून्य) वादों का खण्डन करना और जैसे भी हो श्रुति-प्रामाण्य का मण्डन करना।

कणाद ने कार्य के कारण का होना आवश्यक माना और बताया कि कारण के गुण कार्य के गुणो के आरम्भक होते हैं।* कारण-कार्य के कणाद-सिद्धात में कार्य के गुण भले ही कारण से आते हो पर कार्य कारण से अभिन्न नहीं माना जाता था। कपलि जहा कार्य को अपनी कारणावस्था में सत् मानते थे वहा कणाद कार्य को अपनी उत्पत्ति से पूर्व असत् (=प्रागभाव) मानते हैं। अभिप्राय यह है कि कणाद कार्य-कारण के अभेद से अपनी नित्य-दृष्टि नहीं सिद्ध करना चाहते। इस विषय में उनकी अपनी प्रक्रिया है जो पहले के दार्शनिको के पास न थी। उन्होने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय छ पदार्थों में सत्ता का वर्गीकरण किया। इनमें से 'सामान्य' को कणाद ने नित्य-दृष्टि के सिद्ध करने का साधन बनाया। सामान्य क्या है? व्यक्तियो के परस्पर भिन्न होते हुए भी उनमें जो एक अभेद देखा जाता है वह सामान्य है। राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त सब है भिन्न-भिन्न, पर उन्हें एक 'मनुष्य' शब्द से भी कहा जाता है। सो यह 'मनुष्यत्व' जिसके कारण भिन्न-भिन्न राम, कृष्ण, देवदत्त, यज्ञदत्त व्यक्तियो को मनुष्य कहा जाता है, 'सामान्य' है। यह नित्य है,

† महायानविंशक १७, १८

* "कारणाभावात् कार्याभाव" "नतु कार्याभावात् कारणाभाव." (वैशेषिक-सूत्र १।२।१, २) कारणगुणपूर्वक कार्यगुणो दृष्ट (वैशेषिक सूत्र २।१।२४)

क्योंकि देवदत्तादि के न रहने से भी नष्ट नहीं होता, व्यापक भी है क्योंकि व्यक्ति उससे व्यतिरिक्त नहीं होता। इसी प्रकार द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में 'इदं सत्' (=यह है) की प्रतीति होती है। इस सत् की प्रतीति से 'सता' की सिद्धि होती है।† यह 'सता' जो सामान्य के बल पर सिद्ध हुई नये ढग से नित्यवाद की स्थापना करती है।

वादरायण ने अपने से पहले की दार्शनिक प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन करते हुए श्रुतियों (=उपनिषदों) की दार्शनिक पद्धति को एक व्यवस्थित रूप में उपस्थित किया। अपनी दार्शनिक प्रक्रिया को परिणाम के सहारे स्थापित किया। इनके परिणामवाद में पहले के परिणामवाद से कुछ मौलिक भेद है। क्योंकि पुराने परिणामवाद में सत्ता का परिणाम तो माना जाता था पर कपिल जीव (=पुरुष) को, पतजलि जीव और ईश्वर को, कणाद जीव और ईश्वर के अलावा मन, काल, दिशा, आकाश आदि को परिणाम से अछूना ही रखते थे। वादरायण ने सत्ता और चेतना का अलग-अलग विभाग नहीं किया और बताया कि "ब्रह्म" सत् भी है और चित् भी है। सत्ता और चेतना अविनाभूत है। इसी ब्रह्म के परिणाम से नाना रूप सृष्टि देखी जाती है। सम्पूर्ण अर्थ जगत् को अपने कारण ब्रह्म से अनन्य है।

बौद्ध दार्शनिक पाचों स्कन्धों का परिणाम (=प्रतीत्यसमुत्पन्नत्व) मानते थे। और उन्हें सत् और क्षणिक समझते थे। विज्ञान स्कन्ध, जिसके समकक्ष अन्य दार्शनिकों का आत्मा था प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से परिणाम में अछूना नहीं था, इधर वादरायण ने भी ब्रह्म, जो सत् चित् दोनो है, का परिणाम मान लिया तो बौद्ध दार्शनिकों के प्रतीत्यसमुत्पाद और वादरायण के परिणामवाद में एक प्रकार की सरूपता आ गयी फिर भी भेद बना रहा। वह भेद दो प्रकार का था। प्रथम तो बौद्ध दार्शनिको ने सत्ता और चेतना (=विज्ञान) को एक नहीं माना जब कि ब्रह्म परिणामवाद में सत्ता और चेतना दो वस्तुए नहीं हैं। दूसरा भेद था अनित्य-दृष्टि जब कि ब्रह्मवाद नित्यदृष्टि का व्यवस्थापक है। अब इस ब्रह्मवाद की विरोधी दो बातें थीं—एक तो बौद्धों की नित्य-विरोधी दृष्टि, दूसरी चेतन-सत्ता (आत्मा) को परिणाम से अस्पृष्ट रखने की दृष्टि। वादरायण ने दोनों के निराकरण का यत्न किया।

वादरायण के सामने सर्वास्तिवादियों और माध्यमिकों दोनों की नित्य-विरोधी दृष्टिया थीं। उन दृष्टियों को सामने रखते हुए उन्होंने यह प्रमाणित करने पर बल लगाया कि विना किसी नित्य या स्थिर वस्तु के परिणाम सम्भव नहीं है। कारण और कार्य का पूर्वापरभाव होता है। कारण पहले और कार्य पीछे होता है। कार्य की उत्पत्ति के क्षण में कारण का निरोध हो जाता है। सो कार्योत्पत्ति से पूर्वक्षण में जब कारण निरुद्ध ही हो गया तो कार्य के प्रति उसका हेतुभाव नहीं रहा। यदि यह मान लो कि कार्योत्पत्ति के क्षण तक कारण

† 'सदिति यतो द्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता' (वैशेषिकसूत्र १।२।७)

रहता है तो एक तो कारण और कार्य का पूर्वापर भाव नहीं रहता दूसरे यह दावा कि सब कुछ क्षणिक है खारिज हो जाता है ।* यह तो हुई सर्वास्तिवादियो की बात । बचे माध्यमिक, पर उनकी बात बडी पेचीदा थी। नित्य और अनित्य दोनों दृष्टियो से उनका सबध न था । उनके लिए सत्ता की नित्यता और अनित्यता से झगडना सपने में देखी गयी लक्ष्मी के लिए बेकार लड़ना था। बादरायण ने उनके प्रति कहा कि सब तरह सोचने पर भी आपकी बात कैसे उपपन्न होती है सो तो मेरी समझ में नहीं आया पर आख से आपकी बात में विरोध है। सत्ता की उपलब्धि तो हो ही रही है फिर नित्यानित्य दृष्टि से सत्ता को न देखने का अर्थ सत्ता को न मानना ही है जो समझ से बाहर की बात है ।†

बादरायण परिणामवाद मानते थे पर परिणामवाद उनकी समझ में ठीक-ठीक न आया था । ठीक-ठीक परिणामवाद को सबसे पहले नागार्जुन ने ही समझा था। परिणाम का नित्य दृष्टि से कोई मेल नहीं है क्योकि नित्यता का अर्थ ही कूटस्यता या परिणाम का न होना है। बाद में शकर को यह बात समझ में आयी । उन्होने देखा कि परिणामवाद मानने से नित्यता की सिद्धि करना अस-भव है अत उन्होंने परिणामवाद को विवर्तवाद में परिणत किया । परिणति को मिथ्या मानना विवर्तवाद है। जब परिणाम ही मिथ्या हो गया तो 'नित्यता' को किसी से डर न रहा । सत्ता की अनित्य-दृष्टि के साथ भी परिणामवाद की सगति नहीं बैठती क्योंकि 'अनित्य' का अर्थ है सत्ता का विनाश या उच्छेद मानना । जब सत्ता उच्छिन्न ही हो गयी तो परिणाम अब हो तो किसका और कैसे ? एव परिणाम न तो शाश्वतवाद से और न उच्छेदवाद से ही सम्बन्ध रखता है प्रत्युत् वह अशाश्वत-अनुच्छेदवाद है, नित्यानित्य विनिर्मुक्त शून्यवाद है।

कपिल प्रकृति का परिणाम मानते थे। प्रकृति चेतन न थी ? बौद्ध सर्वा-स्तिवादी दार्शनिक परमाणुओ का परिणाम मानते थे, ये परमाणु भी चेतन न थे । कणाद ने सर्वास्तिवादियो से जो परमाणुवाद लिया उसे भी चेतन नहीं माना किन्तु कपिल की प्रकृति की भाति उन्हें नित्य माना जब कि बौद्धों के परमाणु क्षणिक थे। बादरायण का ब्रह्म कोरा सत् न था पर चित् भी था जब कि परमाणु और प्रकृति कोरे सत् थे। अत. बादरायण को चेतन सत्ता का परिणाम सिद्ध करने के लिए जो लोग कोरी सत्ता का परिणाम मानते थे उनके निराकरण की अपेक्षा मालूम हुई। कणाद परमाणुओं के सयोग और वियोग से सर्ग एव लय का होना मानते थे । सयोग और वियोग दोनों है कर्म-सापेक्ष। बिना क्रिया या व्यापार के परमाणुओं का सयोग-वियोग सभव नहीं है। और

* "उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् । असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ।" (ब्रह्मसूत्र २।२।२०, २१) ।

† "नाभाव उपलब्धे. । सर्वथानुपपत्तेश्च ।" (ब्रह्मसूत्र २।२।२८, ३२) . शकर ने विज्ञानवाद के खडन में पूरे (२।२।२८, ३२) अभावाधिकरण को लगाया है। यद्यपि सूत्रार्थ बिना खींचातानी के शून्यवाद की ओर चला जाता है।

कर्म के लिए कोई दृष्ट कारण है नहीं अत अदृष्ट को कारण मानना होगा। पर अदृष्ट के अचेतन होने के कारण उसमें सामर्थ्य नहीं है कि परमाणुओं में क्रिया उत्पन्न कर सके।* कपिल की प्रकृति भी अचेतन है पर उसके प्रति बादरायण अपना यह तर्क न उपस्थित कर सकते थे क्योंकि कपिल के मत से प्रकृति सर्व-बीज अर्थात् सबकी उपादान कारण और प्रवृत्ति स्वभाववाली है। अत बादरायण ने यह तर्क उपस्थित किया कि प्रवृत्ति अचेतन का धर्म नहीं है। प्रकृति अचेतन है अत उसमें प्रवृत्ति नहीं मानी जा सकती।† और बिना प्रवृत्ति परिणाम हो नहीं सकता।

ऊपर बहुत ही सक्षेप में हमने भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति को देखा है। उसमें एक क्रमबद्ध विकास है। लोकायत सत्ता से चेतना की उत्पत्ति और उसका विनाश मानते थे। कपिल ने सत्ता और चेतना दोनों को अलग-अलग माना जिसमें सत्ता को परिणामी और चेतना को अपरिणामी माना। बौद्ध दार्शनिकों ने भी सत्ता और चेतना को अलग-अलग माना पर परिणामी प्रतिपादित किया। बादरायण ने सत्ता और चेतना को अलग-अलग न मानकर अभिन्न माना और 'ब्रह्म' शब्द द्वारा प्रकाशित किया। पिछले दार्शनिको की भाति परिणाम इन्होंने भी माना।

वसुबन्धु ने इन सब दार्शनिक गतिविधियो को देखा और एक नयी बात कही। इन्होने कहा कि सत्ता के न मानने से भी केवल चेतना से भी काम चल सकता है। चेतना के लिए बौद्ध दार्शनिको का विज्ञान शब्द है और ब्राह्मण दार्श-निकों का आत्मा शब्द है। आत्मा और विज्ञान दोनो एक ही नहीं है। आत्मा नित्य या कूटस्थ है और विज्ञान परिवर्तनशील। सो इस वसुबन्धु के विज्ञानवाद में नित्या-त्मावाद की झलक नहीं है। इन्होंने सब कुछ विज्ञान का परिणाम कहा और बताया कि 'सत्ता' जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, सब कुछ विज्ञान ही विज्ञान है।

आलय, मन और प्रवृत्ति भेद से विज्ञान तीन प्रकार का है। कपिल की प्रकृति जैसे सर्वबीज (=सम्पूर्ण कार्य जगत् की उपादान) है, बादरायण का ब्रह्म जैसे सर्वबीज है वैसे वसुबन्धु का यह विज्ञान सर्वबीज है। सर्वबीज होने के कारण ही इस मूल विज्ञान को आलय विज्ञान कहते हैं। सभी धर्मों का यह कारण रूप से आलय (=स्थान या आश्रय) होने के कारण मूल विज्ञान 'आलय' कहलाता है। आलय विज्ञान के सन्तान से प्रवृत्त हुआ विज्ञानान्तर जो सत्काय-दृष्टि (नित्यदृष्टि, आत्मदृष्टि) मान (=अहकार), मोह और राग नामक क्लेशो से युक्त होने के कारण बन्ध का कारण है 'मन' कहलाता है। रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म (=सभी मानसिक भावनाए) इन छह विषयो की जो प्रतीति है वह 'प्रवृत्ति विज्ञान' है। जैसे जल में तरगें (पवनादिजनित क्षोभवश) उत्पन्न होती रहती है वैसे ही ये विज्ञान भी आलय विज्ञान में प्रत्ययवश या कारणवश सबके सब एक साथ या पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते रहते है।**

---

* उभयथापि न कर्म अतस्तदभाव। (ब्रह्मसूत्र २।२।१२)

† प्रवृत्तेश्च (ब्रह्मसूत्र २।२ २)।

** त्रिंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, २, ५, ८, १५

इन विज्ञानो में प्रवृत्ति-विज्ञान के लिए वाह्य सत्ता माननी पडती है, किन्तु वसुवन्धु कहते हैं कि इनके लिए भी वाह्य सत्ता की अपेक्षा नहीं। रूप आदि वस्तुत हैं, इसलिए उनकी प्रतीति होती है। यह वात मिथ्या है। जैसे तिमिर रोगी को केश, जाल आदि जो समुच उसके सामने नहीं हैं प्रतीत होते हैं वैसे ही अर्थ-सत्ता न होते हुए भी रूपादि की प्रतीति हुआ करती है। अतएव विज्ञान के अतिरिक्त और कोई वाह्य सत्ता नहीं है। †

पर विज्ञान के अतिरिक्त वाह्यसत्ता न मानने से कितनी ही आपत्तिया उठ खडी होती हैं। विज्ञान के अतिरिक्त रूपादि वाह्य अर्थ हैं क्योंकि विना वाह्य अर्थ के चार नियम नहीं होने चाहिएं :—

(१) देश-नियम—जिस स्थान में रूपादि पदार्थ होते हैं वहीं रूपादि विज्ञान भी देखे जाते हैं। जहा नहीं होते वहा रूपादि विज्ञान की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। सो यह देश या स्थान का नियम तभी वनता है जव रूपादि वाह्य पदार्थ हो। यदि वाह्य-पदार्थ न माने जाए तो सर्वत्र ही रूपादि की प्रतीति होनी चाहिए। पर होती नहीं। अत' देश का नियम होने से वाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(२) काल-नियम—जिस समय विशेष में रूपादि अर्थ कहीं पर होते हैं उसी समय विशेष में रूपादि विज्ञान उत्पन्न होते हैं। सर्वदा सव समय में उत्पन्न नहीं होते। अत. जान पडता है कि रूपादि वाह्यसत्ता के विना रूपादि विज्ञान उत्पन्न नहीं है। इस प्रकार विज्ञानोत्पत्ति के साथ काल का नियम होने से वाह्य-सत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(३) सतान-नियम—जहा जिस समय में रूपादि अर्थ होते हैं वहा सभी अविकलेन्द्रियों को उनकी प्रतीति होती। ऐसा नहीं होता कि किसी को हो और किसी को न हो जैसा कि तिमिर रोगी को तो केश-जाल आदि दिखायी पडते हैं पर औरों को नहीं। यदि विना रूपादि वाह्य अर्थ के ही विज्ञान की उत्पत्ति होती तो वह तैमिरिक की असदर्थ-प्रतीति की भाति कुछ को होती और कुछ को न होती, पर रूपादि अर्थ जहा जव होते हैं उनकी सवको ही प्रतीति होती है, अत. विज्ञानोत्पत्ति में सवके साथ सतान-नियम (प्रतीति का सिलसिला) का सवध होने से वाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

(४) कृत्य-क्रिया-नियम—रूपादि वाह्य अर्थो से ही शारीरिक कृत्य हो सकते हैं। स्वप्न में देखे गये अन्न-जल से शरीर की भूख-प्यास नहीं मिट सकती। अत कोरे विज्ञान मात्र से दुनिया का काम नहीं चल सकता। दुनिया की कृत्य-क्रिया के लिए रूपादि अर्थ अपेक्षित है। इस प्रकार भी वाह्यसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता।

एव इन चार नियमों की पडताल करने से जान पडता है कि विज्ञान से व्यतिरिक्त भी वाह्य रूपादि-अर्थसत्ता है।*

---

† विंशिका विज्ञप्तिमात्रतासिद्धिकारिका, १। * विंशिका २।

वसुबन्धु ने इन आक्षेपों का समाधान करते हुए कहा कि बाह्य पदार्थ के अभाव में भी देश, काल, सतान और कृत्य-क्रिया के नियम देखे जाते है। उदाहरण के लिए स्वप्न को लीजिये। स्वप्न में बाह्य अर्थ के बिना ही किसी स्थान विशेष में (न कि सर्वत्र) बाग-बगीचे, नदी-तालाब, सुन्दरियां दिखाई पड जाती है और वहा भी किसी समय दिखाई पड जाती हैं, हमेशा नहीं। यह स्वप्नदृश्य कृत्य-क्रिया करने में भी समर्थ होते है। रही यह बात कि, बाह्य पदार्थ की प्रतीति सभी अवि-कलेन्द्रियों को होती है पर बाह्यार्थ के बिना तिमिर-रोगी आदि को जो पदार्थ प्रतीति होती है वह सबको नहीं, अत बाह्यार्थ मिथ्या सिद्ध न हुआ। सो इस युक्ति में भी जान नहीं है। प्रेतों को मल-मूत्र, पूय आदि से परिपूर्ण नदी दिखाई पडती है यद्यपि वस्तुत. वह होती नहीं। नारकी जीवों को भी इसी प्रकार भयकर दृश्य दिखाई पडते है। यम-किंकरों के दर्शन भी उन्हे होते है और उनसे वे दण्ड भी पाते है, यद्यपि ये सब वस्तुत नहीं होते।* इन आगममूलक दृष्टान्तों को यदि छोड दें तो स्वप्न का ही उदाहरण काम दे सकता है क्योंकि बाह्य पदार्थ के बिना ही सबको सपने दिखाई पडते है, और स्वप्न काल में सभी को बाह्य पदार्थ के बिना प्रतीति होती है, ऐसा नही कि किसी को हो और किसी को नहीं। एव बाह्य पदार्थ के बिना ही देश, काल, सतान, और कृत्य क्रिया की व्यवस्था हो जाती है। अत' इन चार नियमों के लिए बाह्य-सत्ता का मानना जरूरी न रहा।

सर्वास्तिवादी बाह्य-सत्ता पर बहुत जोर देते थे, कणाद और अक्षपाद भी उसके हामी थे। तीनों ही परमाणुओ को मानते थे। बाह्य पदार्थ परमाणुओं के सयोग से बनते है। परमाणुरूपी अवयवों से बना पदार्थ परमाणुओं का समूहमात्र ही नहीं है प्रत्युत उन अवयवों से विलक्षण वह एक स्वतन्त्र पदार्थ है जो 'अवयवी' कहलाता है। परमाणुओं को सयोग तथा अवयवी को कणाद और अक्षपाद दोनों मानते है। परमाणुओ के सयोग से एक विलक्षण अवयवी बन जाता है। यह बात सर्वास्तिवादी नहीं मानते। उनके मत से परमाणु-पुंज ही पदार्थ है। कुछ भी हो इन सब के मत से परमाणु निरवयव है। वसुबन्धु को इन दार्शनिकों पर बडा तरस आया। इन्होंने कहा कि जिन परमाणुओं के बूते बाह्य-सत्ता सिद्ध करने चले हो पहले एक बार उनको ही सभाल लो। सयोग सावयव का देखा जाता है। परमाणुओं को एक ओर निरवयव मानना और दूसरी ओर उनका सयोग मानना यह कैसे बन सकता है।† तुम्हारे मत से परमाणु सावयव हो नहीं सकते और निरवयव का सयोग नहीं हो सकता और बिना सयोग हुए अवयवों से अवयवी भी नहीं बना, सो कणाद और अक्षपाद की बाह्य-सत्ता जो अवयवी के सिद्ध होने पर निर्भर थी परास्त हो गयी।

वसुबन्धु ने बाह्य-सत्ता को मिथ्या सिद्ध करने में जो परिश्रम किया उससे परवर्ती दार्शनिकों को बडा बल मिला। गौडपाद ने विज्ञानवाद की सिद्धि के

---

* विंशिका ६, ४। † विंशिका १३ का उत्तरार्ध।

लिए किये गए वाह्य-सत्ता के निराकरण को अद्वैतवाद का बहुत उपकारक समझ कर मान लिया ।† विज्ञानवादियों और अद्वैतवादियो में है भी बहुत समता । नागार्जुन जहा सब कुछ (यहां तक कि चेतना बौद्ध-सम्मत विज्ञान तथा तैर्थिक-सम्मत आत्मा) को भी सवृत्ति-सत्य मानते थे वहां इन दोनो ने उसे परमार्थ सत्य कहना शुरू किया । एक ने उसे विज्ञान शब्द से कहा और दूसरे ने ब्रह्म से । दोनों ने उसके अतिरिक्त वाह्य सत्ता को मिथ्या माना । दोनों ने उसे अनुच्छिन्न या नाश न होने वाला कहा पर एक अन्तर बना रहा । विज्ञान था परिवर्तनशील क्योंकि उसे प्रतीत्यसमुत्पन्न माना जाता था और ब्रह्म था कूटस्थ यद्यपि वह भी "जन्माद्यस्य यत" (१।१।२) "आत्मकृते. परिणामात्" (१।४।२६) में वादरायण द्वारा परिणामशील कहा जा चुका था । सो इस ब्रह्म के परिणाम की नये ढग से व्याख्या करने की जरूरत पडी । नागार्जुन ने परिणामवाद (=प्रतीत्यसमुत्पाद) के आधार पर सब कुछ को अशाश्वत और अनुच्छिन्न कह चुके थे । अनुच्छेद अश से तो अद्वैतवादी सहमत थे पर अशाश्वत अश उनकी नित्यदृष्टि का काटा था अत प्रतीत्यसमुत्पाद या परिणामवाद जो कारण-कार्य का नियम था और नियम को सभी परमार्थ समझते थे मिथ्या करार दे दिया गया,* और वह बेचारा अब सवृतिसत्य मात्र रह गया । परिणाम या प्रतीत्य समुत्पाद माना गया पर विज्ञान-वादियो ने उसे परमार्थ सत्य माना अत उन्हें विज्ञान को क्षणिक या परिवर्तनशील मानना पड़ा। ब्रह्मवादियों ने उसे मिथ्या माना सो उनका 'ब्रह्म' परिवर्तन से अछूता कूटस्थ बना रहा । अस्तु, इस दृष्टि भेद के कारण विज्ञान और ब्रह्म जो एक होने- जा रहे थे अलग-अलग बने रहे पर अलग होते हुए भी ब्रह्मवाद पर जो बौद्धदर्शन की अमिट छाप पडी वह न मिटाई जा सकती थी ।

विज्ञानवादियों ने विज्ञान के अतिरिक्त वाह्य-सत्ता का निषेध तो कर दिया पर व्यवहार बिना वाह्य-सत्ता के चल नहीं सकता था। सो उन्होने विज्ञान के अतिरिक्त यच्च यान्वमात्र व्यवहार को औपचारिक माना। अन्धे को यदि कोई 'सुलोचन' कहे, मूर्ख को 'वृहस्पति' कहे, वाहीक को 'बैल' (गौर्वाहीक.) कहे या गवार को 'गधा' कहे तो इन प्रयोगो को औपचारिक कहना होगा क्योंकि अन्धे आदि में सुलोचनत्व आदि धर्म नहीं है और जो जहा नहीं, उसका उसमें प्रयोग करना उपचार कहलाता है ।†† आत्मा (=अपनापन, मैं और मेरापन) तथा धर्म (=अपने से पृथक् सब पदार्थ) दोनो की सत्ता औपचारिक है क्योंकि विज्ञान के परिणाम के अतिरिक्त दोनो है ही नहीं । विज्ञान के अतिरिक्त "और सब कुछ" मिथ्या है और उसी मिथ्या की व्यवहार सिद्धि के लिए यह अन्य मिथ्या-न्तर है "उपचार", जिसे आगे चलकर शकर ने 'अध्यास', 'अविद्या' और 'माया' कहा । विज्ञानैकत्ववाद सिद्ध करने के लिए जिस जगत् को वसुबन्धु ने

† गौडपादकारिका ४।२५ ।

* गौडपादकारिका ३।२५। †† त्रिंशिका १ पर 'उपचार' शब्द की व्याख्या करते स्थिरमति—"यत्र यच्च नास्ति तत् तत्रोपचर्यते ।

मिथ्या कहा उसने ही वसुवन्धु को अविद्या (=उपचार) में फेंक कर अपनी सिद्धि करवा ही ली।

यहा बौद्ध दर्शन के विकास की जो रूप-रेखा प्रस्तुत की गई है, उसका श्रेय उस प्राचीन-सामग्री को है, जो बहुत कुछ हमारे युग में उपलब्ध हुई है। वस्तुत इसके सहारे बौद्ध धर्म एव दर्शन तथा उसके साहित्य का नये सिरे से अभिज्ञान हुआ है।

इस नये अभिज्ञान एव नयी साहित्यिक सम्पत्ति ने हमारी जानकारी में एक नया परिवर्तन उत्पन्न कर दिया है। कुछ ही दिन पहले हम बुद्ध तथा उसके धर्म को बहुत गलत समझ रहे थे, बौद्ध तत्त्वचिंतन की हमें कितनी गलत जानकारी थी, यह हम आज समझ रहे हैं। पर हम तव विवश थे, तब हमारे पास केवल बौद्ध विरोधियों ने जो कुछ बौद्ध धर्म और दर्शन के बारे में वतला रखा था उसके अतिरिक्त हमारे पास जानने को कुछ न था। पर आज हम उतने अकिंचन नहीं हैं। आज बुद्ध के धर्म और दर्शन की वह सामग्री हमारे पास है कि हम उसे ठीक-ठीक समझ सकते है।

शकर ने बुद्ध को 'अनाप-शनाप बोलने वाला दुनिया का दुश्मन'१ कहा! कुमारिल ने बुद्ध के उपदेश को 'कुत्ते की खाल में पड़े दूध'२ जैसा निकम्मा बताया! जिसके पास जबान है उसे बोलने से कौन रोक सकता है? फिर भी इस प्रकार के फूहडपने का जवाब किसी भले आदमी के पास हो ही क्या सकता है? आज जिसने बुद्ध के धर्म और विनय की सरसरी तौर पर भी पड़ताल की है वह उन्हें दुनिया का गुमराह करने वाला नहीं कह सकता। बुद्ध का धर्म बिल्कुल स्पष्ट है। उसमें विरोध या असगतिया नहीं है। करुणाकुल बुद्ध ने साफ-साफ कहा है· 'विजय से वैर पैदा होता है, पराजित दुखी होता है, जो जय और पराजय को छोड चुका है उसे ही सुख है, उसे ही शाति है।'३ जानकारों ने इसीलिए कहा है. "तथागत ने थोडे में केवल 'अहिंसा' के तीन अक्षरों में धर्म का वर्णन किया है।"४ क्या सचमुच यह गुमराह करने वाला रास्ता है?

कर्म और उसके फल को वैदिक, बौद्ध और जैन तीनों मानते है। कर्म-फल का देने वाला ईश्वर है और कर्मफल का भोगनेवाला जीव है। साख्यों और जैनों को कर्मफल के भोग में ईश्वर का हस्तक्षेप मजूर नहीं है। वेदान्ती भी इस प्रकार के हुकूमत करने वाले ईश्वर को नहीं मानते। हा, अक्षपाद और कणाद को इस प्रकार के ईश्वर की जरूरत है। ईश्वर की बात यहा छोड देनी

---

१ 'सुगतेन स्पष्टीकृतमात्मनोऽसम्बद्धप्रलापित्व प्रद्वेषो वा प्रजासु।" (ब्रह्म-सूत्र २।२।३२ पद)।

२. सन्मूलमपि अहिंसादि श्वदतिनिक्षिप्तक्षीरवदनुपयोगि।' (तन्त्रवार्तिक)।

३. 'जय वेर पसवति दुख सेति पराजितो उपसन्तो सुख सेति हित्वा जयपराजय" ॥ धम्मपद १५।५

४. 'धर्मं समासतोऽहिंसा वर्णयन्ति तथागता।' चतुःशतक।

है, केवल उसके गुलाम 'जीव' की कहानी पर ध्यान देना है। बौद्धो को छोड कर सभी जीव को एक टिकाऊ जीव समझते है। दार्शनिक भाषा में कहेंगे कि जीव नित्य है। जीव शब्द भी यहा छोड देना चाहता हूँ। इसके लिए 'आत्मा' शब्द को लेना है। आत्मा का अर्थ कुछ विस्तृत है, जो लोग ईश्वर को मानते हैं उनका ईश्वर भी इसमें शामिल हो जाता है। वेदान्ती आदि दार्शनिक जो आत्मा के अतिरिक्त और किसी पदार्थ की उससे अलग सत्ता नहीं मानते उनका भी इसी शब्द से काम चल जाता है। और बौद्ध लोग तो आत्मा को मानते ही नहीं वे भी इसी में 'न' जोड़ कर काम चला लेते है।

कर्म है और उसका फल है पर उसका आश्रय कोई टिकाऊ या स्थिर किं वा नित्य आत्मा नहीं है, यह बुद्ध की मान्यता है। आत्मा यथा, सत्ता मात्र में जो सत् या स्थिरता का भान होता है, वह असल में नहीं है। बुद्ध ने इसे इस प्रकार समझाया है . बीज होने पर अकुर होता है पर बीज ही अकुर नहीं है और बीज से पृथक् अथवा उससे भिन्न कुछ और वस्तु भी अकुर नहीं है। अत बीज शाश्वत स्थिर टिकाऊ या नित्य नहीं है क्योकि उसका अकुर रूपमें परिवर्तन देखा जाता है। वह उच्छिन्न या नष्ट भी नहीं होता क्योंकि अकुर बीज ही का तो रूपान्तर है।[१] यह एक उदाहरण है जिसके द्वारा सिद्धात का स्पष्टीकरण है। बुद्ध का अपना मत है कि न तो कुछ भी अशाश्वत है और न कुछ भी उच्छिन्न होता है। प्रत्येक वस्तु अपने कारण से उत्पन्न होती है। कार्य कारण से न तो अन्य या भिन्न ही होता है और न अनन्य ही, कार्य कारण से अन्य होता तो कारण का उच्छेद मानना पडता, यदि कार्य अनन्य अर्थात् कारण-रूप ही होता तो उसे शाश्वत या नित्य मानना पडता। पर दोनों बातें नहीं है, इसलिए न कोई शाश्वत है और न किसी का उच्छेद होता है। 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' बुद्ध का दार्शनिक सिद्धात है। यह सकारणता और परिवर्तन के नियम के आधार पर विकसित हुआ है। इस नियम को प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। जिसका अक्षरार्थ है॰ समुत्पाद=उत्पत्ति, कार्यमात्र का होना ; प्रतीत्य (एव भवति)=कारण के (प्राप्त) होने पर ही होता है। बुद्ध के बाद जितने भी बौद्ध दार्शनिक हुए वे "प्रतीत्यसमुत्पाद' तथा 'अशाश्वतानुच्छेदवाद' के सहारे ही अपने दार्शनिक विचारों को व्यक्त करते रहे है। सब कुछ ही जब अशाश्वत और अनुच्छिन्न है तब 'आत्मा' भी इसका अपवाद नहीं है। इस बेटिकाऊ, पर न नष्ट होने वाले, आत्मा को बौद्ध चित्त या विज्ञान कहते है।

जिस अशाश्वतानुच्छेदवाद की पद-पद पर बौद्ध दर्शनों में चर्चा है उसको पूर्वपक्ष के रूप में कहीं भी ब्राह्मण और जैन दर्शनो ने छुआ तक नहीं। यह बात बडे आश्चर्य में डालने वाली है। जहा भी बौद्ध दर्शन की आलोचना की गई है वहा सर्वत्र उसे उच्छेदवादी दिखलाया है—अभाववादी बताया है। शकरा-

---

१. बीजस्य सतो यथाकुरो न च यो बीजु स चैव अकुरो।
न च अन्यु ततो न चैव तदेवमनुच्छेद अशाश्वत धर्मता।—ललितविस्तर।

चार्य साफ ही सौगत दर्शन का अभिप्राय समझाते कहते हैं 'सौगत दर्शन ठीक नहीं क्योंकि ये किसी कारण को स्थिर नहीं मानते, जिसका निष्कर्ष है अभाव से भाव की उत्पत्ति को मानना,'* सौगत दर्शन को शकर 'वैनाशिक' कहते है यद्यपि सौगतों ने जहां किसी वस्तु को शा.वत नहीं माना है वहा उसका विनाश या उच्छेद मानने से भी इनकार कर दिया है। यह एक नमूना है और इस प्रकार के अनेकों नमूने हे जिनमें इस प्रकार गलत रूप में बौद्ध दर्शन को उपस्थित किया गया है। खैर, विरोध करने में अब तक बुद्ध को उच्छेदवादी या वैनाशिक बनाया गया सो बनाया गया पर अब उन्हें उच्छेदवादी या वैनाशिक नहीं कहा जा सकता।

आज हम कह रहे हैं कि बुद्ध वैनाशिक या उच्छेदवादी नहीं थे पर क्या इस पर वे लोग विश्वास करेंगे या मान लेगें जो बुद्धि पर पोथी धर कर तर्क करने बैठते है। तर्क में पोथी-पत्रा काम नहीं दिया करता। यदि देता तो अपने तत्त्व या मतलब के बचाव के लिए जल्प और वितण्डा की जरूरत ही क्या थी ?† जो लोग छल-बल से, जल्प और वितण्डा से दूसरों को चुप कर देना ही तत्त्व-रक्षा का साधन समझते हैं, उनसे इस बात की आशा करना भूल है कि वे दूसरे के मत को सही-सही देख सकेंगे। उनकी यही कौन सी-कम भलमनसाहत है जो जल्प और वितण्डा को तत्त्वरक्षा का साधन कहते हुए मुंह पर थप्पड लगा देने को तत्त्वरक्षा का साधन नहीं कहा। इस छली मनोवृति के कारण बौद्ध जिस रूप में अपने दार्शनिक सिद्धांत मानते हे उनको उसी रूप में उपस्थित कर आलोचना नहीं की गयी, फलत उन आलोचनाओं के द्वारा हम जिस रूप में बौद्ध दर्शन की झलक पाते हैं वह उसके स्वरूप से सर्वथा उलटी है।

हम जिस प्रतीत्यसमुत्पाद और उसके आधार पर विकसित अशाश्वत-अनुच्छेदवाद का जिक्र कर चुके हे उसके आधार पर ही पिछली बौद्ध दार्शनिक प्रक्रिया ठहरी हुई है। विभाषा और उसके मानने वाले वैभाषिक सम्प्रदाय का ऊपर जिक्र हुआ है। इन्होंने बुद्ध वचन के अनुसार सता को प्रतीत्यसमुत्पन्न तथा अशाश्वत और अनुच्छिन्न कहा। सत्ता का वर्गीकरण पाच स्कन्धों में है। बौद्ध मान्यता के अनुसार कोई 'एक' वस्तु नहीं है प्रत्युत् जहा 'एक' का भान होता है वहां 'अनेकों' का समूह हुआ करता है। वृक्ष 'एक' पदार्थ है पर वह है क्या? जड, तना, शाखा और पत्र आदि का समूह ही तो है। हरएक पदार्थ का यही हाल है। इस भाव को व्यक्त करने के लिए ही स्कन्ध शब्द का प्रयोग होता है। स्कन्ध का अर्थ राशि या ढेर है। प्रत्येक वस्तु अनेकों का एक ढेर है उसमें जो 'एक' की प्रतीति है वह व्यवहारत ठीक हो सकती है पर परमार्थत है ही नहीं। प्रत्येक पदार्थ अपने अवयवों का स्कन्ध या ढेर है। नैयायिक पदार्थ को अव-

---

* अनुपपन्नो वैनाशिकसमय, यत स्थिरमनुयायिकारणमनभ्युपगच्छताम-भावाद्भावोत्पत्तिरित्येतवापद्यते'। ब्रह्मसूत्र २।२।२६ पर शारीरकभाष्य।

† तत्त्वाध्यवसायसरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसरक्षणार्थं कटक-शाखावरणवत्। न्यायसूत्र ४।२।५०

यवों का ढेर न मान कर अवयवों से अतिरिक्त एक अवयवी की कल्पना करते हैं। अवयवी को मानकर भी अक्षपाद ने मान लिया है कि 'अवयवी का अभिमान दोष अर्थात् राग, द्वेष और मोह का कारण है,।' (न्यायसूत्र ४।२।३) । यद्यपि अवयवो से व्यतिरिक्त अवयवी की सत्ता असिद्ध है । 'एक' की प्रतीति से अवयवी की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि 'एक' अपने आप में ही सिद्ध नहीं है । 'एकत्व' को सिद्ध मान कर हिन्दू तार्किकों ने 'अवयवी' की सिद्धि की है । अवयवो के स्कन्ध या ढेर को ही वैभाषिक पदार्थ मानते है। अवयव के लिए 'परमाणु' शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि स्थूल पदार्थ का जो सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव है वह परमाणु है। इस प्रकार परमाणु-पुंज ही पदार्थ है यह निष्कर्ष निकला। हिन्दू तार्किक भी परमाणु मानते है पर उनके यहा परमाणु-पुज पदार्थ नहीं है प्रत्युत् उनसे व्यतिरिक्त एक 'अवयवी' पदार्थ है । परमाणु, पथिवी, जल, तेज, और वायु के होते है। यह चार भूत कहलाते है। इन चार भूतों का कारण 'अविज्ञप्ति' है। अविज्ञप्ति क्या है सो तो ठीक-ठीक पता नहीं। सचमुच ही वह अ-विज्ञप्ति न जानी गयी चीज ही है । खैर, ये चार भूत, अविज्ञप्ति, पांच ज्ञानेन्द्रिया और उनके पाच, रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श विषय एव कुल पन्द्रह को रूप स्कन्ध कहते है। चक्षु से रूप का, श्रोत्र से शब्द का, नासिका से गन्ध का, जिह्वा से रस का, शरीर (=काय, स्पर्शेन्द्रिय) से स्पर्श का और मन से धर्म (=मानसिक भावों) का जो ज्ञान सामान्यतया होता है उसे विज्ञान स्कन्ध कहते है। यदि इस ज्ञान में विषय की विशेषताए भी झलकें तो वह 'सज्ञास्कन्ध' होगा। जैसे आंख से कोई स्त्री दिखाई पडी यह तो विज्ञान स्कन्ध हुआ पर यदि इस ज्ञान में स्त्री का रग, रूप, कद आदि की प्रतीति भी शामिल हो तो वह सज्ञास्कन्ध होगा क्योंकि यह स=सम्यक् या विशेष रूप से ज्ञा=जानकारी हुई है। सुख-दुःख की अनुभूति का नाम वेदना-स्कन्ध है । इन चारों स्कन्धो से जो कुछ बचा है वह सस्कार स्कन्ध है । इन पाचों स्कन्धो की सत्ता प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से अशाश्वत एव अनुच्छिन्न है । यह बात वैभाषिक तो मानते ही है पर सौत्रान्तिक भी इससे सहमत है ।

इस दार्शनिक धारा में, जैसा कि ऊपर कह आये है, नागार्जुन ने एक और नूतन बात पैदा कर दी । उन्होंने कहा कि पांचों स्कन्धो की सत्ता निरपेक्ष नहीं है । किन्तु उनकी सत्ता सापेक्ष है । उन्होंने साफ-साफ कहा है : कर्म कर्म करने वाले के बिना नहीं हो सकता । जब कर्म होता है तब कर्म का करने वाला भी होता है । सो कर्म और उसको करने वाला अर्थात् कारक अपनी-अपनी सिद्धि के लिए परस्पर की अपेक्षा रखते है। यह एक उदाहरण है । वस्तुत. प्रत्येक सत्ता का यही हाल है । सब की सिद्धि सापेक्ष ही है।* सत्ता की सिद्धि सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं । इसी का नाम 'शून्यवाद' है। शून्यवाद निरपेक्ष सत्ता की सिद्धि से इन्कार करता है । पता नहीं इसमें कौन सी असंगति है जिसे देख कर शकर ने इसे 'सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध' (ब्रह्मसूत्र २।२।३१) कहा है । इस शून्यवाद का विकास

* माध्यमिक कारिका ८।१२,१३ ।

भी प्रतीत्यसमुत्पाद पर ही अवलम्बित है। प्रतीत्यसमुत्पाद ने किस प्रकार अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया यह ऊपर कहा गया है। अशाश्वत और अनुच्छिन्न या परिवर्तनशील सत्ता में जो सत्ता की प्रतीति हो रही है वह भी निरपेक्ष नहीं है क्योंकि कार्य की सत्ता कारण की सत्ता की अपेक्षा रखती है। माध्यमिक शून्यवाद के प्रतिपादक नागार्जुन की मूल माध्यमिका कारिकाओं पर टीका करते समय इसीलिए चन्द्रकीर्ति ने प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ ही किया है 'हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पाद।' (पृ० ५) सो प्रतीत्यसमुत्पाद कोरा सकारणता और परिवर्तन का नियम नहीं है प्रत्युत् वह सत्ता की सिद्धि भी सापेक्ष मान कर निरपेक्ष सत्ता का खण्डन करता है।

यह खडन प्रणाली बडी रोचक है। काम विना किये नहीं होता। कल्पना कीजिए, मै रोटी बनाना चाहता हूँ। रोटी बनाना काम है जो मुझे करना है सो मै रोटी का बनाने वाला या कर्ता या कारक हुआ। रोटी जिसे बनाना है वह मेरा काम या कर्म हुआ। पर इस काम के लिए मुझे कुछ करना-धरना भी पडेगा। खाली बैठे रहने से तो काम न चलेगा सो यह करना धरना या क्रिया भी इसके लिए चाहिए। पर इतने से भी काम नहीं चल सकता। रोटी के लिए आटा चाहिए, पकाने के लिए चूल्हा आदि चाहिए। इन्हें कारण शब्द से कह सकते हैं। रोटी का कारण आटा है और रोटी उसका कार्य है पर यदि मै हाथों से काम न लू तो यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता सो हाथ भी इसके असाधारण कारण हुए। इन कर्ता, कर्म, हेतु या कारण तथा कार्य की सिद्धि पर नागार्जुन के शब्दो में विवेचना करनी है।

यदि कर्म को स्वभावत (निरपेक्षत) सत् मानें तो कर्म को कर्ता की जरूरत न रहेगी और कर्ता भी निकम्मा हो जायगा क्योंकि उसके करने योग्य कर्म तो स्वभाव सत् है ही फिर उसके करने का सवाल ही क्या ? यदि यह मानें कि कर्म स्वभाव से असत् है और वह असत् कर्ता के द्वारा किया जाता है तब बडी आफत होगी। कर्म बिना हेतु के हो जायगा, और कर्ता को भी निर्हेतुक ही कहना पडेगा। जब हेतु ही नहीं रहा तब कार्य-कारण का सवाल ही क्या ? कार्य और कारण की व्यवस्था ही जब नहीं रही तब किसी कर्म या काम के करने की बात ही नहीं उठती और कर्ता-कारण कोई चीज ही नहीं रहते। इस प्रकार जब कुछ करने-धरने आदि की बात ही नहीं रही तब धर्म और अधर्म किसी की चर्चा बेकार है। (माध्यमिक कारिका ८।२-५)। अत स्वभावत या निरपेक्षत न तो सत्ता है और न अभाव ही है प्रत्युत काम के लिए जैसे कर्ता या करने वाले की अपेक्षा है वैसे ही कर्ता को काम या कर्म की अपेक्षा है। दोनों को बिना सापेक्ष माने सिद्धि नहीं हो सकती। सत्ता को सापेक्ष सिद्ध मानने पर भी व्यवहार में विरोध नहीं आता क्योंकि तत्वचिन्तक भी व्यवहार के समय लोक-प्रमाण पर ही चलता है। लोकप्रमाणक सत्य को सवृति-सत्य कहते हैं। सवृति-सत्य के अनुरोध से सत्ता को निरपेक्ष कहना दोष नहीं पर परमार्थ-सत्य के अनुरोध से उसकी सिद्धि सापेक्ष है। यह सापेक्षता, सकारणता और परिवर्तन का नियम ही नागार्जुन के मत से

प्रतीत्यसमुत्पाद है। प्रतीत्यसमुत्पाद को ही उन्होंने शून्यवाद कहा है; 'य· प्रतीत्य समुत्पाद. शून्यता ता प्रचक्ष्महे' (माध्यमिक कारिका)। शून्यवाद के इतने स्पष्ट रहने पर भी यदि लोग ऊल-जुलूल ही उसे समझते रहें तो इसमें शून्यवाद के प्रवर्तक का दोष ही क्या ? 'न ह्येष स्याणोरपराध, यदेन मन्धो न पश्यति, पुरुषापराधः स भवति'।

जैसा कि पहले ही बताया गया है नागार्जुन के अनन्तर असग और वसुबन्धु फिर दो क्रांतिकारी दार्शनिक हुए। इन्होंने चित्त या विज्ञान को तो निरपेक्ष सिद्ध माना पर बाह्यार्थ को विज्ञानसापेक्ष कहा। फलत. बाह्य अर्थ भी विज्ञान के परिणाम या परिवर्तन का एक रूप बताया गया। जो बाह्य अर्थ को निरपेक्ष मानते थे उनका इन्होंने खडन किया। सौत्रान्तिक और वैभाषिक परमाणु पुज को पदार्थ मानते थे। कणाद और अक्षपाद परमाणुओं से अतिरिक्त अवयवी की कल्पना करते थे। वसुबन्धु के बाह्यार्थ निराकरण को गौडपाद ने उसी रूप में मान लिया। यह मानना जरूरी भी था क्योंकि वेदान्त में भी बाह्य सत्ता ब्रह्म-सापेक्ष ही है, निरपेक्ष नहीं।

यहा हमने बुद्ध के दार्शनिक सिद्धात प्रतीत्यसमुत्पाद की पडताल की है। बुद्ध ने किसी को न तो शाश्वत माना और न किसी का उच्छेद या विनाश ही माना। सौत्रान्तिकों और वैभाषिकों ने भी इसी बात को माना और विवेचनापूर्वक पांचों स्कन्धों की निरपेक्ष सता मानी। नागार्जुन ने इनकी सत्ता को सापेक्ष कहा। वसुबन्धु ने विज्ञान की सता को निरपेक्ष और बाह्य सत्ता को उसी प्रकार विज्ञान सापेक्ष कहा जैसा कि वेदान्तियो ने बाद में बाह्य सता को ब्रह्म-सापेक्ष माना। पर किसी ने न तो किसी को शाश्वत माना न किसी का उच्छेद। इतना स्पष्ट होते हुए भी विरोधी आलोचकों ने सौगत दर्शन को वैनाशिक या उच्छेदवादी कहा है जो नितान्त भ्रम है। कदाचित् सौगत दर्शन को ठीक-ठीक जानकारी पाने का उन लोगों ने प्रयास ही नहीं किया।

बौद्ध दर्शन उच्छेद-विनाश या अभाववाद को मानता है, यही बात उसके आलोचको ने बता रखी थी और इसी को मान कर उन्होने बडे-बडे दोष दिखाये थे। पर हम देखते है, उन्होने बौद्ध दर्शन को जिस रूप में उपस्थित किया वह उसका असली रूप नहीं है फिर भला उस पर थोपे दोष यथार्थ हो ही कैसे सकते है। बुद्ध का अवतार असुरो की प्रवचना के लिए हुआ और उनका दर्शन आत्मा का उच्छेद मानता है। यह दो व्यापक बातें जिनके उल्लेख से ब्राह्मण ग्रन्थ भरे हैं, आज गलत सिद्ध हो रहे है। आज बुद्ध का धर्म और दर्शन हमारे सामने है। बुद्ध ने आचरण के क्षेत्र में जैसे काय-पीडन तथा भोग-विलास के जीवन को मना कर मध्यम मार्ग से चलने का उपदेश दिया वैसे ही दार्शनिक क्षेत्रो में शाश्वत और उच्छेद दोनों मान्यताओं से बच कर अशाश्वत और अनुच्छेदवाद का स्थापन किया। बौद्ध दार्शनिको ने परिवर्तन के जिस वैज्ञानिक सिद्धात प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या

के व्याज से अमूल्य ज्ञान निधि दी है, वह और उसके द्रष्टा बुद्ध दोनो नमस्य हैं :—

अनिरोधमनुत्पादमनुच्छेदमशाश्वतम् ।
अनेकार्थमनानार्थमनागममनिर्गमम् ॥
यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपंचोपशम शिवम् ।
देशयामास सम्बुद्धस्त वन्दे वदतां वरम् ॥

—नागार्जुन

# बोधिचर्यावतार

मूल श्लोक और अनवाद

# बोधिचर्यावतार

## प्रथम परिच्छेद

## बोधिचित्तानुशंसा

सुगतान् ससुतान् सधर्मकायान् प्रणिपत्यादरतोऽखिलाश्च वंद्यान् ।
सुगतात्मजसंवरावतार कथयिष्यामि यथागम समासात् ॥१॥

सुगतो को, उनके पुत्रो-बोधिसत्त्वों के साथ, उनके (कार्यों में उत्कृष्टतम) काय धर्म के साथ, तथा वदनार्ह सवको, सादर प्रणाम कर सुगतो के आत्मा (न कि शरीर) से उत्पन्न बोधिसत्त्वों के सवरावतार–आचरण-मार्ग का सक्षेप से आगमानुसार वर्णन करूगा ।

नहि किंचिदपूर्वमत्र वाच्य न च सग्रथनकौशल ममास्ति ।
अतएव न मे परार्थचिन्ता स्वमनो वासयितु कृतं मयेद ॥२॥

यहां न तो कोई अपूर्व वात कहने के लिये है और न मेरी रचना में ही निपुणता है। इसलिए मैं सोचू भी तो कैसे सोचू कि इसमें दूसरों के लिये कुछ है। हा, मेरे मन को वासित(=भावित) करने के लिये यह (अवश्य) है ।

मम तावदनेन याति वृद्धिं कुशल भावयितु प्रसादवेग ।
अथ मत्समधातुरेव पश्येदपरो ऽप्येनमयो ऽपि सार्थकोऽय ॥३॥

पुण्यभावना के निमित्त मेरी श्रद्धा के प्रवाह में तो इससे बाढ ही आ जाती है। फिर दूसरे किसी समानधातुक (समानशीलव्यसन) की दृष्टि भी इस पर पड सकती है। जो भी हो यह (कृति) व्यर्थ नहीं है।

क्षणसपदिय सुदुर्लभा प्रतिलब्धा पुरुषार्थसाधनी ।
यदि नात्र विचिन्त्यते हित पुनरप्येष समागम कुत ॥४॥

पुरुषार्थों की साधिका, अत्यन्त दुर्लभ यह क्षणसपत्ति* मिली है। यदि इसमें हितचिन्तन नहीं किया गया तो इसका फिर मिलना कहा ?

---

*क्षणसपत्ति=अष्ट-अक्षण-निवृत्ति। आठ अक्षण ये हैं--१-नरक योनि, २-प्रेतयोनि, ३-तिर्यग्योनि, ४-दीर्घायुष देवयोनि, ५-मिथ्यादृष्टि, ६-बुद्धानुत्पाद, ७-म्लेच्छता, ८-मूकता। प्रज्ञा करमति ने यहां एक श्लोक उद्धृत किया है। वह यों है–

नरकप्रेततिर्यञ्चो म्लेच्छा दीर्घायुषोऽमराः ।
मिथ्यादृग्बुद्धकान्तारो मूकताष्टाविहाक्षणा. ॥

रात्रौ यथा मेघघनांधकारे विद्युत् क्षण दर्शयति प्रकाश ।
बुद्धानुभावेन तथा कदाचित् लोकस्य पुण्येषु मति॰ क्षण स्यात् ॥५॥

रात के बादलों के घने अंधेरे में जैसे बिजली क्षणभर अपनी चमक दिखा जाती है, वैसे ही बुद्धानुभाव से लोगों की बुद्धि कभी क्षणभर के लिये पुण्य की ओर होती है।

तस्माच्छुभ दुर्बलमेव नित्यं बल तु पापस्य महत्सुघोर ।
तज्जीयते ऽन्येन शुभेन केन सबोधिचित्त यदि नाम न स्यात् ॥६॥

इसलिये पुण्य सदैव दुर्बल रहता है पर पाप का बल सदैव महाभीषण बना रहता है। उस (पाप) को कोई दूसरा पुण्य न जीत पाता, यदि बोधिचित्त नामक (पुण्य) न होता।

कल्पाननल्पान् प्रविचिंतयद्भिर्दृष्ट मुनीन्द्रैर्हितमेतदेव ।
यत सुखेनैव सुख प्रवृद्धमुत्प्लावयत्यप्रमिताञ्जनौघान् ॥७॥

मुनीन्द्रों ने बहुत कल्पों तक चिंतन करते-करते एक मात्र इस (बोधिचित्त) को ही कल्याण माना है। इससे सहज ही समृद्ध हुआ सुख अपार जन-राशि को उत्प्लावित कर देता है।

भवदुखशतानि तर्तुकामैरपिसत्वव्यसनानि हर्तुकामैं ।
बहुसौख्यशतानि भोक्तुकामैर्न विमोच्य हि सदैव बोधिचित्त ॥८॥

ससार के शत-शत दु॰खों के तरने, प्राणिपीडा के हरने, तथा अनेक शत-शत सुख भोगने की कामना करने वालो को कभी भी बोधिचित्त का परित्याग न करना चाहिये।

भवचारकबधनो वराक सुगतानां सुत उच्यते क्षणेन ।
स नरामरलोकवदनीयो भवति स्मोदित एव बोधिचित्ते ॥९॥

संसार के कारागार में बधा हुआ बेचारा (मनुष्य) बोधिचित्त के उत्पन्न होने के क्षण में ही सुगतसुत—बोधिसत्त्व कहलाने लगता है और देवताओ तथा मनुष्यों के लिये पूजनीय हो जाता है।

अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमा करोत्यनर्घा ।
रसजातमतीव वेधनीय सुदृढ गृह्णत बोधिचित्तसज्ञ ॥१०॥

बोधिचित्त नामक अत्यन्त वेधनीय रसजात (=रसायन) को दृढता से ग्रहण करो, जो इस अपवित्र (शरीर रूपी) प्रतिमा को लेकर बुद्धरत्न रूपी अमूल्य प्रतिमा बना देता है।

सुपरीक्षितमप्रमेयधीभिर्बहुमूल्यं जगदेकसार्थवाहै ।
गतिपत्तनविप्रवासशीला सुदृढ गृह्णत बोधिचित्तरत्न ॥११॥

गति के—सुगति दुर्गति रूपी कर्म-गति के-नगरों के प्रवासियो अप्रमेय बुद्धिशाली, ससार के अनन्य सार्थवाहों—बुद्धो के द्वारा परखे गये बहुमूल्य बोधिचित्तरत्न को दृढता से ग्रहण करो।

कदलीव फलं विहाय याति क्षयमन्यत् कुशलं हि सर्वमेव ।
सतत फलति क्षयं न याति प्रसवत्येव तु बोधिचित्तवृक्ष ॥१२॥

सभी दूसरे पुण्य (वृक्ष) फल देकर केले के समान क्षीण हो जाते हैं पर बोधि-चित्त वृक्ष सदा फलते रहने पर भी क्षीण नहीं होता प्रत्युत फलता-फूलता ही रहता है।

कृत्वापि पापानि सुदारुणानि यदाश्रयादुत्तरति क्षणेन ।
शूराश्रयेणेव महाभयानि नाश्रीयते तत्कथमज्ञसत्त्वै· ॥१३॥

उस बोधिचित्त का मूढ प्राणी क्यों नहीं सहारा लेते, जिसका कि सहारा लेकर अत्यन्त दारुण पाप करके भी (मनुष्य) क्षण भर में उसी तरह पार हो जाता है, जिस तरह कि वीर पुरुष के सहारे लोग महाभयों से पार होते हैं।

युगान्तकालानलवन्महान्ति पापानि यन्निर्दहति क्षणेन ।
यस्यानुशसानमितानुवाच मैत्रेयनाथ· सुधनाय धीमान् ॥१४॥

जो प्रलय काल की अग्नि के समान क्षण भर में महापातकों को जला डालता है, जिसकी अमित अनुशसाए मैत्रेयनाथ ने सुधन* से कही है (उस बोधिचित्त का मूढ प्राणी क्यों नहीं सहारा लेते)।

तद्बोधिचित्त द्विविधं विज्ञातव्य समासत ।
बोधिप्रणिधिचित्त च बोधिप्रस्थानमेव च ॥१५॥

सक्षेप से उस बोधिचित्त के दो भेद हैं—बोधिप्रणिधान चित्त और बोधिप्रस्थान चित्त।

गन्तुकामस्य गन्तुश्च यथा भेद· प्रतीयते।
तथा भेदो ऽनयोर्ज्ञेयो याथासंख्येन पण्डितैः ॥१६॥

जाने की इच्छावाले और जाते हुए (व्यक्तियो) में जैसा अन्तर होता है, वैसा ही अन्तर पण्डितो को इनमें क्रम से समझ लेना चाहिये।

बोधिप्रणिधिचित्तस्य संसारे ऽपि फलं महत्।
नत्वविच्छिन्नपुण्यत्वं यथा प्रस्थानचेतसः ॥१७॥

बोधिप्रणिधान चित्त का भी ससार में महान् फल होता है पर बोधिप्रस्थान चित्त के समान इस में पुण्य की निरन्तरता नहीं रहती।

यतः प्रभृत्यपर्यन्तसत्त्वधातुप्रमोक्षणे।
समाददाति तच्चित्तमनिवर्त्येन चेतसा ॥१८॥

---

*गण्डव्यूह सूत्र में सुधन बोधिसत्त्व को सम्बोधन करके मैत्रेयनाथ ने बोधिचित्त के महत्त्व पर कहा है। इस सूत्र के जिस अश का उद्धरण प्रज्ञाकरमति ने किया है, वह यों है—"बोधिचित्त हि कुलपुत्र बीजभूत सर्वबुद्धधर्माणां। क्षेत्रभूतं सर्वजगच्छुक्ल-धर्मविरोहणतया। धरणिभूत सर्वलोकप्रतिशरणतया। यावत्पितृभूत सर्वबोधिसत्त्व-आरक्षणतया ॥ पेयाल ॥ वैश्रवणभूत सर्वदारिद्र्यसछादनतया। चिन्तामणिराजभूतं सर्वार्थससाधनतया। भद्रघटभूतं सर्वाभिप्रायपरिपूरणतया। शक्तिभूत क्लेशशत्रुविजयाय।"

ततः प्रभृति सुप्तस्य प्रमत्तस्याप्यनेकशः ।
अविच्छिन्नाः पुण्यधारा. प्रवर्तन्ते नभ समा· ॥१९॥

जब से लेकर अनन्त सत्त्वधातु (=प्राणिलोक) की मुक्ति के लिये (मनुष्य) अनिवर्तनीय चित्त से उस (बोधि–) चित्त को ग्रहण करता है, तब से लेकर सोते (जागते),(सावधान) प्रमत्त (सभी अवस्थाओं में) बार-बार आकाश के समान पुण्य का निरतर प्रवाह बहता रहता है।

इदं सुबाहुपृच्छायां सोपपत्तिकमुक्तवान् ।
हीनाधिमुक्तिसत्त्वार्थं स्वयमेव तथागत· ॥२०॥

तथागत ने स्वय ही सुबाहुपृच्छा (नामक सूत्र) में हीनयान के श्रद्धालु लोगों को लक्ष्य करके, इस (बोधिचित्त द्वारा पुण्य की निरन्तरता) को युक्तिपूर्वक कहा है। [उस युक्ति का यहा अगले दो श्लोकों में वर्णन है।]

शिरःशूलानि सत्त्वानां नाशयामीति चिन्तयन् ।
अप्रमेयेण पुण्येन गृह्यते स्म हिताशयः ॥२१॥

किमुताप्रमित शूलमेकैकस्य जिहीर्षत ।
अप्रमेयगुण सत्त्वमेकैकं च चिकीर्षतः ॥२२॥

कुछ प्राणियों की शिर·पीडा दूर करने की बात सोचनेवाले हितचिंतक को अप्रमेय पुण्य मिलता है। फिर प्रत्येक प्राणी की प्रमाणरहित पीडाओं के हरने और प्रत्येक प्राणी को अपार गुणवान् बनाने की इच्छावाले (बोधिसत्त्व) के पुण्य का कहना ही क्या ?

कस्य मातु पितुर्वापि हिताशंसेयमीदृशी ।
देवतानामृषीणां वा ब्रह्मणां वा भविष्यति ॥२३॥

माता अथवा पिता, देवताओं, ऋषियों अथवा ब्राह्मणों में से किसकी इस प्रकार की हितभावना होगी।

तेषामेव च सत्त्वाना स्वार्थे ऽप्येष मनोरथः ।
नोत्पन्नपूर्वः स्वप्ने ऽपि परार्थे सभवः कुत. ॥२४॥

यह मनोरथ स्वप्न तक में अपने लिये भी उन सत्त्वों के (मन में) उत्पन्न न हुआ, फिर दूसरों के लिये उसका होना सम्भव कैसे ?

सत्त्वरत्नविशेषो ऽयमपूर्वो जायते कथं ।
यत्परार्थाशयो ऽन्येषां न स्वार्थे ऽप्युपजायते ॥२५॥

यह कैसा अपूर्व सत्त्वरत्न जनमा है! जिसका परार्थ चिंतन (अन्य सत्त्वों में) स्वार्थ के लिये भी उत्पन्न नहीं होता।

जगदानन्दबीजस्य जगद्दु·खौषधस्य च ।
चित्तरत्नस्य यत्पुण्यं तत्कथं हि प्र ेयतां ॥२६॥

जो जगत् के आनन्द का वीज है और जगत् के दु:खों की औषध है उस चित्त-रत्न का जो पुण्य है, उसे कैसे मापा जाए?

हिताशसनमात्रेण वुद्धपूजा विशिष्यते ।
किं पुन. सर्वसत्त्वाना सर्वसौख्यार्यमुद्यमात् ॥२७॥

कोरी हितैषिता भी वुद्धपूजा से श्रेष्ठ होती है, फिर सव प्राणियो के लिये सव सुखों के प्रयत्न का कहना ही क्या?

दु:खमेवाभिधावन्ति दु:खनि:सरणाशया ।
सुखेच्छयैव समोहात् स्वसुख घ्नन्ति शत्रुवत् ॥२८॥

दु:ख से निकलने की इच्छा से (प्राणी) दु:ख की ओर ही दौडते हैं। मोहवश (वे) सुखो की इच्छा से ही शत्रु के समान अपने सुखो की हत्या कर डालते हैं।

यस्तेषा सुखरंकाणा पोडितानामनेकश ।
तृप्ति सर्वसुखं. कुर्यात् सर्वा पीडाश्छिनत्ति च ॥२९॥
नाशयत्यपि समोहं साधुस्तेन सम: कुत ।
कुतो वा तादृशं मित्र पुण्य वा तादृश कुत ॥३०॥

जो, सुख के दीन उन अनेक प्रकार से पीडितों को सव सुखों से तृप्त करता है, उनकी सव पीडाओ को दूर करता है, उनके अज्ञान का नाश करता है; भला उसके समान साधु कहां होगा, उसके समान मित्र कहां होगा, अथवा उसके समान पुण्य कहां होगा।

कृते य: प्रतिकुर्वीत सो ऽपि तावत्प्रशस्यते ।
अव्यापारितसाधुस्तु वोधिसत्त्व. किमुच्यता ॥३१॥

जो उपकार करने पर प्रत्युपकार करता है, उसकी भी प्रशंसा होती है। फिर अकारण मित्र वोधिसत्त्व के विषय में कहना ही क्या?

कतिपयजनसत्रदायक. कुशलकृदित्यभिपूज्यते जनै. ।
क्षणमशनकमात्रदानत सपरिभव दिवसार्धयापनात् ॥३२॥

कुछ लोगों को, किसी किसी क्षण, तिरस्कार के साथ, रूखा-सूखा भोजन, जिससे आधा ही दिन विताया जा सकता है—देने से सत्रदायक (सदावर्त्त खोलनेवाले) को पुण्यात्मा मान कर लोग पूजते हैं।

किमु निरवधिसत्त्वसख्यया निरवधिकालमनुप्रयच्छत ।
गगनजनपरिक्षयाक्षयं सकलमनोरथसप्रपूरणं ॥३३॥

आकाश में जीवधारियों की स्थितिकाल तक अक्षय, संपूर्ण मनोरथो के परिपूर्ण करनेवाले, असख्यप्राणिसहगत, अनन्त काल तक के दान के दाता के विषय में कहना ही क्या?

इति सत्रपतौ जिनस्य पुत्रे कलुष स्वे हृदये करोति यश्च ।
कलुषोदयसंख्यया स कल्पान् नरकेष्वावसतीति नाथ आह ॥३४॥

इस तरह के दानपति, बुद्धपुत्र के प्रति, जो अपने मन में पाप की बात सोचता है, उसे उतने कल्प तक नरक में रहना पडता है जितने क्षण तक कि उसके हृदय में पाप का विचार उठता रहता है।

अथ यस्य मनः प्रसादमेति प्रसवेत्तस्य ततोऽधिक फल।
महता हि बलेन पापकर्म जिनपुत्रेषु शुभ त्वयत्नत ॥३५॥

पर जिसके मन में श्रद्धा होती है, उसे और भी अधिक फल होता है। बलवत्तर पाप के कारण ही बुद्धपुत्रो के प्रति कोई कुकृत कर बैठता है। उनके प्रति सुकृत सहज ही होता है।

तेषा शरीराणि नमस्करोमि
यत्रोदितं तद्वरचित्तरत्न।
यत्रापकारोऽपि सुखानुबन्धी
सुखाकरास्तान् शरण प्रयामि ॥३६॥

जिनमें वह श्रेष्ठ बोधिचित्तरत्न उत्पन्न हुआ है, उनके शरीरो को प्रणाम करता हू। जिनके प्रति किया गया अपकार भी सुख देता है, उन सुख के आकरों की शरण जाता हू।

## द्वितीय परिच्छेद

# पापदेशना

तच्चित्तरत्नग्रहणाय सम्यक् पूजां करोम्येष तथागतानां।
सद्धर्मरत्नस्य च निर्मलस्य बुद्धात्मजानां च गुणोदधीनां ॥१॥

उस बोधिचित्तरत्न के ग्रहण करने के लिए बुद्धो की, निर्मल सद्धर्मरत्न की और गुणसागर बुद्धपुत्रों की मैं पूजा करता हूं।

यावन्ति पुष्पाणि फलानि चैव भैषज्यजातानि च यानि सन्ति।
रत्नानि यावन्ति च सन्ति लोके जलानि च स्वच्छमनोरमाणि ॥२॥

लोक में जितने पुष्प हैं, फल हैं और जितनी ओषधियां हैं तथा जितने स्वच्छ और मनोरम रत्न एव जल है।

महीधरा रत्नमयास्तथान्ये वनप्रदेशाश्च विवेकरम्या।
लताः सुपुष्पाभरणोज्ज्वलाश्च द्रुमाश्च ये सत्फलनम्रशाखा ॥३॥

तथा अन्य जो रत्नमय पर्वत और एकान्तरमणीय वनखड हैं, तथा जो सुन्दर पुष्पाभूषणों से उज्ज्वल लताएं और सत् फलों से झुकी शाखाओ वाले वृक्ष है।

देवादिलोकेषु च गन्धधूपा· कल्पद्रुमा रत्नमयाश्च वृक्षा.।
सरासि चाम्भोरुहभूषणानि हसस्वनात्यन्तमनोहराणि ॥४॥

देवताओं के लोको में तथा अन्यत्र जो गन्ध-धूप है, कल्पवृक्ष और रत्नमयवृक्ष हैं, तथा कमलो से भूषित, हसों की कूजन से अत्यन्त मनोहर सरोवर हैं।

अकृष्टजातानि च शस्यजातान्यन्यानि वा पूज्यविभूषणानि।
आकाशधातुप्रसरावधीनि सर्वाण्यपीमान्यपरिग्रहाणि ॥५॥

अपने आप उत्पन्न जो धान्य है अथवा आकाशधातु की व्याप्ति पर्यन्त उपलभ्य जो अन्यान्य पूजनीयजनोचित पदार्थ है। ये सब यदि परपरिगृहीत नहीं हैं तो—

आदाय बुद्ध्या मुनिपुंगवेभ्यो निर्यातयाम्येष सपुत्रकेभ्य।
गृह्णन्तु तन्मे वरदक्षिणीया महाकृपा मामनुकम्पमाना ॥६॥

इनका वुद्धि से ग्रहण कर, सपुत्र मुनिवरों के प्रति उत्सर्ग करता हूं। हे श्रेष्ठ दक्षिणा के पात्र महाकृपालुओ! मुझ पर अनुग्रह करके मेरा यह (सब उपहार) स्वीकार करो।

अपुण्यवानस्मि महादरिद्र. पूजार्थमन्यन्मम नास्ति किंचित्।
अतो ममार्थाय परार्थचित्ता गृह्णन्तु नाथा इदमात्मशक्त्या ॥७॥

अपुण्यवान् हूं, महा दरिद्र हूं, पूजा के लिए मेरे पास और कुछ नहीं हैं। अतएव हे निःस्वार्थचित्त प्रभुओ मेरे (हित के) अर्थ इसे अपनी शक्ति से स्वीकार करो।

ददामि चात्मानमहं जिनेभ्यः सर्वेण सर्वं च तदात्मजेभ्यः ।
परिग्रहं मे कुरुताग्रसत्त्वा युष्मासु दासत्वमुपैमि भक्त्या ॥८॥

बुद्धों और उनके आत्मजों के प्रति मैं सब प्रकार से पूर्ण आत्मसमर्पण करता हू। हे अग्रसत्त्वो ! मुझे स्वीकार करो। मैं भक्ति से तुम्हारा दास हू।

परिग्रहेणास्मि भवत्कृतेन निर्भीर्भवे सत्त्वहितं करोमि ।
पूर्वं च पाप समतिक्रमामि नान्यच्च पाप प्रकरोमि भूय ॥९॥

तुम्हारे स्वीकार करने से संसार में भयरहित हो मैं प्राणि-हित करूंगा। पहले के पापों को छोड दूगा तथा दूसरा पाप नहीं करूगा।

रत्नोज्ज्वलस्तम्भमनोरमेषु मुक्तामयोद्भासिवितानकेषु ।
स्वच्छोज्ज्वलस्फाटिककुट्टिमेषु सुगन्धिषु स्नानगृहेषु तेषु ॥१०॥

सुगन्ध से पूर्ण उन स्नानागारों में, जो रत्नों से देदीप्यमान स्तभों के कारण मनोरम है, जिनके वितान (चदवे) मुक्ताजटित एव भास्वर हैं, जिनके कुट्टिम (फ़र्श) स्वच्छ तथा श्वेत स्फटिक के हैं।

मनोज्ञगन्धोदकपुष्पपूर्णै कुम्भैर्महारत्नमयैरनेकै ।
स्नान करोम्येष तथागताना तदात्मजाना च सगीतवाद्य ॥११॥

मैं तथागतो और उनके आत्मजों को, सुगन्धित जल और पुष्पों से पूर्ण महारत्नों के अनेकों कलशों से, गीतवाद्यपूर्वक स्नान कराता हू।

प्रधूपितैर्धौतमलैरतुल्यैर्वस्त्रैश्च तेषा तनुमुन्मृषामि ।
तत सुरक्तानि सुधूपितानि ददामि तेभ्यो वरचीवराणि ॥१२॥

धूपे हुए निर्मल वस्त्रो से उनके शरीरों को पोंछता हू। फिर अच्छी तरह रगे, अच्छी तरह धूपे हुए, उत्तम चीवर उनको भेंट करता हूं।

दिव्यैर्मृदुश्लक्ष्णविचित्रशोभैर्वस्त्रैरलकारवरैश्चतैस्तै. ।
समन्तभद्राजितमजुघोषलोकेश्वरादीनपि मण्डयामि ॥१३॥

दिव्य, कोमल, चिकने, और विचित्र शोभावाले वस्त्रों और आभूषणों से समन्तभद्र, अजित, मजुघोष तथा लोकेश्वर आदि (बोधिसत्त्वों) को भी विभूषित करता हू।

सर्वत्रिसाहस्रविसारिगन्धैर्गन्धोत्तमैस्ताननुलेपयामि ।
सूत्तप्तसून्मृष्टसुधौतहेमप्रभोज्ज्वलान् सर्वमुनीन्द्रकायान् ॥१४॥

समूचे त्रिसाहस्र* लोकधातु में सुगन्ध को फैलाने वाले उत्तम गन्धद्रव्यों से सब

*त्रिसाहस्र—शत कोटि चतुर् (=उत्तर कुरु, अपर गोदानीय, पूर्वविदेह, जंबूद्वीप,) द्वीप।

१००० चतुर्द्वीप (चन्द्र सूर्य सुमेरु कामधातुदेव ब्रह्मलोक सहित)=चूडसाहस्र
१००० चूडसाहस्र=मध्यसाहस्र अथवा द्विसाहस्र
१००० मध्यसाहस्र=महासाहस्र अथवा त्रिसाहस्र (अभिधर्मकोश ३।७३,७४)

मुनिवरों के शरीरो को अनुलिप्त करता हूं, जो अच्छी तरह तपाए, मांजे और धोए गए सुवर्ण की प्रभा के समान उज्ज्वल हैं।

मान्दारवेन्दीवरमल्लिकाद्यैः सर्वै. सुगन्धै. कुसुमैर्मनोज्ञैः ।
अभ्यर्चयाम्यर्च्यतमान् मुनीन्द्रान् स्रग्भिश्च सस्थानमनोरमाभि ॥१५॥

मान्दारव, उत्पल तथा मल्लिका आदि सब सुगंधित मनोहर पुष्पों तथा सुन्दर गूथी हुई मालाओं द्वारा परम पूजनीय मुनिवरों की पूजा करता हू।

स्फीतस्फुरद्गन्धमनोरमैश्च तान्धूपमेघैरुपधूपयामि ।
भोज्यैश्च खाद्यैर्विविधैश्च पेयैस्तेभ्यो निवेद्य च निवेदयामि ॥१६॥

उन्हें धूप के मेघों से धूप देता हूं जो अपने फैलने वाले निर्मल गन्ध से मन को विश्राम देते हैं तथा विविध प्रकार के भोज्य, खाद्य और पेयों से उन्हें नैवेद्य अर्पित करता हूं।

रत्नप्रदीपाश्च निवेदयामि सुवर्णपद्मेषु निविष्टपंक्तीन् ।
गन्धोपलिप्तेषु च कुट्टिमेषु किरामि पुष्पप्रकरान् मनोज्ञान् ॥१७॥

सुवर्ण कमलों पर पक्ति में सजे रत्न-प्रदीप समर्पित करता हूं और सुगन्ध से लिप्त कुट्टिमो पर मनोहर पुष्पसमूह बिखेरता हू।

प्रलम्बमुक्तामणिहारशोभानाभास्वरान् दिग्मुखमण्डनास्तान् ।
विमानमेघान् स्तुतिगीतरम्यान् मैत्रीमयेभ्योऽपि निवेदयामि ॥१८॥

लटकते हुए मुक्तामणियों के हारों से शोभित, चमकते हुए, दिशामुखों को विभूषित करनेवाले, स्तुति और गीतों से रमणीय उन विमान मेघों को मैत्रीमय (बुद्धों और बोधिसत्त्वों) को भेंट करता हूं।

सुवर्णदण्डैः कमनीयरूपै· संसक्तमुक्तानि समुच्छ्रितानि ।
प्रधारयाम्येष महामुनीना रत्नातपत्राण्यतिशोभनानि ॥१९॥

सुवर्णखचित-दंड, रूपमनोहर, मुक्ताजटित, अतिरमणीय, तने हुए, रत्नमय छत्र महामुनियों के ऊपर धारण कराता हूं।

अत. पर प्रतिष्ठन्तां पूजामेघा मनोरमा·।
तूर्यसगीतिमेघाश्च सर्वसत्त्वप्रहर्षणाः ॥२०॥

इसके बाद मनोरम पूजा-मेघ तथा सब प्राणियों को आनंदित करने वाले नृत्य-गीत-वादित्रमेघ प्रवृत्त हो।

सर्वसद्धर्मरत्नेषु चैत्येषु प्रतिमासु च ।
पुष्परत्नादिवर्षाश्च प्रवर्तन्ता निरन्तरं ॥२१॥

संपूर्ण सद्धर्म-रत्नो, स्तूपो और प्रतिमाओं पर निरन्तर पुष्प रत्नादि की वर्षा होती रहे।

मंजुघोषप्रभृतय. पूजयन्ति यथा जिनान् ।
तथा तथागतान् नाथान् सपुत्रान् पूजयाम्यहं ॥२२॥

मंजुघोष प्रभृति बोधिसत्त्व जिस तरह बुद्धो की पूजा करते है, उसी तरह प्रभु तथागतों की पुत्रोसहित मै पूजा करता हूं।

स्वरांगसागरै स्तोत्रै स्तौमि चाह गुणोदधीन् ।
स्तुतिसगीतिमेघाश्च संभवन्त्वेष्वनन्यथा ॥२३॥

स्वरप्रभेदों के समुद्र रूप स्तोत्रो से मै उन गुण-समुद्रो की स्तुति करता हू। यहां स्तुति-सगीतियों के मेघ अनुरूप भाव से उमड पडें।

सर्वक्षेत्राणुसंख्यैश्च प्रणामै प्रणमाम्यहं ।
सर्वत्र्यध्वगतान् बुद्धान् सहधर्मगणोत्तमान् ॥२४॥

त्रैकालिक सब बुद्धो को, उत्तम धर्म और सघ सहित, सब बुद्धक्षेत्रो के परमाणुओ की सख्या जितने, प्रणामों से प्रणाम करता हू।

सर्वचैत्यानि वन्देऽह बोधिसत्त्वाश्रयांस्तथा।
नम॰ करोम्युपाध्यायान् अभिवन्द्यान् यतींस्तथा ॥२५॥

सब स्तूपों और बोधिसत्त्व-मदिरो की वदना करता हू। उपाध्यायो और अभिवादन के योग्य तपस्वियो को नमस्कार करता हू।

बुद्ध गच्छामि शरण यावदाबोधिमण्डत. ।
धर्मं गच्छामि शरण बोधिसत्त्वगण तथा ॥२६॥

जितना काल बोधितत्त्व की प्राप्ति में लगे उतने काल तक के लिए मं बुद्ध की शरण जाता हूं, धर्म की शरण जाता हू और बोधिसत्व-सघ की शरण जाता हू।

विज्ञापयामि सबुद्धान् सर्वदिक्षु व्यवस्थितान् ।
महाकारुणिकाश्चापि बोधिसत्त्वान् कृतांजलि ॥२७॥

सब दिशाओं में व्यापक होकर स्थित महाकारुणिक सबुद्धो और बोधिसत्त्वो से अंजलि बाध निवेदन करता हू।

अनादिमति ससारे जन्मन्यत्रैव वा पुन ।
यन्मया पशुना पाप कृत कारितमेव च ॥२८॥

यच्चानुमोदितं किंचिदात्मघाताय मोहित ।
तदत्यय देशयामि पश्चात्तापेन तापित ॥२९॥

आदि रहित ससार में अथवा इसी जन्म में मुझ पशु ने जो पाप किए और कराए है और मोहवश जो आत्मघात का अनुमोदन किया है, उस अपराध के पश्चात्ताप से खिन्न होकर मै देशना करता हू।

रत्नत्रयेऽपकारो यो मातापितृषु वा मया।
गुरुष्वन्येषु वा क्षेपात्कायवाग्बुद्धिभि कृत ॥३०॥

अनेकदोषदुष्टेन मया पापेन नायका॰ ।
यत्कृतं दारुण पाप तत्सर्वं देशयाम्यहं ॥३१॥

त्रिरत्न के प्रति, माता-पिता के प्रति तथा अन्य गुरुजनो के प्रति मोहवश काय-वाग्-मन से जो अपकार हो गए है (अथवा जानबूझ कर) अनेक दोषों से दूषित मुझ पातकी ने जो दारुण पाप किए है, उन सब की देशना करता हू ।

कथ च नि मराम्यस्मान्नित्योद्विग्नो ऽस्मि नायका ।
मा भून्मे मृत्युरचिरादक्षीणे पापसचये ॥३२॥

कैसे इस (पातक) से निकलू ! नायको, मै सदा व्याकुल रहता हू । पापराशि के क्षीण हुए विना झटपट मेरी मृत्यु न हो ।

कथ च नि सराम्यस्मात् परित्रायन सत्वर ।
मा ममाक्षीणपापस्य मरण शीघ्रमेष्यति ॥३३॥

शीघ्र बचाओ ! कैसे इस (पाप) से मेरा उद्धार होगा । विना पाप क्षीण हुए मुझे शीघ्र मरना न पडे ।

कृताकृतापरीक्षोऽय मृत्युर्विश्रम्भघातक ।
स्वस्थास्वस्थैरविश्वास्य आकस्मिकमहाशनि ॥३४॥

यह मृत्यु विश्वासघाती है, यह कभी नहीं देखती कि क्या किया गया है और क्या नहीं। इस अकस्मात् गिरनेवाली गाज के रहते स्वस्थ या अस्वस्थ होने का भरोसा ही क्या ?

प्रियाप्रियनिमित्तेन पाप कृतमनेकधा ।
सर्वमुत्सृज्य गन्तव्यमिति न ज्ञातमीदृश ॥३५॥

दोनों प्रियो और अप्रियो के कारण मैने अनेक पाप किए है। सब को यहीं छोड जाना होगा। ऐसा कभी सोचा तक नहीं।

अप्रिया न भविष्यन्ति प्रियो मे न भविष्यति ।
अह च न भविष्यामि सर्वं च न भविष्यति ॥३६॥

अप्रिय न रहेंगे, मेरा प्रिय न रहेगा, मै न रहूगा तथा (यह) सब (भी) न रहेगा ।

तत्तत्स्मरणता याति यद्यद्वस्त्वनुभूयते ।
स्वप्नानुभूतवत्सर्वं गत न पुनरीक्ष्यते ॥३७॥

जिस-जिसका अनुभव होता है उस-उस वस्तु का स्मरण होता है । अतीत स्वप्न के अनुभव के समान फिर नहीं दिखाई पड़ता।

इहैव तिष्ठतस्तावद् गता नैके प्रियाप्रिया ।
तन्निमित्त तु यत्पाप तत् स्थित घोरमग्रत. ॥३८॥

यहीं रहते-रहते अनेक प्रिय और अप्रिय चले गए पर उनके निमित्त जो पाप किया गया वह घोर रूप से आगे खडा है।

एवमागन्तुकोऽस्मीति न मया प्रत्यवेक्षित ।
मोहानुनयविद्वेषै. कृत पापमनेकधा ॥३९॥

मैंने नहीं सोचा कि मैं इस तरह क्षण भर का मेहमान हू। राग, द्वेष और मोहवश मैंने अनेक प्रकार के पाप किए।

रात्रिदिवमविश्राममायुषो वर्धते व्यय ।
आयस्य चागमो नास्ति न मरिष्यामि किं न्वह ॥४०॥

दिनरात निरतर आयु का व्यय वढता जाता है पर आय कहीं से नही होती। फिर भला मैं क्यो न मरूगा।

इह शय्यागतेनापि बन्धुमध्येऽपि तिष्ठता ।
मयैवेकेन सोढव्या मर्मच्छेदादिवेदना ॥४१॥

यहा खाट पर पडे रह कर भी, बन्धुओं के बीच रहते हुए भी, (मरण काल में) मुझे अकेले ही मर्म-छेद आदि पीडाए सहनी होगी–

यमदूतैर्गृहीतस्य कुतो बन्धु कुत सुहृत् ।
पुण्यमेक तदा त्राण मया तच्च न सेवित ॥४२॥

यमदूतो द्वारा पकडे जाने पर कहा वन्धु ! कहा मित्र ! ! उस समय एकमात्र शरण पुण्य है और उसका मैंने आचरण नहीं किया।

अनित्यजीवितासङ्गादिद भयमजानता ।
प्रमत्तेन मया नाथा बहु पापमुपार्जित ॥४३॥

क्षणभगुर जीवन में आसक्ति के कारण, इस भय को न जानते हुए, हे प्रभुओ! मुझ प्रमत्तने बहुत पाप कमाए।

अङ्गच्छेदार्थमप्यद्य नीयमानो विशुष्यति ।
पिपासितो दीनदृष्टिरन्यदेवेक्षते जगत् ॥४४॥

आज अगच्छेद के लिए ले जाया जाने वाला व्यक्ति भी (डर के मारे) सूख जाता है, उसे प्यास लगती है और उस दीनदृष्टि को जगत् कुछ और ही दिखाई पडता है।

किं पुनर्भैरवाकारैर्यमदूतैरधिष्ठित· ।
महात्रासज्वरग्रस्त· पुरीषोत्सर्गवेष्टित ॥४५॥

कातरैर्दृष्टिपातैश्च त्राणान्वेषी चतुर्दिश ।
को मे महाभयादस्मात् साधुस्त्राण भविष्यति ॥४६॥

त्राणशून्या दिशो दृष्ट्वा पुन समोहमागत ।
तदाह किं करिष्यामि तस्मिन् स्थाने महाभये ॥४७॥

फिर भयकराकृति यमदूतों से पकडे जाने पर, महाभय रूपी ज्वर से ग्रस्त, मलमूत्र में लतपत, 'कौन साधु इस महाभय में मुझे शरण देगा' (यह सोचते), कातर निगाहो से चारो दिशाओं में शरण खोजते हुए, (पर) दिशाओं को शरणरहित देख, मूर्छित हो जाने पर, उस समय उस महाभय के स्थान में मैं क्या करूंगा?

अद्यैव शरण यामि जगन्नाथान् महाबलान् ।
जगद्रक्षार्थमुद्युक्तान् सर्वत्रासहरान् जिनान् ॥४८॥

आज ही जगत् की रक्षा में उद्यत, सर्वभयहारी, महाबली, जगन्नाथ बुद्धों की शरण जाता हू ।

तैश्चाप्यधिगत धर्म ससारभयनाशनं ।
शरण यामि भावेन बोधिसत्त्वगण तथा ॥४९॥

उनके द्वारा साक्षात्कार किए गए धर्म को, जो संसार के भय का नाशक है, तथा बोधिसत्त्वसघ की भक्ति से शरण जाता हू ।

समन्तभद्रायात्मानं ददामि भयविह्वल ।
पुनश्च मञ्जुघोषाय ददाम्यात्मानमात्मना ॥५०॥

भय से व्याकुल हो मैं समतभद्र को आत्मदान देता हू, फिर स्वय मजुघोष को आत्मसमर्पण करता हू ।

त चावलोकित नाथ कृपाव्याकुलचारिण ।
विरौम्यार्तरव भीत स मा रक्षतु पापिन ॥५१॥

उन करुणा से व्याकुल हो दौड पडने वाले अवलोकितेश्वर को मैं भयभीत होकर कातर स्वर से पुकारता हू, वे मुझ पापी की रक्षा करें।

आर्यमाकाशगर्भं च क्षितिगर्भं च भावत. ।
सर्वान् महाकृपाश्चापि त्राणान्वेषी विरौम्यह ॥५२॥

मैं शरण खोजता हुआ, अपने अन्तर से, आर्य आकाशगर्भ तथा क्षितिगर्भ एव सब महाकारुणिको को पुकारता हू ।

य दृष्ट्वैव च सन्त्रस्ता पलायन्ते चतुर्दिश ।
यमदूतादयो दुष्टास्त नमस्यामि वज्रिण ॥५३॥

जिन्हें देखते ही यमदूत आदि दुष्ट डर कर चारो दिशाओ में भाग जाते हैं, उन वज्री को नमस्कार करता हू ।

अतीत्य युष्मद्वचन साप्रत भयदर्शनात् ।
शरणं यामि वो भीतो भयं नाशयत द्रुत ॥५४॥

तुम्हारी बात न मान कर, अब भय देख कर डरा हुआ, मैं तुम्हारी शरण जाता हू, शीघ्र भय दूर करो।

इत्वरव्याधिभीतोऽपि वैद्यवाक्य न लङ्घयेत् ।
किमु व्याधिशतैर्ग्रस्तश्चतुर्भिश्चतुरुत्तरैः ॥५५॥

क्षणिक व्याधि के भय से भी कोई वैद्य का वचन नही टालता, फिर चार अधिक चार सौ* व्याधियो से ग्रस्त (जन) का कहना ही क्या ?

एकेनापि यत सर्वे जम्बूद्वीपगता नरा ।
नश्यन्ति येषा भैषज्य सर्वदिक्षु न विद्यते ॥५६॥

एक ही व्याधि से जबू द्वीप के सब लोग मरते (रहते) है, जिनकी चिकित्सा सब दिशाओ में ढूढे नहीं मिलती ।

तत्र सर्वज्ञवैद्यस्य सर्वशल्यापहारिण ।
वाक्यमुल्लघयामीति धिग् मामत्यन्तमोहित ॥५७॥

ऐसा होने पर भी, सब व्याधियो के दूर करने वाले, सर्वज्ञ वैद्य की बात का मै उल्लघन करता हू। मुझ महामूढ को धिक्कार !

अत्यप्रमत्तस्तिष्ठामि प्रपातेष्वितरेष्वपि ।
किमु योजनसाहस्रे प्रपाते दीर्घकालिके ॥५८॥

छोटे-मोटे प्रपातो से मै अत्यन्त सावधान रहता हू, फिर सहस्र योजन गहरे प्रपात से, जहा चिरकाल रहना पडे, कहना ही क्या ?

, अद्यैव मरण नैति न युक्ता मे सुखासिका ।
अवश्यमेति सा वेला न भविष्याम्यह यदा ॥५९॥

आज ही तो मृत्यु आ नहीं रही ! मुझे सुख से बैठना ठीक नहीं। अवश्य ही वह समय आएगा जब मै नहीं रहूगा ।

अभय केन मे दत्त नि.सरिष्यामि वा कथ ।
अवश्य न भविष्यामि कस्मान्मे सुस्थित मन ॥६०॥

किसने मुझे अभय दे रखा है ? कैसे निस्तार होगा ? अवश्य (एक दिन मै यहां) न हूगा। फिर भी मेरा मन क्यो सुस्थिर है ?

पूर्वानुभूतनष्टेभ्य कि मे सारमवस्थित ।
येषु मेऽभिनिविष्टेन गुरूणा लघित वच. ॥६१॥

पूर्वानुभूत (वस्तुओ) के नाश हो जाने पर मेरे पास सार बचा ही क्या कि जिनमें आसक्त हो मैने गुरुवचन न माने ।

जीवलोकमिम त्यक्त्वा बन्धून् परिचितास्तथा ।
एकाकी क्वापि यास्यामि कि मे सर्वै॰ प्रियाप्रियै ॥६२॥

यह जीवलोक, बन्धु तथा परिचित, (सभी को) छोड कहीं अकेला चला जाऊगा, फिर सब प्रियाप्रियो से मेरा (लेना-देना) क्या ?

---

*एक कालमृत्यु तथा सौ अकाल मृत्यु मिलकर १०१ व्याधिया होती है। इन्हीं की सख्या वात, पित्त, कफ तथा सन्निपात भेद से ४०४ हो जाती है।

इयमेव तु मे चिन्ता युक्ता रात्रिदिवं सदा।
अशुभान्नियत दु ख नि:सरेय तत. कथ ॥६३॥

रात-दिन सदा मुझे यही चिन्ता करनी चाहिए कि अपुण्य से दु ख निश्चित है और मैं उससे कैसे पार होऊ?

मया बालेन मूढेन यत् किंचित् पापमाचित।
प्रकृत्या यच्च सावद्य प्रज्ञप्त्यावद्यमेव च ॥६४॥

तत्सर्व देशयाम्येष नाथानामग्रत. स्थित।
कृताञ्जलिर्दु:खभीत प्रणिपत्य मुहुर्मुहु ॥६५॥

जो भी प्रकृतिसावद्य* और प्रज्ञप्तिसावद्य** पाप मुझ अबोध मूढ ने कमाए, उन सब की देशना, दु ख से घबराकर मैं, प्रभुओं के सामने हाथ जोड, बारबार प्रणाम कर, करता हू।

अत्ययमत्ययत्वेन प्रतिगृह्णन्तु नायका।
न भद्रकमिद नाथा न कर्तव्य पुनर्मया ॥६६॥

हे नायको, अपराध को अपराध के रूप में ग्रहण करो। हे प्रभुओ, मैं यह पाप फिर न करूगा।

---

*प्रकृतिसावद्य=स्वभाव से निन्दनीय, प्राणिवध, चोरी, व्यभिचार, असत्यभाषण आदि दुष्कर्म।

**प्रज्ञप्तिसावद्य=व्रत ग्रहण करके भग करने के कारण निन्दनीय, विकालभोजन, कामिनी-काचन परिग्रह आदि दुष्कर्म।

## तृतीय परिच्छेद

# बोधिचित्त-परिग्रह

अपायदु खविश्राम सर्वसत्त्वै कृत शुभ ।
अनुमोदे प्रमोदेन सुख तिष्ठन्तु दु खिता ॥१॥

दुर्गतियो के दु ख से विश्राम और सब प्राणियो द्वारा किए गए पुण्य का अनुमोदन प्रमोद से करता हू । दु खित सुखी हो ।

ससारदु खनिर्मोक्षमनुमोदे शरीरिणा ।
बोधिसत्त्वत्वबुद्धत्वमनुमोदे च तायिना ॥२॥

शरीरधारियो की सासारिक दु खो से मुक्ति का अनुमोदन करता हू । तायियो* की बोधिसत्त्वता और बुद्धता का अनुमोदन करता हू ।

चित्तोत्पादसमुद्राश्च सर्वसत्त्वसुखावहान् ।
सर्वसत्त्वहिताधानाननुमोदे च शासिना ॥३॥

सब प्राणियो को सुख देनेवाले तथा सब प्राणियो का हित करनेवाले बोधिसत्त्वों के चित्तोत्पाद समुद्रों का अनुमोदन करता हू ।

सर्वासु दिक्षु सबुद्धान् प्रार्थयामि कृताञ्जलि ।
धर्मप्रदीप कुर्वन्तु मोहाद् दु खप्रपातिनां ॥४॥

सब दिशाओ में (विद्यमान) सबुद्धो से हाथ जोड प्रार्थना करता हूं कि वे मोहवश दु ख-पतितो के लिए धर्मदीप जलाए ।

निर्वातुकामांश्च जिनान् याचयामि कृताञ्जलि. ।
कल्पाननन्तांस्तिष्ठन्तु मा भूवन्धमिद जगत् ॥५॥

परिनिर्वाणाभिमुख बुद्धो से साजलि याचना करता हू कि वे अनंत कल्पो तक ठहरें, ताकि जगत् में अधेरा न हो ।

एव सर्वमिद कृत्वा यन्मयासादित शुभ ।
तेन स्यां सर्वसत्त्वाना सर्वदु खप्रशान्तिकृत् ॥६॥

एव यह सब करके मैंने जो पुण्यार्जन किया है, उससे सब प्राणियो का सर्वदु खशमनकारी बनू ।

---

*तायी=तायिन्=तादिन्=वैदिक तादृश्, अक्षरार्थ 'वैसा' । जो भाव आज 'सन्त' शब्द से प्रकट होता है । उसी का द्योतक कभी 'तायी' या 'तादी' था । इस शब्द पर अनेक अर्थों का बाद में आरोप हुआ है ।

ग्लानानामस्मि भैषज्य भवेय वैद्य एव च ।
तदुपस्थायकश्चैव यावद् रोगापुनर्भव ॥७॥

व्याधि दूर होने तक मैं रोगियों के लिए औषध बनू, वैद्य भी बनू और परिचारक भी बनू ।

क्षुत्पिपासाव्यथा हन्यामन्नपानप्रवर्षणै. ।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेय पानभोजन ॥८॥

अन्न-पान की वर्षा से क्षुधा और पिपासा की व्यथा मिटाऊ तथा दुर्भिक्षान्तरकल्पो* में पान-भोजन बनू ।

दरिद्राणा च सत्त्वाना निधि स्यामहमक्षय ।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रत ॥९॥

दरिद्र प्राणियो के लिए मैं अक्षय निधि बनू और नाना प्रकार के उपकरणो से उनके आगे उपस्थित रहू ।

आत्मभावास्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगत शुभ ।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ॥१०॥

मैं अपने आत्मभाव (=शरीर), भोगों और त्रैकालिक सकल पुण्यो का अनासक्ति भाव से सब प्राणियो की अर्थसिद्धि के लिए उत्सर्ग करता हू ।

सर्वत्यागश्च निर्वाण निर्वाणार्थि च मे मन ।
त्यक्तव्य चेन्मया सर्व वर सत्त्वेषु दीयतां ॥११॥

सर्वत्याग ही निर्वाण है और मेरा मन निर्वाणार्थी है । मुझे यदि सर्वत्याग करना है तो अच्छा है कि प्राणियो को दू ।

यथा सुखीकृतश्चात्मा मयाय सर्वदेहिनां ।
घ्नन्तु निन्दन्तु वा नित्यमाकिरन्तु च पासुभि. ॥१२॥

सब देहधारियो को जैसे सुख हो वैसे यह शरीर मैंने (निछावर) कर दिया है। वे अब चाहे इसकी हत्या करें, निंदा करें अथवा इस पर धूल फेंकें ।

क्रीडन्तु मम कायेन हसन्तु विलसन्तु च ।
दत्तस्तेभ्यो मया कायश्चिन्तया किं ममानया ॥१३॥

---

* सवर्त (=प्रलय) के तीन भेद हैं—तेज.सवर्त, आप.संवर्त और वायुसवर्त । आप.सवर्त से पूर्व लोग शस्त्रों द्वारा लड-भिड कर बहुत कुछ ध्वस्त हो चुकते हैं । तेज संवर्त से पहले लोग व्याधियो से नष्ट हो चुकते हैं तथा वायुसवर्त से पूर्व लोगों का दुर्भिक्ष से बहुत कुछ सहार हो चुकता है । [ महाव्युत्पत्ति cclii 64-70 ] पचिका पृष्ठ ७८ टिप्पणी १ ।

मेरे शरीर से चाहे खेलें, हसे और विलास करें। मुझे इसकी क्या चिन्ता ? मैंने शरीर उन्हें वे ही डाला है।

कारयन्तु च कर्माणि यानि तेषा सुखावह ।
अनर्थ कस्य चिन्मा भून्मामालम्व्य कदा चन ॥१४॥

जिन-जिन कार्यों से उन्हें सुख मिलता हो वे-वे कार्य (मेरे शरीर से) कराए। मेरे कारण कभी किसी का अनर्थ न हो।

येषा क्रुद्धा प्रसन्ना वा मामालम्व्य मतिर्भवेत् ।
तेषा स एव हेतु स्यान्नित्य सर्वार्थसिद्धये ॥१५॥

जिनका मन मेरे कारण क्रुद्ध या प्रसन्न हो उनके लिए वही सर्वार्थसिद्धि का कारण हो।

अभ्याख्यास्यन्ति मा ये च ये चान्ये ऽप्यपकारिण ।
उत्प्रासकास्तथान्ये ऽपि सर्वे स्युर्बोधिभागिनः ॥१६॥

जो मेरे निंदक होंगे, और जो भी अपकारी होंगे, तथा और भी जो उपहास-कर्ता आदि होंगे, वे सब बोधिलाभी हो।

अनाथानामह नाथ सार्थवाहश्च यायिना ।
पारेप्सूना च नौभूत सेतु सङ्क्रम एव च ॥१७॥

मैं अनार्थों का नाथ, यात्रियो का सार्थवाह, तथा पारेच्छुको की नौका, सेतु एव बेडा बनू।

दीपार्थिनामह दीप शय्या शय्यार्थिनामह ।
दासार्थिनामह दासो भवेय सर्वदेहिना ॥१८॥

दीपार्थियों का मैं दीप, शय्यार्थियों की मैं शय्या, (तथा) दासार्थियो का मैं दास होऊ।

चिन्तामणिर्भद्रघट सिद्धविद्या महौषधि ।
भवेय कल्पवृक्षश्च कामधेनुश्च देहिनां ॥१९॥

प्राणियों के लिए मैं चिन्तामणि, भद्रघट, सिद्धविद्या, महौषधि, कल्पवृक्ष और कामधेनु होऊ।

पृथिव्यादीनि भूतानि निःशेषाकाशवासिनां ।
सत्त्वानामप्रमेयाणां यथा भोगान्यनेकधा ॥२०॥

जैसे पृथ्वी आदि महाभूत अनन्त आकाश पर्यन्त व्यापी अप्रमेय प्राणियों के नाना प्रकार से भोग्य होते हैं।--

एवमाकाशनिष्ठस्य सत्त्वधातोरनेकधा ।
भवेयमुपजीव्योऽह यावत्सर्वे न निर्वृता· ॥२१॥

वैसे ही आकाशव्यापी प्राणिलोक के लिए में तब तक नाना प्रकार से उपजीव्य (आश्रय) होऊ, जब तक कि सब मोक्षलाभ न कर लें।

यथा गृहीतं सुगतैर्बोधिचित्त पुरातनैः।
ते वोधिसत्त्वशिक्षायामानुपूर्व्या यथा स्थिता ॥२२॥

तद्वदुत्पादयाम्येष वोधिचित्त जगद्धिते।
तद्वदेव च ता. शिक्षा. शिक्षिष्यामि यथाक्रम ॥२३॥*

जैसे अतीत के वुद्धों ने वोधिचित्त का ग्रहण किया, जैसे उन्होंने क्रम से वोधिसत्त्वों की शिक्षाओ का पालन किया, वैसे ही जगत्-कल्याण के लिए मैं वोधिचित्त उत्पन्न कर उन शिक्षाओं को वैसे ही क्रम से सीखूंगा।

एव गृहीत्वा मतिमान् वोधिचित्त प्रसादत ।
पुन. पृष्ठस्य पुष्ट्यर्थं चित्तमेव प्रहर्षयेत् ॥२४॥

एवं श्रद्धा के साथ वुद्धिमान् वोधिचित्त ग्रहण कर फिर पूर्व की पुष्टि के लिए यों चित्त हर्षित करे :–

अद्य मे सफलं जन्म सुलब्धो मानुषो भव ।
अद्य वुद्धकुले जातो वुद्धपुत्रोऽस्मि सांप्रतं ॥२५॥

आज मेरा जन्म सफल है, मनुष्यजन्म सुलाभवान् है। आज वुद्धकुल में मेरा जन्म हुआ है। अव मैं वुद्धपुत्र हूं।

तयाधुना मया कार्य स्वकुलोचितकारिणा।
निर्मलस्य कुलस्यास्य कलंको न भवेद्यया ॥२६॥

अव मुझे अपने कुल के कर्तव्यपरायणों की भाति कार्य करना है, जिसमें इस निर्मल कुल पर कलंक न लगे।

अन्ध सकारकूटेभ्यो यथा रत्नमवाप्नुयात्।
तया कयचिदप्येतद् वोधिचित्तं ममोदित ॥२७॥

अन्धे को जैसे कूडे के ढेरो से रत्न मिल जाए, वैसे ही यह वोधिचित्त किसी तरह मुझ में उवित हुआ है।

जगन्मृत्युविनाशाय जातमेतद्रसायन ।
जगद्दारिद्र्यशमन निधानमिदमक्षय ॥२८॥

जगत् की मृत्यु के नाश के लिए यह रसायन है। जगत् की दरिद्रता दूर करने वाली यह अक्षय निधि है।

जगद्व्याधिप्रशमन भैषज्यमिदमुत्तम ।
भवाध्वभ्रमणश्रान्तजगद्विश्रामपादप· ॥२९॥

---

*३।२३ से लेकर ४।४५ तक श्लोक तथा टीका वोधिचर्यावतार के वगाल एशियाटिक सोसायटी के सस्करण में खडित हैं।

जगत् की व्याधि शान्त करने वाली यह उत्तम ओषधि है। भवमार्ग में घूम-घूम कर थके जगत् का यह विश्रामदायक वृक्ष है।

दुर्गत्युत्तरणे सेतु सामान्य सर्वयायिना।
जगत्क्लेशोष्मशमन उदितश्चित्तचन्द्रमा ॥३०॥

सब यात्रियो के लिए यह सर्वसाधारण सेतु है, जिससे दुर्गति (समुद्र) पार किया जाता है। जगत् के क्लेशताप को शान्त करनेवाला, यह उदित हुआ बोधिचित्त-चन्द्रमा है।

जगदज्ञानतिमिरप्रोत्सारणमहारवि।
सद्धर्मक्षीरमथनान्नवनीत समुत्थित ॥३१॥

जगत् के अज्ञानान्धकार का नाशक यह महासूर्य है। सद्धर्मक्षीर के मन्थन से निकला हुआ यह नवनीत है।

सुखभोगबुभुक्षितस्य वा जनसार्थस्य भवाध्वचारिण।
सुखसत्रमिद ह्युपस्थित सकलाभ्यागतसत्त्वतर्पण ॥३२॥

भवमार्ग के यात्री, सुखभोग के भूखे, प्राणिसमूह के लिए सकल अतिथिजन तृप्तकारी यह ब्रह्मभोज उपस्थित हुआ है।

जगदद्य निमन्त्रित मया
जनसार्थस्य भवाध्वचारिण।

पुरत खलु सर्वतायिना-
मभिनन्दन्तु सुरासुरादय ॥३३॥

भवमार्ग के यात्री, प्राणिसमूह के जगत् को सब तथागतों के सामने निमन्त्रित करता हू। सुर, असुर आदि सभी इसका अभिनन्दन करें।

## चतुर्थ परिच्छेद

# बोधिचित्ताप्रमाद

एवं गृहीत्वा सुदृढं बोधिचित्तं जिनात्मज ।
शिक्षानतिक्रमे यत्नं कुर्यान्नित्यमतन्द्रित ॥१॥

इस प्रकार बुद्धपुत्र को, दृढता से बोधिचित्त ग्रहण कर, सावधान हो यत्न करना चाहिए कि शिक्षाप्रतिकूल आचरण न हो।

सहसा यत्समारब्धं सम्यग्यदविचारितं ।
तत्र कुर्यान्नवेत्येव प्रतिज्ञायापि युज्यते ॥२॥

जिसका सहसा आरंभ हुआ हो, जिस पर सम्यक् विचार न हुआ हो, उस (कार्य) के करने या न करने का विकल्प उचित है, भले ही उसके करने की प्रतिज्ञा कर ली गयी हो।

विचारितं तु यद् बुद्धैर्महाप्राज्ञैश्च तत्सुतैः ।
मयापि च यथाशक्ति तत्र किं परिलम्ब्यते ॥३॥

पर जिस पर बुद्ध और उनके महाबुद्धिमान् पुत्र विचार कर चुके हैं, उसमें मैं भरसक विलंब क्यों करूं।

यदि चैवं प्रतिज्ञाय साधयेयं न कर्मणा ।
एतान् सर्वान् विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥४॥

इस प्रकार प्रतिज्ञा कर यदि उसे कार्य द्वारा पूर्ण न करूं तो इन सब (प्राणियों) को धोखा देकर (पता नहीं) मेरी क्या गति होगी।

मनसा चिन्तयित्वापि यो न दद्यात्पुनर्नरः ।
स प्रेतो भवतीत्युक्तमल्पमात्रेऽपि वस्तुनि ॥५॥

जो मन में छोटी सी भी वस्तु देने का संकल्प कर फिर नहीं देता, वह प्रेत होता है। ऐसा कहा गया है।

किमुतानुत्तरं सौख्यमुच्चैरुद्घुष्य भावतः ।
जगत् सर्वं विसंवाद्य का गतिर्मे भविष्यति ॥६॥

भाव के साथ, सर्वोत्तम सुख (दान) की ऊंची घोषणा करने के बाद, सब जगत् को धोखा देकर मेरी क्या गति होगी!

वेत्ति सर्वज्ञ एवैतामचिन्त्यां कर्मणो गतिं ।
यद् बोधिचित्तत्यागे ऽपि मोचयत्येव तान् नरान् ॥७॥

सर्वज्ञ बुद्ध ही कर्म की इस अचिन्त्य गति को जानते हैं, जो बोधिचित्त के त्याग करने पर भी उन मनुष्यों को मुक्त करते हैं।

बोधिसत्त्वस्य तेनैव सर्वापत्तिगरीयसी।
यस्मादापद्यमानोऽसौ सर्वसत्त्वार्थहानिकृत् ॥८॥

इसलिए इस प्रकार (बोधिचित्त त्याग देने से) बोधिसत्त्व को सब आपत्तियों में गुरुतम (आपत्ति) लगती है। क्योंकि इस आपत्तिवश वह सब प्राणियों की स्वार्थहानि करता है।

योऽप्यन्यः क्षणमप्यस्य पुण्यविघ्नं करिष्यति।
तस्य दुर्गतिपर्यन्तो नास्ति सत्त्वार्थघातिन ॥९॥

जो कोई दूसरा इस (बोधिसत्त्व) के पुण्य में विघ्न करेगा, उस प्राणियों के स्वार्थघाती की दुर्गति का अन्त नहीं है।

एकस्यापि हि सत्त्वस्य हित हत्वा हतो भवेत्।
अशेषाकाशपर्यन्तवासिना किमु देहिना ॥१०॥

एक प्राणी का हितघात करके भी (मनुष्य) हीन हो जाता है। सर्वाकाशपर्यन्त व्यापी प्राणियों का फिर कहना ही क्या?

एवमापत्तिबलतो बोधिचित्तबलेन च।
दोलायमान· ससारे भूमिप्राप्तौ चिरायते ॥११॥

एव आपत्तिवश (पतन) तथा बोधिचित्तवश (उत्थान की ओर अग्रसर प्राणी) संसार में दोलायमान रहने से देर में (बोधिसत्त्व) भूमि प्राप्त कर पाता है।

तस्माद्यथाप्रतिज्ञात साधनीय मयादरात्।
नाद्य चेत् क्रियते यत्नस्तलेनास्मि तल गत ॥१२॥

इसलिए जैसी प्रतिज्ञा की है उसे पूरा करना होगा। आज यदि यत्न नहीं किया तो मै (रसा-) तल के तल में गया।

अप्रमेया गता बुद्धा· सर्वसत्त्वगवेषका:।
नैषामहं स्वदोषेण चिकित्सागोचर गत ॥१३॥

सव प्राणियों की खोज-खबर रखनेवाले असख्य बुद्ध (आकर) चले गए पर अपन दोष से मैं इनकी चिकित्सा का पात्र न बन सका।

अद्यापि चेत्तथैव स्यां यथैवाह पुन पुन।
दुर्गतिव्याधिमरणच्छेदभेदाद्यवाप्नुया ॥१४॥

जैसे मैंने बारबार दुर्गति, व्याधि, मरण, छेदन, भेदन आदि पाए, वैसे ही यदि आज भी (पाता) रहू (तो)—

कदा तथागतोत्पादं श्रद्धा मानुष्यमेव च।
कुशलाभ्यासयोग्यत्वमेव लप्स्येऽतिदुर्लभं ॥१५॥

मुझे बुद्धोत्पाद, श्रद्धा, मनुष्यजन्म तथा इस प्रकार पुण्याचरण की अत्यन्त दुर्लभ योग्यता फिर कब मिलेगी।

आरोग्यदिवस चेद सभक्त निरुपद्रव।
आयुःक्षण विसवादि कायो याचितकोपमः ॥१६॥

यह आरोग्य-दिवस है, भात भी प्रस्तुत है, कोई उपद्रव नहीं है, (पर) आयु का क्षण वचक है, शरीर उधार जैसी वस्तु है।

नहीदृशैर्मस्च्चरितैर्मानुष्य लभ्यते पुन।
अलभ्यमाने मानुष्ये पापमेव कुत. शुभं ॥१७॥

मेरे इस प्रकार के आचरणों से मनुष्यजन्म फिर न मिल सकेगा। मनुष्यजन्म के अभाव में पाप ही होगा। पुण्य भला कहा ?

यदा कुशलयोग्योऽपि कुशल न करोम्यहं।
अपायदुःखैः समूढ. किं करिष्याम्यह तदा ॥१८॥

पुण्य करने के योग्य होकर भी जब मैं पुण्य नहीं करता, तब दुर्गति-दुःखों से मूर्छित होकर क्या करूंगा ?

अकुर्वतश्च कुशलं पाप चाप्युपचिन्वतः।
हत सुगतिशब्दोऽपि कल्पकोटिशतैरपि ॥१९॥

पुण्य न कर, पाप ही कमाने वालों को, शत-शत कल्पकोटि के भीतर सुगति-शब्द भी नहीं सुनने को मिलता।

अत एवाह भगवान् मानुष्यमतिदुर्लभ।
महार्णवयुगच्छिद्रकूर्मग्रीवार्पणोपम ॥२०॥

इसीलिए भगवान् ने मनुष्यजन्म को, महासमुद्र में (उतराते) जुए (yoke) के छेद में कछुए की गर्दन घुसने के समान, अत्यन्त दुर्लभ कहा है।

एकक्षणकृतात् पापादवीचौ कल्पमास्यते।
अनादिकालोपचितात् पापात् का सुगतौ कथा ॥२१॥

एक क्षण के लिए पाप के कारण कल्पभर अवीचि-नरक में रहना पड़ता है, फिर अनादि काल से सचित पाप होने पर सुगति की कथा ही क्या ?

न च तन्मात्रमेवासौ वेदयित्वा विमुच्यते।
यस्मात् तद्वेदयन्नेव पापमन्यत् प्रसूयते ॥२२॥

और न उतने ही पापभोग से मनुष्य मुक्त हो पाता है, क्यों उसे भोगते-भोगते ही उससे दूसरा पाप भी हो जाता है।

नातः परा वञ्चनास्ति न च मोहोऽस्त्यतः पर।
यदीदृश क्षण प्राप्य नाभ्यस्त कुशलं मया ॥२३॥

इससे बढ़कर (आत्म) वचना नहीं है और न इससे बढकर मूढ़ता, जो ऐसा क्षण पाकर मैं पुण्य नहीं करता।

यदि चैव विमृष्यामि पुन सीदामि मोहित ।
शोचिष्यामि चिर भूयो यमदूतै प्रचोदित ॥२४॥

यदि इस प्रकार विचार करके फिर यो ही मोहमूढ़ पडा रहूगा, तो यमदूतों से चेताए जाने पर मुझे चिर तक फिर पछताना होगा।

चिर धक्ष्यति मे काय नरकाग्नि सुदु सह ।
पश्चात्तापानलश्चित्त चिर धक्ष्यत्यशिक्षित ॥२५॥

नरक की असह्य आग चिर तक मेरे शरीर को जलाएगी और शिक्षा पर न चलने वाले मेरे चित्त को चिर तक पश्चात्ताप की आग झुलसाएगी।

कथ चिदपि सप्राप्तो हितभूमि सुदुर्लभा।
जानन्नपि च नीयेऽह तानेव नरकान् पुन ॥२६॥

किसी प्रकार अत्यन्त दुर्लभ हित-भूमि पाकर मैं जान-बूझकर, फिर (अपने आप को) उन्हीं नरकों की ओर लिए जा रहा हू।

अत्र मे चेतना नास्ति मन्त्रैरिव विमोहित ।
न जाने केन मुह्यामि कोऽत्रान्तर्मम तिष्ठति ॥२७॥

यहा मुझे चेत नहीं है, मानो मत्रो से मोह लिया गया हू, न जाने मुझे कौन मोह रहा है, मेरे अन्तर में कौन बैठा है।

हस्तपादादिरहितास्तृष्णाद्वेषादिशत्रव ।
न शूरा न च ते प्राज्ञा कथ दासीकृतोऽस्मि तै ॥२८॥

तृष्णा, द्वेष आदि शत्रुओं के हाथ-पैर नहीं है, वे न वीर है और न बुद्धिमान्, फिर भी उन्होंने कैसे मुझे अपना दास बना लिया।

मच्चित्तावस्थिता एव घ्नन्ति मामेव सुस्थिता ।
तत्राप्यह न कुप्यामि धिगस्थानसहिष्णुतां ॥२९॥

मेरे मन में मजे से बैठ मुझे ही मार रहे हैं पर मुझे क्रोध नहीं आता। अनवसर इस सहिष्णुता को धिक्कार।

सर्वे देवा मनुष्याश्च यदि स्युर्मम शत्रव ।
तऽपि नावीचिक वह्नि समुदानयितु क्षमा ॥३०॥

सभी देव और मनुष्य यदि मेरे शत्रु हो जाए तो भी अवीचि नरक की आग फूक कर उत्पन्न नहीं कर सकते।

मेरोरपि यदासगान्न भस्माप्युपलभ्यते ।
क्षणात् क्षिपन्ति मां तत्र बलिन क्लेशशत्रव ॥३१॥

वलवान् क्लेश-शत्रु मुझे क्षण भर में वहां फेंक रहे है जहा छू जाने भर-से सुमेरु तक की भस्म का पता नहीं चलता।

न हि सर्वान्यशत्रूणा दीर्घमायुरपीदृश ।
अनाद्यन्त महादीर्घं यन्मम क्लेशवैरिणा ॥३२॥

अन्य सब शत्रुओं की आयु भी इतनी दीर्घ नहीं होती, जितनी कि मेरे क्लेश-शत्रुओ की आद्यन्तरहित महान् दीर्घ आयु होती है।

सर्वे हिताय कल्पन्त आनुकूल्येन सेविता ।
सेव्यमानास्त्वमी क्लेशा सुतरा दु खकारका ॥३३॥

अनुकूलता से सेवा करने पर सभी हित करते हैं, पर ये क्लेश सेवा करने पर और भी अधिक दु ख देते है।

इति सततदीर्घवैरिषु व्यसनौघप्रसवैकहेतुषु ।
हृदये निवसत्सु निर्भय मम संसाररति कथ भवेत् ॥३४॥

एव दु खसमूह के एकमात्र जनक हेतु, चिर काल के नित्य वैरियो के हृदय में निर्भय रहते हुए, मुझ में ससार से अनुराग कैसे हो सकता है।

भवचारकपालका इमे नरकादिष्वपि वध्यघातका ।
मतिवेश्मनि लोभपजरे यदि तिष्ठन्ति कुत सुखं मम ॥३५॥

भव-कारागार के प्रहरी, नरकादि में भी वध्यघातक ये (क्लेश), यदि बुद्धि-गृह के भीतर लोभ के पिंजडे में विद्यमान हैं, तो मुझे सुख कहां।

तस्मान्न तावदहमत्र धुर क्षिपामि यावन्न शत्रव इमे निहता' समक्ष ।
स्वल्पेऽपि तावदपकारिणि बद्धरोषा मानोन्नतास्तमनिहत्य न यान्ति निद्रा ॥३६॥

इसलिए जब तक ये शत्रु सामने ही नष्ट नहीं हो जाते, मैं (इस कर्तव्य) धुरा को नहीं फेंकूगा। साधारण अपकारी पर भी क्रुद्ध हो मानी महापुरुष उसे विना मारे नींद नहीं लेते।

प्रकृतिमरणदु खितान्धकारान् रणशिरसि प्रसभं निहन्तुमुग्रा ।
अगणितशरशक्तिघातदु खा न विमुखतामुपयान्त्यसाधयित्वा ॥३७॥

युद्ध-मुख में सहज मृत्यु के दुखान्धकार को बलपूर्वक नाश करने के लिए अगणित बाणों और बर्छियों की चोटों की पीडा झेलते तेजस्वी सफल हुए विना पीछे मुह नहीं मोड़ते।

किमुत सततसर्वदुःखहेतून् प्रकृतिरिपूनुपहन्तुमुद्यतस्य ।
भवति मम विषाददैन्यमद्य व्यसनशतैरपि केन हेतुना वै ॥३८॥

फिर निरतर सब दु खों के कारणभूत सहज शत्रुओं का नाश करने में उद्यत मुझे सैकड़ों दु.खों के होने पर भी विषाद और दैन्य किस कारण हो सकता है।

अकारणेनैव रिपुक्षतानि गात्रेष्वलकारवदुद्वहन्ति ।
महार्थसिद्ध्यै तु समुद्यतस्य दु खानि कस्मान्मम बाधकानि ।।३९।।

अकारण ही (मनस्वी जन अपने को महान् सिद्ध करने के लिए युद्ध कर) शत्रुओ के द्वारा किए घावो को आभूषणो की भाति अपने अगो पर धारण करते हैं। फिर महान् अर्थ की सिद्धि के लिए उद्यत मुझे दु ख क्योंकर बाधा पहुचा सकते है।

स्वजीविकामात्रनिबद्धचित्ता. कैवर्तचण्डालकृषीवलाद्या ।
शीतातपादिव्यसन सहन्ते जगद्धितार्थं न कथ सहेय ।।४०।।

केवल अपनी जीविका में मन के आसक्त होने से मछुए, चडाल, किसान आदि सर्दी-गर्मी आदि के दु ख सहते है। जगत् के हित के लिए फिर मै दु ख क्यों न सहू !

दशदिग्व्योमपर्यन्तजगत्क्लेशविमोक्षणे ।
प्रतिज्ञाय मदात्मापि न क्लेशेभ्यो विमोचित' ।।४१।।

दसों दिशाओं में आकाश की सीमा तक के जगत् को क्लेशों से छुडाने की प्रतिज्ञा करके मैने अपनी आत्मा को भी क्लेशों से नहीं छुडाया।

आत्मप्रमाणमज्ञात्वा ब्रुवन्नुन्मत्तकस्तदा ।
अनिवर्ती भविष्यामि तस्मात् क्लेशबधे सदा ।।४२।।

तब अपनी इयत्ता बिना जाने मै पागल-सा बोलता रहा। अब इसीलिए क्लेशों का बध करने में मै पीछे लौटने वाला नहीं।

अत्र ग्रही भविष्यामि बद्धवैरश्च विग्रही।
अन्यत्र तद्विधात्क्लेशात् क्लेशघातानुबन्धिन. ।।४३।।

यहां मुझे आग्रह होगा। क्लेश-ध्वस के सहकारी इस प्रकार के क्लेश को छोड अन्यत्र मै वैर बांधूगा, लडूगा।

गलन्त्वन्त्राणि मे काम शिर पततु नाम मे ।
नत्वेवावनतिं यामि सर्वथा क्लेशवैरिणा ।।४४।।

भले ही मेरी आतें गल जाए, मेरा माथा गिर पडे, पर मै क्लेश-वैरियों के आगे नहीं झुकूगा।

निर्वासितस्यापि हि नाम शत्रोर्देशान्तरे स्थानपरिग्रह स्यात् ।
यत पुन. सभृतशक्तिरेति न क्लेशशत्रोर्गतिरीदृशी तु ।।४५।।

शत्रु निर्वासित हो कर भी दूसरे देश में जगह पा सकता है, जहां से कि शक्ति बटोर कर फिर आ सकता है। पर क्लेशशत्रु की ऐसी भी दशा नहीं है।

क्वासौ यायान्मन्मनस्तो निरस्त. स्थित्वा यस्मिन् मद्वधार्थं यतेत।
नोद्योगो मे केवलं मन्दबुद्धे. क्लेशा. प्रज्ञादृष्टिसाध्या वराकाः ।।४६।।

मनसे निर्वासित उस (क्लेश) को जगह ही कहां है, जहां ठहर कर मेरे बध का यत्न करे। केवल कमी है मुझ मन्द बुद्धि के उद्योग की। बेचारे क्लेश तो सत्यदर्शन-हेय है।

न क्लेशा विषयेषु नेन्द्रियगणे नाप्यन्तराले स्थिता
नातोऽन्यत्र कुह स्थिताः पुनरिमे मथ्नन्ति कृत्स्नं जगत्।
मायैवेयमतो विमुच हृदय त्रासं भजस्वोद्यमं
प्रज्ञार्थं किमकाण्ड एव नरकेष्वात्मानमाबाधसे ॥४७॥

क्लेश न तो विषयो में हैं, न इन्द्रियसमूह में, और न (उन दोनो के) बीच में। न इन्हें छोड़ दूसरी ही किसी जगह है। फिर भी समूचे जगत् को मथे डालते हैं यह माया ही है। इसलिए हे हृदय! डर छोड़ प्रज्ञा के लिए उद्योग करो। बेकार ही क्यों अपने आप को नरको में पीडित करते हो।

एवं विनिश्चित्य करोमि यत्नं यथोक्तशिक्षाप्रतिपत्तिहेतोः।
वैद्योपदेशाच्चलतः कुतोऽस्ति भैषज्यसाध्यस्य निरामयत्वं ॥४८॥

ऐसा निश्चय कर (शास्त्र में) जैसी शिक्षाओ का उपदेश है, उन पर चलने का यत्न करूगा। क्योकि औषध से अच्छा होने वाला रोगी यदि वैद्य का उपदेश न माने तो नीरोगता फिर कैसे?

पंचम परिच्छेद

# संप्रजन्य-रक्षण

शिक्षां रक्षितुकामेन चित्त रक्ष्य प्रयत्नत ।
न शिक्षा रक्षितु शक्या चल चित्तमरक्षता ॥१॥

शिक्षा-पालन के अभिलाषियो को यत्न से चित्त की रक्षा करनी चाहिए। चंचल चित्त की रक्षा के बिना शिक्षा-पालन सभव नहीं।

अदान्ता मत्तमातङ्गा न कुर्वन्तीह ता व्यथा।
करोति यामवीच्यादौ मुक्तश्चित्तमतङ्गज ॥२॥

अशिक्षित मत्त हाथी यहा वह पीडा नही देते जो स्वच्छद चित्तरूपी हाथी अवीचिनरक आदि में देता है।

बद्धश्चेच्चित्तमातङ्ग स्मृतिरज्ज्वा समन्तत ।
भयमस्तगत सर्वं कृत्स्न कल्याणमागत ॥३॥

चारो ओर से यदि चित्त-हस्ती स्मृति-रज्जु से बाध लिया गया तो सब भय दूर है, सब कल्याण प्राप्त है।

व्याघ्रा सिंहा गजा ऋक्षा सर्पा. सर्वे च शत्रव ।
सर्वे नरकपालाश्च डाकिन्यो राक्षसास्तथा ॥४॥

सर्वे बद्धा भवन्त्येते चित्तस्यैकस्य बन्धनात्।
चित्तस्यैकस्य दमनात् सर्वे दान्ता भवन्ति हि ॥५॥

बाघ, सिंह, हाथी, रीछ, साप, सकल शत्रु, सर्व नरकपाल, डाकिनी तथा राक्षस, ये सब के सब एकमात्र चित्त के बध जाने से बध जाते हैं, एकमात्र चित्त का दमन करने से सब का दमन हो जाता है।

यस्माद् भयानि सर्वाणि दु खान्यप्रमितानि च।
चित्तादेव भवन्तीति कथित तत्त्ववादिना ॥६॥

क्योंकि तत्त्ववादी (सुगत) ने यह कहा है कि सभी भय और अपरिमित दुःख चित्त से ही होते हैं।

शस्त्राणि केन नरके घटितानि प्रयत्नत ।
तप्ताय.कुट्टिम केन कुतो जाताश्च ता स्त्रिय ॥७॥

नरक में यत्नपूर्वक किसने शस्त्र बनाए ? तपे लोहे का कुट्टिम (फर्श) किसने बनाया ? वे स्त्रिया कहा से हो गयीं ?

पापचित्तसमुद्भूतं तत्तत्सर्वं जगौ मुनि.।
तस्मान्न कश्चित् त्रैलोक्ये चित्तादन्यो भयानक ॥८॥

मुनि ने कहा है कि वे सबके सब पापी-चित्त से उत्पन्न होते हैं। इसलिए त्रिलोकी में चित्त से भयानक दूसरा कोई नहीं है।

अदरिद्र जगत्कृत्वा दानपारमिता यदि।
जगद्दरिद्रमद्यापि सा कथं पूर्वतायिनां ॥९॥

जगत् की दरिद्रता मिटाकर यदि दानपारमिता होती है तो अतीत के तथागतों के लिए वह कैसे सभव हुई, क्योंकि जगत् तो आज भी दरिद्र है।

फलेन सह सर्वस्वत्यागचित्ताज्जनेऽखिले।
दानपारमिता प्रोक्ता तस्मात् सा चित्तमेव तु ॥१०॥

सब प्राणियो के लिए फलसहित सर्वस्व त्यागी चित्त से दानपारमिता (की पूर्णता) कही गई है, अत. वह चित्त ही है।

मत्स्यादय· क्व नीयन्ता मारयेय यतो न तान्।
लब्धे विरतिचित्ते तु शीलपारमिता मता ॥११॥

मछली आदि कहां ले जाई जा सकती हैं कि उन्हें न मारा जाए। अत· (प्राणातिपात-) वेरमणी चित्त से शीलपारमिता मानी गयी है।

कियतो मारयिष्यामि दुर्जनान् गगनोपमान्।
मारिते क्रोधचित्ते तु मारिता सर्वशत्रवः ॥१२॥

आकाश के समान (अनन्त) कितने दुर्जनों को मार सकूगा! यदि क्रोधी चित्त को मार डाला तो सब शत्रु· मार लिए।

भूमिं छादयितुं सर्वां कुतश्चर्म भविष्यति।
उपानच्चर्ममात्रेण छन्ना भवति मेदिनी ॥१३॥

सब धरती ढकने के लिए चमडा कहा से मिलेगा ? जूते के चमड़े भर से धरती ढक जाती है।

बाह्या भावा मया तद्वच्छक्या वारयितुं न हि।
स्वचित्त वारयिष्यामि किं ममान्यैर्निवारितै.॥१४॥

उसी प्रकार बाहरी पदार्थ मेरे रोके नहीं रुक सकते। अपने चित्त को रोकूंगा। दूसरों के रुकने से मेरा क्या ?

सहापि वाक्छरीराभ्या मन्दवृत्तेर्न तत्फलं।
यत्पटोरेककस्यापि चित्तस्य ब्रह्मतादिक ॥१५॥

काय और वाक् के साथ भी मन्दवृत्ति (चित्त) से वह फल नहीं होता, जो ब्रह्मता आदि (फल) एकाकी भी तीव्र (वृत्ति) चित्त से होता है।

जपास्तपासि सर्वाणि दीर्घकालकृतान्यपि ।
अन्यचित्तेन मन्देन वृथैवेत्याह सर्ववित् ॥१६॥

सर्वज्ञ ने कहा है कि मन्द (वृत्ति) और अन्यमनस्कता से दीर्घकाल तक किए हुए भी जप-तप सब व्यर्थ हैं।

दु ख हन्तु सुख प्राप्तु ते भ्रमन्ति मुधाम्बरे ।
यैरेतद्धर्मसर्वस्वं चित्त गुह्य न भावित ॥१७॥

जिन्होने धर्म के सर्वस्व इस रहस्यमय चित्त को (तत्त्वज्ञान से) भावित न किया, वे बेकार ही आकाश के तले दु ख नाश करने और सुख पाने के लिए भटक रहे हैं।

तस्मात् स्वधिष्ठित चित्त मया कार्यं सुरक्षित ।
चित्तरक्षाव्रत मुक्त्वा बहुभि किं मम व्रतै ॥१८॥

अत मुझे चित्त सुरक्षित और अपने वश में करना है। चित्त की रक्षा का व्रत छोड बहुत व्रतों से मेरा क्या ?

यथा चपलमध्यस्थो रक्षति व्रणमादरात् ।
एव दुर्जनमध्यस्थो रक्षेच्चित्तव्रण सदा ॥१९॥

जिस प्रकार चचल (लोगो) के बीच बैठा हुआ (पुरुष) सावधानी से अपने घाव की रक्षा करता है, उसी प्रकार दुर्जनो के बीच रहकर चित्तरूपी घाव की रक्षा करनी चाहिए ।

व्रणदु खलवाद् भीतो रक्षामि व्रणमादरात् ।
सघातपर्वताघाताद् भीतश्चित्तव्रण न किं ॥२०॥

घाव के नाममात्र दु ख से डरकर घाव की सावधानी से रक्षा करता हू। (फिर) सघात (नरक) के पर्वत के समान प्रहारों से डरकर चित्तरूपी घाव की रक्षा क्यों न करूगा ।

अनेन हि विहारेण विहरन् दुर्जनेष्वपि ।
प्रमदाजनमध्येऽपि यतिर्धीरो न खण्ड्यते ॥२१॥

दुर्जनों और स्त्रीजनों के बीच भी इसी (जागरूकता के) विहार से विहार करता हुआ यति (व्रत से) पतित नहीं होता।

लाभा नश्यन्तु मे काम सत्कार कायजीवित ।
नश्यत्वन्यच्च कुशल मा तु चित्त कदा चन ॥२२॥

भले ही मेरे लाभ नष्ट हो जाए, सत्कार, शरीर, जीवन तथा और जो कुछ शुभ है, नष्ट हो जाए, पर चित्त कभी नष्ट न हो।

चित्त रक्षितुकामाना मयैष क्रियतेऽञ्जलि ।
स्मृति च सप्रजन्य च सर्वयत्नेन रक्षत ॥२३॥

चित्त की रक्षा के अभिलाषियो से मैं हाथ जोड (प्रार्थना) करता हू कि स्मृति और सप्रजन्य (=जागरूकता) की पूर्ण यत्न से रक्षा करो।

व्याध्याकुलो नरो यद्वन्न क्षमः सर्वकर्मसु।
तथाभ्या व्याकुल चित्त न क्षम सर्वकर्मसु ॥२४॥

जिस प्रकार व्याधिपीडित पुरुष किसी भी काम के योग्य नहीं होता, उसी प्रकार इन (स्मृति और सप्रजन्य) से रहित चित्त किसी भी काम के योग्य नहीं होता।

असप्रजन्यचित्तस्य श्रुतचिन्तितभावित।
सच्छिद्रकुम्भजलवन्न स्मृतावबतिष्ठते ॥२५॥

सप्रजन्य-चित्त-हीन (पुरुष) का श्रवण, मनन और निदिध्यासन फूटे घडे के पानी की भाँति स्मृति में नहीं ठहरता।

अनेके श्रुतवन्तोऽपि श्राद्धा यत्नपरा अपि।
असंप्रजन्यदोषेण भवन्त्यापत्तिकश्मलाः ॥२६॥

अनेक बहुश्रुत, श्रद्धालु और यत्नशील (पुरुष) भी असप्रजन्य दोष के कारण (व्रतभग की) आपत्ति से कलुषित हो जाते हैं।

असप्रजन्यचौरेण स्मृतिमोषानुसारिणा।
उपचित्यापि पुण्यानि मुषिता यान्ति दुर्गति ॥२७॥

स्मृति ढीली हुई कि असप्रजन्य–चोर पीछे पडा (और पुण्य की कमाई चुराई)। (इस प्रकार) जिनकी चोरी होती है वे पुण्य कमा कर भी दुर्गति पाते हैं।

क्लेशतस्करसंघोऽयमवतारगवेषक.।
प्राप्यावतार मुष्णाति हन्ति सद्गतिजीवित ॥२८॥

क्लेशरूपी चोरों का यह दल घुसने का मार्ग खोजता रहता है। घुसने का मार्ग पाकर चोरी करता है। सद्गति के जीवन की हत्या करता है।

तस्मात् स्मृतिर्मनोद्वारान्नापनेया कदा चन।
गतापि प्रत्युपस्थाप्या सस्मृत्यापायिकीं व्यथा ॥२९॥

नरक की पीडा का स्मरण कर, स्मृति को मन के द्वार से कभी न हटाना चाहिए। गयी (स्मृति) को भी फिर वहीं टिकाना चाहिए।

उपाध्यायानुशासिन्या भीत्याप्यादरकारिणां।
धन्यानां गुरुसवासात् सुकर जायते स्मृतिः ॥३०॥

उपाध्याय के अनुशासन और भय तथा गुरुजनों के सत्सग से श्रद्धालु पुण्यात्माओं में सहज ही स्मृति बनी रहती है।

बुद्धाश्च बोधिसत्वाश्च सर्वत्राव्याहतेक्षणाः।
सर्वमेवाग्रतस्तेषां तेषामस्मि पुरः स्थित. ॥३१॥

बुद्ध और बोधिसत्त्वो की दृष्टि सर्वत्र बेरोक-टोक पहुचती है। सभी कुछ उनके समक्ष है। मैं उनके सामने खडा हू।

इति ध्यात्वा तथा तिष्ठेत् त्रपादरभयान्वित ।
बुद्धानुस्मृतिरप्येव भवेत्तस्य मुहुर्मुहु. ॥३२॥

ऐसा ध्यान कर लज्जा, गौरव, और भय के साथ उसी प्रकार (सयत) ठहरना चाहिए। इस प्रकार उसे बारबार बुद्धानुस्मृति भी होती है।

सप्रजन्य तदायाति न च यात्यागत पुन. ।
स्मृतिर्यदा मनोद्वारे रक्षार्थमवतिष्ठते ॥३३॥

जब स्मृति मन के द्वार पर रक्षा के लिए खडी रहती है तब सप्रजन्य आता है और फिर नहीं जाता।

पूर्वं तावदिद चित्त सदोपस्थाप्यमीदृश ।
निरिन्द्रियेणेव मया स्थातव्य काष्ठवत् सदा ॥३४॥

पहले इस चित्त को सदा इस प्रकार उपस्थित रखना चाहिए, (फिर) मुझ काठ की भाति इन्द्रियहीन हो रहना चाहिए।

निष्फला नेत्रविक्षेपा न कर्तव्या कदा चन ।
निध्यायन्तीव सतत कार्या दृष्टिरधोगता ॥३५॥

कभी भी बेकार दृष्टिविक्षेप न करना चाहिए। निरन्तर दृष्टि नीची और ध्यानरत जैसी रखनी चाहिए।

दृष्टिविश्रामहेतोस्तु दिश पश्येत् कदा चन ।
आभासमात्र दृष्ट्वा च स्वागतार्थं विलोकयेत् ॥३६॥

दृष्टिको विश्राम देने के लिए कभी-कभी दिशाओं की ओर देखना चाहिए। झलक मिलते ही (आगन्तुक के) स्वागत के लिए दृष्टि फिरानी चाहिए।

मार्गादौ भयबोधार्थं मुहु पश्येच्चतुर्दिशं ।
दिशो विश्रम्य वीक्षेत परावृत्यैव तिष्ठत· ॥३७॥

मार्ग आदि में भय (के कारण) के जानने के लिए चारों दिशाओ को देखना चाहिए। पीछे घूमकर अव्याकुल भाव से दिशाओं का अवलोकन करना चाहिए।

सरेदपसरेद्वापि पुर पश्चान्निरूप्य च ।
एव सर्वास्ववस्थासु कार्यं बुद्ध्वा समाचरेत् ॥३८॥

आगे-पीछे का ध्यान करके आगे बढ़ना या पीछे लौटना चाहिए। इस प्रकार सब अवस्थाओं में समझ-बूझकर काम करना चाहिए।

कायेनैवमवस्थेयमित्याक्षिप्य क्रिया पुन ।
कथ काय· स्थित इति द्रष्टव्य पुनरन्तरा ॥३९॥

(काम करते) शरीर इस प्रकार रहना चाहिए, (अब) शरीर की स्थिति कैसी है--इन बातो को काम रोक कर बीच में फिर-फिर देख लेना चाहिए।

निरूप्य. सर्वयत्नेन चित्तमत्तद्विपस्तथा।
धर्मचिन्ता महास्तम्भे यथा बद्धो न मुच्यते ॥४०॥

चित्त के मतवाले हाथी का सब जतन से ध्यान रखना चाहिए कि धर्मचिन्ता के विशाल खभे से बधा रहे, छूट न सके।

कुत्र मे वर्तत इति प्रत्यवेक्ष्य तथा मन।
समाधानधुर नैव क्षणमप्युत्सृजेद्यथा ॥४१॥

मेरा मन कहां है—यह यो देखते रहना चाहिए कि समाधि की धुरा को क्षण भर के लिए भी छोड न सके।

भयोत्सवादिसंबन्धे यद्यशक्तो यथासुख।
दानकाले तु शीलस्य यस्मादुक्तमुपेक्षण ॥४२॥

भय, उत्साह आदि होने पर यदि (समाधि) न सधे तो जैसी मौज वैसे रह (क्योकि जिसका ब्याह उसके गीत)। इसीलिए दान के समय शील की उपेक्षा की बात कही गयी है।

यद्बुद्ध्वा कर्तुमारब्धं ततो ऽन्यन्न विचिन्तयेत्।
तदेव तावन्निष्पाद्य तद्गतेनान्तरात्मना ॥४३॥

सोच समझकर जिसका करना आरंभ किया है, उसके अतिरिक्त और कुछ न सोचे। उसे ही पहले तन्मय मन से पूरा करे।

एवं हि सुकृत सर्वमन्यथा नोभय भवेत्।
असप्रजन्यक्लेशोऽपि वृद्धि चैव गमिष्यति ॥४४॥

इस प्रकार सब ठीक बनता है। नहीं तो (आरब्ध और आरभ्यमाण) दोनो हो नहीं होते। असंप्रजन्य का क्लेश भी इस प्रकार बढ जाता है।

नानाविधप्रलापेषु वर्तमानेष्वनेकधा।
कौतूहलेषु सर्वेषु हन्यादौत्सुक्यमागत ॥४५॥

नाना प्रकार से चल रही नाना प्रकार की गल्प-मल्पों* तथा सभी कौतूहलों में यदि उत्सुकता उत्पन्न हो तो रोके।

मृन्मर्दनतृणोच्छेदरेखाद्यफलमागत।
स्मृत्वा तथागतीं शिक्षा भीतस्तत्क्षणमुत्सृजेत् ॥४६॥

मिट्टी मसलना, तिनका तोडना, लकीरें खींचना आदि निरर्थक प्रवृत्तियो को तथागत की शिक्षा का स्मरण कर, डर कर, उसी क्षण छोड़ देना चाहिए।

---

*बंग भाषा से लिया वचन। चलती हिन्दी में 'गप-शप'।

यदा चलितुकाम स्याद्वक्तुकामोऽपि वा भवेत् ।
स्वचित्त प्रत्यवेक्ष्यादौ कुर्याद्धैर्येण युक्तिमत् ।।४७।।

जब चलने या बोलने की इच्छा हो तो पहले अपने चित्त को सभाल कर धैर्य और ढग के साथ बरते।

अनुनीत प्रतिहत यदा पश्येत्स्वक मन ।
न कर्तव्यं न वक्तव्य स्थातव्य काष्ठवत् सदा ।।४८।।

जब अपना मन सराग और सद्वेष दीख पडे, तब न कुछ करना चाहिए न बोलना। काठ की भांति सदा पडे रहना चाहिए।

उद्धत सोपहास वा यदा मानमदान्वित ।
सोत्प्रासातिशय वक्र वचक च मनो भवेत् ।।४९।।

जब मन चचल अथवा उपहासकारी, मानी, मदान्ध, सोत्प्रास (=हसी ठट्ठे की भावना वाला), उत्कट, कुटिल और वचक हो (तब काठ की भाति पडे रहना चाहिए)।

यदात्मोत्कर्षणाभास परपसनमेव च ।
साधिक्षेप ससरम्भ स्थातव्य काष्ठवत्सदा ।।५०।।

जब (मन) अपनी प्रशसा सोच रहा हो और दूसरे की निन्दा, गाली देना चाहता हो या झगडा करना चाहता हो, तब सदा काठ की भाति पडे रहना चाहिए।

लाभसत्कारकीर्त्यर्थि परिवारार्थि वा पुन ।
उपस्थानार्थि मे चित्त तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ।।५१।।

मेरा चित्त लाभ, सत्कार और कीर्ति का अभिलाषी है, परिवार (=परिचारक) चाहता है और चाहता है सेवा, इसलिए मुझे काष्ठ की भाति पडे रहना है।

परार्थरूक्ष स्वार्थार्थि परिषत्काममेव च ।
वक्तुमिच्छति मे चित्त तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ।।५२।।

मेरा चित्त परहितविमुख, स्वार्थपरायण, अथवा समाजसग्रहाभिलाषी हो बोलना चाहता है, इसलिए मैं काठ की भाति पडा हू।

असहिष्ण्वलस भीत प्रगल्भ मुखर तथा।
स्वपक्षाभिनिविष्ट च तस्मात्तिष्ठामि काष्ठवत् ।।५३।।

(मेरा मन) असहनशील, आलसी, भीत, धृष्ट, बकवादी और पक्षपाती है, इसलिए मै काठ की भाति पडा हू।

एव सक्लिष्टमालोक्य निष्फलारम्भि वा मन ।
निगृह्णीयाद् दृढ शूर प्रतिपक्षेण तत् सदा ।।५४।।

(इस प्रकार) वीर पुरुष को चाहिए कि ऐसे क्लेशयुक्त, व्यर्थप्रवृत्ति वाले मन का सर्वदा (उसके) विरोधी (भाव) द्वारा निग्रह करे।

सुनिश्चित सुप्रसन्न धीर सादरगौरव ।
सलज्जं सभयं शान्त पराराधनतत्परं ॥५५॥

सुनिश्चित, सुप्रसन्न, धीर, आदर एव गौरव से युक्त, सलज्जा, सभय, शान्त, परहितोन्मुख,

परस्परविरुद्धाभिर्बालेच्छाभिरखेदित ।
क्लेशोत्पादाविद ह्येतदेषामिति दयान्वित ॥५६॥

परस्पर विरुद्ध पृथग्जनाभिलाषाओं से अखिन्न, क्लेशो की उत्पत्ति के कारण इनमें यह ऐसा है (–यह सोचते हुए) कारुणिक,

आत्मसत्त्ववश नित्यमनवद्येषु वस्तुषु ।
निर्माणमिव निर्मान धारयाम्येष मानस ॥५७॥

धर्म विषय में नित्य स्वाधीन तथा सत्त्वाधीन, निर्माण (=ऋद्धि-निर्मित) के समान मानरहित मन धारण करता हू ।

चिरात्प्राप्त क्षणवर स्मृत्वा स्मृत्वा मुहुर्मुहु ।
धारयामीदृश चित्तमप्रकम्प्य सुमेरुवत् ॥५८॥

चिरकाल के अनन्तर प्राप्त श्रेष्ठ क्षण का वारवार स्मरण कर चित्त को ऐसे धारण करता हूं जैसे (वह) अडिग सुमेरु हो।

गृध्रै रामिषसगृद्धै. कृष्यमाण इतस्ततः ।
न करोत्यन्यथा काय कस्मादत्र प्रतिक्रियां ॥५९॥

यहां (चित्त-हीन) शरीर (निकम्मा है), अन्यथा मांसलोभी गिद्धों से इधर-उधर खींचे जाने पर प्रतिकार क्यो न करता ?

रक्षसीम मन कस्मादात्मीकृत्य समुच्छ्रय ।
त्वत्तश्चेत्पृथगेवाय तेनात्र तव को व्यय ॥६०॥

हे मन! अपना समझ, इस (हड्डी-मास के) ढेर की क्यों रक्षा करते हो? यदि यह तुमसे अलग ही है, तो इससे तुम्हारा क्या बिगडा ?

न स्वीकरोषि हे मूढ काष्ठपुत्तलकं शुचि ।
अमेध्यघटितं यन्त्र कस्माद्रक्षसि पूतिक ॥६१॥

हे मूढ़! पवित्र कठपुतली को क्यो नहीं अपनाता? अशुचि-घटित इस पूति-यन्त्र की क्यों रक्षा करता है ?

इम चर्मपुट तावत्स्वबुद्ध्यैव पृथक्कुरु ।
अस्थिपञ्जरतो मास प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय ॥६२॥

खाल के इस खोल को अपनी बुद्धि से अलग कर। प्रज्ञा-शस्त्र द्वारा मास को हड्डियो के पिंजडे से छुडा।

अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्य मज्जानमन्ततः ।
किमत्र सारमस्तीति स्वयमेव विचारय ।।६३।।

हड्डियों को भी अलग कर भीतर मज्जा देख (और) अपने आप विचार कि इसमें सार क्या है ?

एवमन्विष्य यत्नेन न दृष्ट सारमत्र ते ।
अधुना वद कस्मात् त्व कायमद्यापि रक्षसि ।।६४।।

इस प्रकार जतन से खोज करके भी तुझे सार न दीखा । अब बोल! तू अब भी क्यों शरीर की रक्षा करता है ?

न खादितव्यमशुचि त्वया पेय न शोणितं ।
नान्त्राणि चूषितव्यानि किं कायेन करिष्यसि ।।६५।।

तू अशुचि नहीं खाएगा। लोहू नहीं पिएगा। आतें नहीं चूसेगा। शरीर से क्या करेगा ?

युक्त गृध्रशृगालादेराहारार्थं तु रक्षितु ।
कर्मोपकरण त्वेतन्मानुषाणां शरीरक ।।६६।।

कर्मों का साधन होने से इस मानव-शरीर की रक्षा करनी चाहिए (नहीं तो यह) गिद्ध-सियारो आदि के भोजन के लिए (ठीक) है ।

एव ते रक्षतश्चापि मृत्युराच्छिद्य निर्दय ।
काय दास्यति गृध्रेभ्यस्तदा त्व किं करिष्यसि ।।६७।।

इस प्रकार रक्षा करते हुए भी (जब) निर्दयी मौत काया छीन कर गिद्धों को दे देगी तब तू क्या करेगा ।

न स्थास्यतीति भृत्याय न वस्त्रादि प्रदीयते ।
कायो यास्यति खादित्वा कस्मात्त्व कुरुषे व्यय ।।६८।।

न ठहरने वाले चाकर को कपडे-लत्ते नहीं दिए जाते। तू क्यो खर्च करता है ? यह शरीर खा-पीकर चला जाने वाला (ही) है ।

दत्वास्मै वेतन तस्मात् स्वार्थं कुरु मनोऽधुना ।
न हि वैतनिकोपात्तं सर्वं तस्मै प्रदीयते ।।६९।।

हे मन! इस (शरीर) को मजूरी देकर अपना अर्थ साधो। मजूर की सारी कमाई उसे (ही) नहीं दे दी जाती ।

काये नौबुद्धिमाधाय गत्यागमननिश्रयात् ।
यथाकामगमं कायं कुरु सत्त्वार्थसिद्धये ।।७०।।

काया को आने-जाने के सहारे के निमित्त नौका समझ, प्राणियों की अर्थसिद्धि के लिए काया को इच्छाधीन बरतने वाला बना ।

एवं वशीकृतस्वात्मा नित्य स्मितमुखो भवेत् ।
त्यजेद् भृकुटिसंकोच पूर्वाभाषी जगत्सुहृत् ॥७१॥

इस प्रकार अपने आप को वश में कर सदा हसमुख रहना चाहिए, भौंहें टेढी न करनी चाहिए, पहले ही कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए, जगत् का मित्र होना चाहिए ।

सशब्दपातं सहसा न पीठादीन् विनिक्षिपेत् ।
नास्फालयेत् कवाटं च स्यान्नि.शब्दरुचि. सदा ॥७२॥

पीढे आदि को इस तरह न रखे कि आवाज हो और किवाड़ न भडभडाए । सदा चुपचाप रहना पसन्द करे ।

बको बिडालश्चौरश्च नि शब्दो निभृतश्चरन् ।
प्राप्नोत्यभिमत कार्यमेवं नित्य यतिश्चरेत् ॥७३॥

बक, बिडाल और चोर शान्त एव निःशब्द रहकर इष्ट-सिद्धि करते हैं । यति को नित्य इसी प्रकार आचरण करना चाहिए ।

परचोदनदक्षाणामनघीष्टोपकारिणा ।
प्रतीच्छेच्छिरसा वाक्यं सर्वशिष्य सदा भवेत् ॥७४॥

उपदेश देने में परम कुशल, बिना प्रार्थना किए ही उपकाररत (जनों) के वचनो को सिरमाथे लेना चाहिए (तथा शिक्षा लेने की इच्छा से) सब का शिष्य रहना चाहिए ।

सुभाषितेषु सर्वेषु साधुकारमुदीरयेत् ।
पुण्यकारिणमालोक्य स्तुतिभि. सम्प्रहर्षयेत् ॥७५॥

सब सुभाषित (-प्रसगों पर) साधुवाद देना चाहिए। पुण्यात्मा को देख स्तुतियों से प्रहर्षित करना चाहिए ।

परोक्षं च गुणान् ब्रूयादनुब्रूयाच्च तोषत ।
स्ववर्णे भाष्यमाणे च भावयेत्तद्गुणज्ञता ॥७६॥

पीठ-पीछे गुण-कीर्तन करना चाहिए। सतोष से (गुण) ानुवाद करना चाहिए। अपनी प्रशसा में दूसरे की गुणज्ञता की भावना करनी चाहिए ।

सर्वारम्भा हि तुष्ट्यर्थाः सा वित्तैरपि दुर्लभा ।
भोक्ष्ये तुष्टिसुखं तस्मात् परश्रमकृतैर्गुणै. ॥७७॥

सब कार्य संतोष के निमित्त किए जाते हैं। वह धन से दुर्लभ है । अतएव परकीय गुणों से सतोष-सुख भोगूगा जहां अपने को परिश्रम नहीं करना है ।*

न चात्र मे व्ययः कश्चित् परत्र च महासुखं ।
अप्रीतिदुःखं द्वेषैस्तु महद्दुःखं परत्र च ॥७८॥

---

*अक्षरार्थ—अतएव दूसरे के श्रम से अर्जित गुणों से संतोष-सुख भोगूंगा ।

मेरा इसमें कुछ व्यय नहीं है और परलोक में महासुख है। द्वेष से (यहां) असतोष-दु.ख है और परलोक में महादु ख है।

विश्वस्तविन्यस्तपद विस्पष्टार्थं मनोरम।
श्रुतिसौख्य कृपामूल मृदुमन्दस्वर वदेत् ॥७८॥

निर्भ्रान्त एव व्यवस्थित पदयुक्त, निश्चितार्थक, मनोहर, श्रवणसुखद, कृपामूलक मृदु और मन्द स्वर से बोलना चाहिए।

ऋजु पश्येत्सदा सत्वाश्चक्षुषा सपिबन्निव।
एतानेव समाश्रित्य बुद्धत्व मे भविष्यति ॥८०॥

सहज भाव से, आखो से जैसे पान किया जा रहा हो वैसे, प्राणियो को देखना चाहिए (और सोचना चाहिए कि) इन्हीं को (सेवा के) सहारे मुझे बुद्धत्वलाभ होगा।

सातत्याभिनिवेशोत्य प्रतिपक्षोत्यमेव च।
गुणोपकारक्षेत्रे च दु खिते च महच्छुभ ॥८१॥

सतत–अभिनिवेश†–जनित, प्रतिपक्ष††–समुत्पन्न, गुणक्षेत्र*, उपकारक्षेत्र** और दु खित (–क्षेत्र) में (दान आदि से) महान् पुण्य होता है।

दक्ष उत्थानसपन्न स्वयकारी सदा भवेत्।
नावकाश प्रदातव्य कस्य चित् सर्वकर्मसु ॥८२॥

सदा स्फूर्तिमान्, उद्योगपरायण हो स्वय काम करना चाहिए। (अपने) सब कामो में किसी को (कुछ भी करने का) अवसर न देना चाहिए।

उत्तरोत्तरत श्रेष्ठा दानपारमितादय।
नेतरार्थं त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राचारसेतुत ॥८३॥

दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान और प्रज्ञा नामक छह पारमिताओ में पूर्व-पूर्व की अपेक्षा उत्तर-उत्तर श्रेष्ठ है। इनमें आचार पुण्यरूपी जल का बाध है। उसे कभी न तोडना चाहिए। अन्यत्र जहां कई पारमिताओ के आचरण का अवसर हो, वहा सभव हो तो सब का आचरण करना चाहिए पर श्रेष्ठ पारमिता का उससे अवर पारमिता के लिए त्याग न करना चाहिए। ‡

एव बुद्ध्वा परार्थेषु भवेत्सततमुत्थित।
निषिद्धमप्यनुज्ञात कृपालोरर्थदर्शिन. ॥८४॥

ऐसा समझ कर परोपकार में सदा उद्यत रहे। (सत्व–) हितदर्शी कृपालु के लिए अवैध की भी अनुमति है।

विनिपातगतानाथव्रतस्थान् सविभज्य च।
भुञ्जीत मध्यमां मात्रा त्रिचीवरबहिस्त्यजेत् ॥८५॥

---

†श्रद्धा, ††शून्यताभावना आदि, *बुद्ध-बोधिसत्व, ** माता-पिता आचार्य। ‡ यह भावार्थ है।

पतितों, अनाथों और सब्रह्मचारियो को (एक-एक) भाग देकर (बचे हुए चतुर्थ भाग को) मध्यम मात्रा में खाना चाहिए। तीन चीवरों से अधिक होने पर दान करना चाहिए।

सद्धर्मसेवकं कायमितरार्थं न पीडयेत्।
एवमेव हि सत्त्वानामाशामाशु प्रपूरयेत् ॥८६॥

सद्धर्म के सेवक शरीर को छोटी-मोटी बातो के लिए न सताना चाहिए। क्योंकि ऐसा करने से ही वह प्राणियो की आशा को शीघ्र पूर्ण कर सकता है।

त्यजेन्न जीवितं तस्मादशुद्धे करुणाशये।
तुल्याशये तु तत्त्याज्यमित्थं न परिहीयते ॥८७॥

अशुद्ध * करुणाशय हो तो जीवन का उत्सर्ग न करना चाहिए। तुल्य† करुणाशय हो तो करना चाहिए। इस प्रकार बोधिसत्त्व का पतन नहीं होता।

धर्मं निर्गौरवे स्वस्थे न शिरोवेष्टिते वदेत्।
सच्छत्रदण्डशस्त्रे च नावगुण्ठितमस्तके ॥८८॥

अश्रद्धालुओं को तथा पगडी बाँधे, छाता-डंडा और शस्त्र लिए, एवं माथा ढके स्वस्थ पुरुषों को धर्मोपदेश न करना चाहिए।

गंभीरोदारमल्पेषु न स्त्रीषु पुरुषं विना।
हीनोत्कृष्टेषु धर्मेषु समं गौरवमाचरेत् ॥८९॥

हीनो को गंभीर और उदार (महायान धर्म की देशना) न करनी चाहिए, पुरुषरहित स्त्रीजनो को (धर्मदेशना न करनी चाहिए)। हीनयान और महायान धर्मों में समान गौरव रखना चाहिए।

नोदारधर्मपात्रं च हीने धर्मे नियोजयेत्।
न चाचारं परित्यज्य सूत्रमन्त्रैः प्रलोभयेत् ॥९०॥

महायान धर्म के योग्य को हीनयान में न लगाना चाहिए। आचरण को छोड़कर सूत्र और मंत्रो (के पाठ मात्र) से (पुण्यार्जन का) प्रलोभन न देना चाहिए।

दन्तकाष्ठस्य खेटस्य विसर्जनमपावृत।
नेष्टं जले स्थले भोग्ये मूत्रादेश्चापि गर्हितं ॥९१॥

दतौन और थूक को खुला (=बिना ढके) न छोडना चाहिए और न भोग्य जल-स्थल में घृणित मूत्रादि करना चाहिए।

मुखपूरं न भुञ्जीत सशब्दं प्रसृताननं।
प्रलम्बपादं नासीत न बाहू मर्दयेत् समं ॥९२॥

मुह भरकर, मुह फैलाकर, और आवाज निकाल कर न खाना चाहिए। पाव पसार कर न बैठना चाहिए। एक साथ दोनो बाहो को न मसलना चाहिए।

---

*अशुद्ध=शुभचर्यामें विघ्नकर, † तुल्य=सम=सर्वसत्वहितकर।

नैकयान्यस्त्रिया कुर्याद्यानं शयनमासनं ।
लोकाप्रासादकं सर्वं दृष्ट्वा पृष्ट्वा च वर्जयेत् ॥९३॥

अकेली पराई स्त्री के साथ न बैठना चाहिए, न सोना चाहिए और न यात्रा करनी चाहिए। जो लोगो को बुरा लगता-दीखता हो वह सब (स्वय) देख कर और पूछ कर (जानना चाहिए और उसे) छोड देना चाहिए।

नाङ्गुल्या कारयेत् किंचिद्दक्षिणेन तु सादर ।
समस्तेनैव हस्तेन मार्गमप्येवमादिशत् ॥९४॥

आदर के साथ समूचे दाहिने हाथ से जो कुछ दिखाना हो दिखाना चाहिए, एक उगली से नहीं। मार्ग भी इसी प्रकार बताना चाहिए।

न बाहूत्क्षेपक क चिच्छब्दयेदल्पसभ्रमे ।
अच्छटादि तु कर्तव्यमन्यथा स्यादसवृत ॥९५॥

थोडी सी घबराहट में भुजा उठा कर किसी को न पुकारे, पर ताली आदि बजाए। अन्यथा सवर-हीन माना जाएगा।

नाथनिर्वाणशय्यावच्छयीतेप्सितया दिशा ।
सप्रजानल्लघूत्थान प्रागवश्य नियोगत· ॥९६॥

परिनिर्वाण के समय भगवान् के शयन की भाति, अभीष्ट दिशा में, सावधान हो सोना चाहिए। शीघ्र उठ बैठना चाहिए कि किसी को कहना न पडे।

आचारो बोधिसत्त्वानामप्रमेय उदाहृत ।
चित्तशोधनमाचार नियत तावदाचेरत् ॥९७॥

बोधिसत्वो के आचारों की सख्या नहीं है। पर जिस आचार से चित्तशुद्धि हो उसका अवश्य ही पालन करना चाहिए।

रात्रिंदिव च त्रिस्कन्ध त्रिकाल च प्रवर्तयेत् ।
शेषापत्तिशमस्तेन बोधिचित्तजिनाश्रयात् ॥९८॥

तीन बार रात और तीन बार दिन में त्रिस्कन्ध * की आवृत्ति करनी चाहिए। अनजान में हुई** आपत्तियो का शमन उससे तथा बुद्ध और बोधिचित्त के आश्रय से हो जाता है।

या अवस्था प्रपद्येत स्वय परवशोऽपि वा ।
तास्ववस्थासु या· शिक्षा शिक्षेत्ता एव यत्नत ॥९९॥

स्वाधीन या पराधीन जिन अवस्थाओ को प्राप्त हो, उन-उन अवस्थाओ में जो-जो शिक्षणीय हो, उसे यत्न से सीखना चाहिए।

न हि तद्विद्यते किं चिद्यन्न शिक्ष्य जिनात्मजै· ।
न तदस्ति न यत्पुण्यमेव विहरत सत ॥१००॥

---

*तीन स्कंध—पापदेशना, पुण्यानुमोदना, बोधिपरिणामना। **शेष पद का भावार्थ।

बुद्धपुत्रों को जो न सीखना हो वह कुछ है ही नहीं। इस प्रकार विहार करते वह नहीं होता जो कि पुण्य नहीं है।

पारपर्येण साक्षाद्वा सत्त्वार्थं नान्यदाचरेत्।
सत्त्वानामेव चार्थाय सर्वं बोधाय नामयेत् ॥१०१॥

साक्षात् अथवा परपरया जो प्राणिहितार्थ न हो, उसे न करना चाहिए। प्राणि-हितार्थ ही बोधि के लिए सब (पुण्यों) की परिणामना करनी चाहिए।

सदा कल्याणमित्रं च जीवितार्थेऽपि न त्यजेत्।
बोधिसत्त्वव्रतधरं महायानार्थकोविदं ॥१०२॥

बोधिसत्त्वव्रती, महायानार्थकुशल कल्याणमित्र का कभी अपने जीवन के लिए भी त्याग न करना चाहिए।

श्रीसभवविमोक्षाच्च शिक्षेद्यद्गुरुवर्तनं।
एतच्चान्यच्च बुद्धोक्तं ज्ञेयं सूत्रान्तवाचनात् ॥१०३॥

जो गुरुवर्तन अर्थात् कल्याणमित्र-परिचर्या है उसे श्रीसंभवविमोक्षसूत्र से सीखना चाहिए। सूत्रान्तो का अध्ययन करके यह तथा अन्य दूसरी बातें, जिनकी देशना भगवान् ने की है, जाननी चाहिए।

शिक्षा. सूत्रेषु दृश्यन्ते तस्मात्सूत्राणि वाचयेत्।
आकाशगर्भसूत्रे च मूलापत्तीर्निरूपयेत् ॥१०४॥

शिक्षाए सूत्रो में देखी जाती है, इसलिए सूत्रों को बाचना चाहिए। आकाश-गर्भसूत्र से मूल आपत्तियो को जानना चाहिए।

शिक्षासमुच्चयो ऽवश्य द्रष्टव्यश्च पुन पुन।
विस्तरेण सदाचारो यस्मात्तत्र प्रदर्शित. ॥१०५॥

शिक्षासमुच्चय अवश्य बारंबार देखना चाहिए, क्योंकि उसमें विस्तार के साथ सदाचार का वर्णन है।

सक्षेपेणाथ वा तावत्पश्येत्सूत्रसमुच्चय।
आर्यनागार्जुनाबद्ध द्वितीय च प्रयत्नत ॥१०६॥

अथवा सक्षेप से (देखना हो तो मेरे) सूत्र समुच्चय को या अचार्य नागार्जुन द्वारा सगृहीत दूसरे (सूत्र समुच्चय को) यत्न से देखना चाहिए।

यतो निवार्यते यत्र यदेव च नियुज्यते।
तल्लोकचित्तरक्षार्थं शिक्षां दृष्ट्वा समाचरेत् ॥१०७॥

जहा जिसका निषेध है, और जिसका विधान है, उसका शिक्षा देखकर लोक-भावना की रक्षा के लिए आचरण करना चाहिए।

एतदेव समासेन सप्रजन्यस्य लक्षण।
यत्कायचित्तावस्थाया प्रत्यवेक्षा मुहुर्मुहुः ॥१०८॥

संप्रजन्य का संक्षेप मे यही लक्षण है कि शरीर और चित्त की अवस्था का बार-बार प्रत्यवेक्षण किया जाए।

कायेनैव पठिष्यामि वाक्पाठेन तु किं भवेत्।
चिकित्सापाठमात्रेण रोगिण किं भविष्यति ॥१०९॥

वाणी के पाठ मे क्या होना है, शरीर से ही पढ़ूगा। चिकित्सा (ग्रन्थो) के पाठमात्र से रोगी का भला क्या (भला) होगा!

# क्षान्ति-पारमिता

सर्वमेतत्सुचरित दान सुगतपूजन। 
कृतं कल्पसहस्रैर्यत् प्रतिघ प्रतिहन्ति तत् ॥१॥

सुचरित, दान और बुद्धपूजन-यह सब जो सहस्रों कल्पो तक किया गया है, उसे द्वेष नष्ट कर डालता है।

न च द्वेषसम पाप न च क्षान्तिसम तप।
तस्मात्क्षान्ति प्रयत्नेन भावयेद्विविधैर्नयैः ॥२॥

द्वेष के समान पाप नहीं है और क्षमा के समान तप नहीं है। इसलिए विविध प्रकार के यत्नों से क्षमा-भावना करनी चाहिए।

मन शम न गृह्णाति न प्रीतिसुखमश्नुते।
न निद्रा न धृति याति द्वेषशल्ये हृदि स्थिते ॥३॥

हृदय में द्वेष का काटा चुभा होने से मन को न शान्ति मिलती है और न सुख का अनुभव हो पाता है, न नींद आती है और न धीरज रहता है।

पूजयत्यर्थमानैर्यान् येऽपि चैन समाश्रिता।
तेऽप्येन हन्तुमिच्छन्ति स्वामिन द्वेषदुर्भग ॥४॥

द्वेष-दुष्ट स्वामी को, जिनकी वह धन-मान से पूजा करता है और जो उसके आश्रित है, वे भी मार डालना चाहते है।

सुहृदो ऽप्युद्विजन्तेऽस्माद्ददाति न च सेव्यते।
संक्षेपान्नास्ति यत्किंचित्क्रोधनो येन सुस्थित ॥५॥

मित्र भी इससे घबडाते हैं, (वह धन) देता है पर (कोई उसकी) सेवा नहीं करता। सक्षेप से, कुछ भी ऐसा नहीं जिससे क्रोधी विश्राम से रहे।

एवमादीनि दुखानि करोतीत्यरिसंज्ञया।
य क्रोधं हन्ति निर्बन्धात् स सुखीह परत्र च ॥६॥

बैरी बनकर यह इस प्रकार के दुःख देता है। जो आग्रह से (इस) क्रोध को मारता है, वह यहां और परलोक में सुखी होता है।

अनिष्टकरणाज्जातमिष्टस्य च विघातनात्।
दौर्मनस्याशन प्राप्य द्वेषो दृप्तो निहन्ति मा ॥७॥

इष्टनाश और अनिष्ट किए जाने से (उत्पन्न) दौर्मनस्य (=मानसिक दुःख)-का भोजन पा कर अभिमत हुआ द्वेष मुझे मारता है।

तस्माद्विघातयिष्यामि तस्याशनमहं रिपो ।
यस्मान्न मद्वधादन्यत्कृत्यमस्यास्ति वैरिणः ॥८॥

इसलिए उस वैरी के भोजन का मैं नाश करूंगा, क्योंकि मेरी हत्या के अतिरिक्त इस बैरी को दूसरा काम ही नहीं है।

अत्यनिष्टागमेनापि न क्षोभ्या मुदिता मया।
दौर्मनस्येऽपि नास्तीष्टं कुशलं त्ववहीयते ॥९॥

अत्यन्त अनिष्ट हो जाने पर भी मुझे मुदिता में क्षोभ नहीं करना चाहिए। (क्योंकि) दौर्मनस्य से भी इष्ट नहीं हो पाता प्रत्युत पुण्यहानि होती है।

यद्यस्त्येव प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किं।
अथ नास्ति प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किं ॥१०॥

यदि (अनिष्ट का) प्रतिकार है तो दौर्मनस्य से क्या? यदि प्रतिकार नहीं है तो दौर्मनस्य से क्या?

दुःखं न्यक्कारपारुष्यमयशश्चेत्यनीप्सितं ।
प्रियाणामात्मनो वापि शत्रोश्चैतद्विपर्ययात् ॥११॥

दुःख, रूक्षता, तिरस्कार, अपकीर्ति-ये अपने या अपने प्रियों को इष्ट नहीं होते, शत्रु को (ये हों) तो उलटे (इष्ट) होते हैं।

कथंचिल्लभ्यते सौख्यं दुःखं स्थितमयत्नतः ।
दुःखेनैव च निःसारश्चेतस्तस्माद्दृढी भव ॥१२॥

जैसे-कैसे सुख मिल पाता है, दुःख बिना जतन के ही खड़ा रहता है। दुःख मे ही निस्तार हैं। इसलिए हे चित्त! दृढ़ बने रहो।

दुर्गापुत्रककर्णाटा दाहच्छेदादिवेदना।
वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थमहं कस्मात्तु कातरः ॥१३॥

चंडी के उपासक* और कर्णाटक (आदि दाक्षिणात्य)‡ दाह और छेद की पीडाओं को बेकार सहते हैं। मैं मुक्ति के लिए (दुःख सहने में फिर) क्यों कातर होऊ।

न किंचिदस्ति तद्वस्तु यदभ्यासस्य दुष्करं।
तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् सोढव्यापि महाव्यथा ॥१४॥

वह कोई वस्तु नहीं जो अभ्यास से दुष्कर हो। इसलिए हलकी व्यथा (के सहने का) अभ्यास कर लेने से (बाद में) महाव्यथा भी सही जा सकती है।

---

*महानवमी (=आश्विन शुक्ल नवमी)-समय आदि में तीन रात या एक रात उपवास करके चंडी के उपासक अपने अगों को दागते हैं या काटते हैं। ‡कर्णाटक देश आदि के दाक्षिणात्य ऊपर नाम लिखे जाने भर के मान के लिए परस्पर स्पर्धा करते हुए अनेक प्रकार की पीडाओं से दुःख भोगते भोगते मर भी जाते हैं (प्रज्ञाकरमति)। इनका प्रचलन आजकल नामशेष हो चुका है।

उद्दंशदशमशकक्षुत्पिपासादिवेदना ।
महत्कण्ड्वादिदु ख च किमनर्थं न पश्यसि ॥१५॥

डसने वाले डास और मच्छर तथा भूख-प्यास आदि की पीडा, खुजली आदि महादु ख के अनर्थ को (अभ्यासवश सहा जाता) देखते क्यो नहीं ?

शीतोष्णवृष्टिवाताध्वव्याधिबन्धनताडनै ।
सौकुमार्यं न कर्तव्यमन्यथा वर्धते व्यथा ॥१६॥

शीत, उष्ण, वर्षा, वायु, मार्ग, व्याधि, बन्धन और ताडन से (घबडा कर अपने को) सुकुमार न बनाना अन्यथा पीडा बढती जाएगी।

के चित् स्वशोणित दृष्ट्वा विक्रमन्ते विशेषत ।
परशोणितमप्येके दृष्ट्वा मूर्च्छा व्रजन्ति च ॥१७॥
तच्चित्तस्य दृढत्वेन कातरत्वेन चागत ।
दु खदुर्योधनस्तस्माद् भवेदभिभवेद् व्यथा ॥१८॥

कितने ही अपना लोहू देख कर विशेष रूप मे पराक्रम करते है, कितनो को दूसरे का लोहू देख कर भी मूर्छा आ जाती है। वह चित्त के दृढ़ तथा कातर होने से होता है, इसलिए दु ख-दुर्योधन होना चाहिए और पीडा को पराजित करना चाहिए।

दु खेऽपि नैव चित्तस्य प्रसाद क्षोभयेद्बुध ।
संग्रामो हि सह क्लेशैर्युद्धे च सुलभा व्यथा ॥१९॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि दु ख में भी चित्त को प्रसन्न रखे, विकार न आने दे। क्योकि क्लेशो से युद्ध छिडा है और युद्ध में पीडा सुलभ होती है।

उरसारातिघातान्ये प्रतीच्छन्तो जयन्त्यरीन् ।
ते ते विजयिन शूरा शेषास्तु मृतमारका ॥२०॥

छाती से शत्रुओ की चोटों को झेलते हुए जो-जो शत्रुओ को जीतते है वे-वे शूर और विजयी हैं। शेष तो मुर्दों के मारने वाले हैं।

गुणो ऽपरश्च दु.खस्य यत्सवेगान्मदच्युति ।
ससारिषु च कारुण्यं पापाद् भीतिर्जिने स्पृहा ॥२१॥

दु ख का दूसरा यह गुण है कि उसके सवेग से अहकार टूट जाता है, ससार के लोगो पर करुणा होती है, पाप से भय होता है (और) बुद्ध में भक्ति होती है।

पित्तादिषु न मे कोपो महादु खकरेष्वपि ।
सचेतनेषु किं कोपस्तेऽपि प्रत्ययकोपिताः ॥२२॥

महादु खद पित्त आदि पर मुझे क्रोध नहीं आता फिर सचेतनो पर क्रोध क्यों ? वे भी तो (पित्त आदि) प्रत्ययो से कुपित होते है।

अनिष्यमाणमप्येतच्छूलमुत्पद्यते यथा ।
अनिष्यमाणोऽपि बलात् क्रोध उत्पद्यते तथा ॥२३॥

तस्माद्विघातयिष्यामि तस्याशनमहं रिपो ।
यस्मान्न मद्वधादन्यत्कृत्यमस्यास्ति वैरिणः ॥८॥

इसलिए उस वैरी के भोजन का मैं नाश करूंगा, क्योंकि मेरी हत्या के अतिरिक्त इस वैरी को दूसरा काम ही नहीं है।

अत्यनिष्टागमेनापि न क्षोभ्या मुदिता मया।
दौर्मनस्येऽपि नास्तीष्टं कुशलं त्ववहीयते ॥९॥

अत्यन्त अनिष्ट हो जाने पर भी मुझे मुदिता में क्षोभ नहीं करना चाहिए। (क्योंकि) दौर्मनस्य से भी इष्ट नहीं हो पाता प्रत्युत पुण्यहानि होती है।

यद्यस्त्येव प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किं।
अथ नास्ति प्रतीकारो दौर्मनस्येन तत्र किं ॥१०॥

यदि (अनिष्ट का) प्रतिकार है तो दौर्मनस्य से क्या? यदि प्रतिकार नहीं है तो दौर्मनस्य से क्या?

दुःखं न्यक्कारपारुष्यमयशश्चेत्यनीप्सितं ।
प्रियाणामात्मनो वापि शत्रोश्चैतद्विपर्ययात् ॥११॥

दुःख, रूक्षता, तिरस्कार, अपकीर्ति-ये अपने या अपने प्रियो को इष्ट नहीं होते, शत्रु को (ये हों) तो उलटे (इष्ट) होते हैं।

कथंचिल्लभ्यते सौख्यं दुःखं स्थितमयत्नतः ।
दुःखेनैव च निःसारश्चेतस्तस्माद्दृढो भव ॥१२॥

जैसे-कैसे सुख मिल पाता है, दुःख बिना जतन के ही खड़ा रहता है। दुःख में ही निस्तार है। इसलिए हे चित्त! दृढ़ बने रहो।

दुर्गापुत्रककर्णाटा दाहच्छेदादिवेदनां।
वृथा सहन्ते मुक्त्यर्थमहं कस्मात्तु कातरः ॥१३॥

चंडी के उपासक* और कर्णाटक (आदि दाक्षिणात्य)† दाह और छेद की पीड़ाओं को बेकार सहते हैं। मैं मुक्ति के लिए (दुःख सहने में फिर) क्यों कातर होऊं।

न किंचिदस्ति तद्वस्तु यदभ्यासस्य दुष्करं।
तस्मान्मृदुव्यथाभ्यासात् सोढव्यापि महाव्यथा ॥१४॥

वह कोई वस्तु नहीं जो अभ्यास से दुष्कर हो। इसलिए हलकी व्यथा (के सहने का) अभ्यास कर लेने से (बाद में) महाव्यथा भी सही जा सकती है।

---

*महानवमी (=आश्विन शुक्ल नवमी)–समय आदि में तीन रात या एक रात उपवास करके चंडी के उपासक अपने अंगों को दागते हैं या काटते हैं। †कर्णाटक देश आदि के दाक्षिणात्य ऊपर नाम लिखे जाने भर के मान के लिए परस्पर स्पर्धा करते हुए अनेक प्रकार की पीड़ाओं से दुःख भोगते-भोगते मर भी जाते हैं (प्रज्ञाकरमति) इनका प्रचलन आजकल नामशेष हो चुका है।

उद्दंशदंशमशकक्षुत्पिपासादिवेदना।
महत्कण्ड्वादिदुःख च किमनर्थं न पश्यसि ॥१५॥

डसने वाले डास और मच्छर तथा भूख-प्यास आदि की पीडा, खुजली आदि महादु ख के अनर्थ को (अभ्यासवश सहा जाता) देखते क्यो नहीं ?

शीतोष्णवृष्टिवाताध्वव्याधिबन्धनताडनै.।
सौकुमार्यं न कर्तव्यमन्यथा वर्धते व्यथा ॥१६॥

शीत, उष्ण, वर्षा, वायु, मार्ग, व्याधि, बंधन और ताडन से (घबडा कर अपने को) सुकुमार न बनाना अन्यथा पीडा बढती जाएगी।

के चित् स्वशोणित दृष्ट्वा विक्रमन्ते विशेषत ।
परशोणितमप्येके दृष्ट्वा मूर्च्छा व्रजन्ति च ॥१७॥
तच्चित्तस्य दृढत्वेन कातरत्वेन चागत ।
दु खदुर्योधनस्तस्माद् भवेदभिभवेद् व्यथा ॥१८॥

कितने ही अपना लोहू देख कर विशेष रूप मे पराक्रम करते है, कितनो को दूसरे का लोहू देख कर भी मूर्छा आ जाती है। वह चित्त के दृढ़ तथा कातर होने से होता है, इसलिए दु ख-दुर्योधन होना चाहिए और पीडा को पराजित करना चाहिए।

दु खेऽपि नैव चित्तस्य प्रसाद क्षोभयेद्‌बुध ।
सग्रामो हि सह क्लेशैर्युद्धे च सुलभा व्यथा ॥१९॥

बुद्धिमान् को चाहिए कि दु ख में भी चित्त को प्रसन्न रखे, विकार न आने दे । क्योंकि क्लेशो से युद्ध छिडा है और युद्ध में पीडा सुलभ होती है।

उरसारातिघातान्ये प्रतीच्छन्तो जयन्त्यरीन्।
ते ते विजयिन. शूरा शेषास्तु मृतमारका ॥२०॥

छाती से शत्रुओ की चोटों को झेलते हुए जो-जो शत्रुओ को जीतते है वे-वे शूर और विजयी हैं। शेष तो मुर्दों के मारने वाले हैं।

गुणो ऽपरश्च दु खस्य यत्सवेगान्मदच्युति ।
ससारिषु च कारुण्य पापाद् भीतिर्जिने स्पृहा ॥२१॥

दु.ख का दूसरा यह गुण है कि उसके सवेग मे अहकार टूट जाता है, ससार के लोगो पर करुणा होती है, पाप से भय होता है (और) बुद्ध में भक्ति होती है।

पित्तादिषु न मे कोपो महादु खकरेष्वपि।
सचेतनेषु किं कोपस्तेऽपि प्रत्ययकोपिता. ॥२२॥

महादु खद पित्त आदि पर मुझे क्रोध नहीं आता फिर सचेतनो पर क्रोध क्यो ? वे भी तो (पित्त आदि) प्रत्ययो से कुपित होते हैं।

अनिष्यमाणमप्येतच्छूलमुत्पद्यते यथा।
अनिष्यमाणोऽपि बलात् क्रोध उत्पद्यते तथा ॥२३॥

बिना चाहे ही (शरीर में) जैसे यह शूल उत्पन्न होता है, वैसे बिना चाहे ही (प्राणियों में) क्रोध उत्पन्न होता है।

कुप्यामीति न सचिन्त्य कुप्यति स्वेच्छया जन ।
उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य क्रोध उत्पद्यते न च ॥२४॥

'क्रोध करूगा' ऐसा सोच अपनी इच्छा से प्राणी क्रोध नहीं करता। 'उत्पन्न हूँगा' यह अभिप्राय रख कर क्रोध उत्पन्न नहीं होता।

ये के चिदपराधास्तु पापानि विविधानि च।
सर्वं तत्प्रत्ययबलात् स्वतन्त्र तु न विद्यते ॥२५॥

जितने अपराध और विविध पाप होते है, सब अपने प्रत्यय-बल से होते हैं। स्वतन्त्र नहीं ही होते।

न च प्रत्ययसामग्र्या जनयामीति चेतना।
न चापि जनितस्यास्ति जनितोऽस्मीति चेतना ॥२६॥

प्रत्यय–सामग्री को चेतना नहीं होती कि मै उत्पन्न करती हू और न उत्पन्न (कार्य) को चेतना होती है कि मै उत्पन्न किया गया हू।

यत्प्रधान किलाभीष्ट यत्तदात्मेति कल्पित।
तदेव हि भवामीति न सचिन्त्योपजायते ॥२७॥

जिनके मत में प्रधान *(एक स्वतन्त्र पदार्थ) है (या) जिन्होंने आत्मा† की (एक स्वतन्त्र पदार्थ के रूप में) कल्पना की है (वह प्रधान या आत्मा) 'वही मै उत्पन्न होता हू'–यह सोच कर उत्पन्न नहीं होता।

अनुत्पन्न हि तन्नास्ति क इच्छेद् भवितु तदा।
विषयव्यावृतत्वाच्च निरोद्धुमपि नेहते ॥२८॥

वह (आत्मा) अनुत्पन्न तो है नहीं, फिर होने की इच्छा किसे होगी? और (वह) यदि विषय-प्रवृत्त हो, तो निवृत्त भी न होगा।

नित्यो ह्यचेनश्चात्मा व्योमवत्स्फुटमक्रिय ।
प्रत्ययान्तरसगेऽपि निर्विकारस्य का क्रिया ॥२९॥

आत्मा नित्य है, (वैशेषिक मत में) अचेतन है, आकाशवत् स्पष्ट ही निष्क्रिय है। दूसरे प्रत्ययो के संग से भी निर्विकार में क्रिया कैसी?

य. पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन कि कृत।
तस्य क्रियेति संबन्धे कतरत्तन्निबन्धन ॥३०॥

क्रिया के समय जो (आत्मा) पूर्ववत् निष्क्रिय है, क्रिया से उसे करना ही क्या? 'उसकी क्रिया' इस सबन्ध (वाचक प्रयोग) में उसका (क्रिया से) कौन सा संबन्ध है?

---

*प्रधान=प्रकृति। सांख्यमत-समत प्रकृति की ओर सकेत है।

†आत्मा=पुरुष। साख्य-वैशेषिक समत आत्मवाद की ओर संकेत है।

एवं परवशं सर्वं यद्वशं सोऽपि चावशः।
निर्माणवदचेष्टेषु भावेष्वेवं क्व कुप्यते ॥३१॥

इस प्रकार सब कुछ परतंत्र है, परतन्त्रकारक भी (स्वहेतु–) परतन्त्र है। एवं निर्मितो के समान चेष्टाहीन भावों पर कोप कहा?

वारणापि न युक्तैव क किं वारयतीति चेत्।
युक्ता प्रतीत्यता यस्माद्दुःखस्योपरतिर्मता ॥३२॥

(प्रश्न) इस प्रकार यदि सब कुछ निर्मितों के समान माया है तो क्रोध आदि से निवारण करना ठीक नहीं। कारण कि निवारण करना तभी हो सकता है जब कोई वास्तविक पदार्थ हो। जब कुछ वास्तविक पदार्थ है ही नहीं तब निवारण करने वाला कौन? जिसका निवारण किया जाता है वह क्या? (उत्तर) मायामय पदार्थों में भी प्रतीत्य-समुत्पाद सबन्ध है। अतः निवारण करना ठीक है। दुःखनिरोध सब को इष्ट है अतः दुःख के कारण और उसके निरोध के उपाय का प्रतिपादन उचित ही है।*

तस्मादमित्रं मित्रं वा दृष्ट्वाप्यन्यायकारिणं।
ईदृशा प्रत्यया अस्येत्येव मत्वा सुखी भवेत् ॥३३॥

अत शत्रु-मित्र—या जिस किसी अन्यायकारी को देख, 'इसके ऐसे प्रत्यय हैं'—ऐसा सोचकर नाराज नहीं होना चाहिए।

यदि तु स्वेच्छया सिद्धि. सर्वेषामेव देहिना।
न भवेत् कस्य चिद्दुःख न दु.ख कश्चिदिच्छति ॥३४॥

यदि अपनी इच्छा से सब देहधारियो की (मनोरथ–) सिद्धि हो जाती तो किसी को दुःख न होता। क्योंकि दुःख कोई नहीं चाहता।

प्रमादादात्मनात्मानं बाधन्ते कण्टकादिभि.।
भक्तच्छेदादिभि कोपाद्दुरापस्त्र्यादिलिप्सया ॥३५॥

प्रमाद से (लोग) अपने-आप कांटे चुभो लेते हैं। क्रोध अथवा अलभ्य स्त्री आदि की कामना से भोजन आदि का त्याग कर अपने आप को सताते हैं।

उद्बन्धनप्रपातैश्च विषापथ्यादिभक्षणैः।
निघ्नन्ति केचिदात्मानमपुण्याचरणेन च ॥३६॥

फांसी लगा, पर्वत से गिर, विष और अपथ्य आदि खा, तथा पापाचरण कर कितने ही आत्मघात करते हैं।

यदैवं क्लेशवश्यत्वाद् घ्नन्त्यात्मानमपि प्रिय।
तदैषां परकायेषु परिहार. कथं भवेत् ॥३७॥

जब इस प्रकार क्लेशो के वश में हो अपने प्रिय शरीर की हत्या कर डालते हैं, तब दूसरों के शरीर के प्रति (वैसा करने से) कैसे रुकेंगे।

*यह तात्पर्य है। अक्षरार्थ मूल से समझ लेना कठिन नहीं है।

बिना चाहे ही (शरीर में) जैसे यह शूल उत्पन्न होता है, वैसे बिना चाहे ही (प्राणियो में) क्रोध उत्पन्न होता है।

कुप्यामीति न सचिन्त्य कुप्यति स्वेच्छया जनः ।
उत्पत्स्य इत्यभिप्रेत्य क्रोध उत्पद्यते न च ॥२४॥

'क्रोध करूगा' ऐसा सोच अपनी इच्छा से प्राणी क्रोध नहीं करता। 'उत्पन्न हूँगा' यह अभिप्राय रख कर क्रोध उत्पन्न नहीं होता।

ये के चिदपराधास्तु पापानि विविधानि च ।
सर्वं तत्प्रत्ययबलात् स्वतन्त्र तु न विद्यते ॥२५॥

जितने अपराध और विविध पाप होते है, सब अपने प्रत्यय-बल से होते हैं। स्वतत्र नहीं ही होते।

न च पत्ययसामग्र्या जनयामीति चेतना ।
न चापि जनितस्यास्ति जनितोऽस्मीति चेतना ॥२६॥

प्रत्यय-सामग्री को चेतना नहीं होती कि मै उत्पन्न करती हू और न उत्पन्न (कार्य) को चेतना होती है कि मै उत्पन्न किया गया हू।

यत्प्रधान किलाभीष्ट यत्तदात्मेति कल्पित ।
तदेव हि भवामीति न सचिन्त्योपजायते ॥२७॥

जिनके मत में प्रधान *(एक स्वतत्र पदार्थ) है (या) जिन्होने आत्मा† को (एक स्वतत्र पदार्थ के रूप में) कल्पना की है (वह प्रधान या आत्मा) 'वही मै उत्पन्न होता हू'-यह सोच कर उत्पन्न नहीं होता।

अनुत्पन्न हि तन्नास्ति क इच्छेद् भवितु तदा ।
विषयव्यावृतत्वाच्च निरोद्धुमपि नेहते ॥२८॥

वह (आत्मा) अनुत्पन्न तो है नहीं, फिर होने की इच्छा किसे होगी? और (वह) यदि विषय-प्रवृत्त हो, तो निवृत्त भी न होगा।

नित्यो ह्यचेतनश्चात्मा व्योमवत्स्फुटमक्रिय ।
प्रत्ययान्तरसगेऽपि निर्विकारस्य का क्रिया ॥२९॥

आत्मा नित्य है, (वैशेषिक मत में) अचेतन है, आकाशवत् स्पष्ट ही निष्क्रिय है। दूसरे प्रत्ययों के सग से भी निर्विकार में क्रिया कैसी?

यः पूर्ववत् क्रियाकाले क्रियायास्तेन किं कृत ।
तस्य क्रियेति संबन्धे कतरस्तन्निबन्धन ॥३०॥

क्रिया के समय जो (आत्मा) पूर्ववत् निष्क्रिय है, क्रिया से उसे करना ही क्या? 'उसकी क्रिया' इस संबन्ध (वाचक प्रयोग) में उसका (क्रिया से) कौन सा सबन्ध है?

---

*प्रधान=प्रकृति। साख्यमत-समत प्रकृति की ओर सकेत है।

†आत्मा=पुरुष। साख्य-वैशेषिक समत आत्मवाद की ओर संकेत है।

असिपत्रवनं यद्वद् यथा नारकपक्षिणः ।
मत्कर्मजनिता एव तथेद कुत्र कुप्यते ॥४६॥

जैसे असिपत्र-वन, जैसे नरक के पक्षी मेरे कर्म से ही उत्पन्न होते है, वैसे यह (ससारदु.ख भी है) फिर कहा कोप करूं ?

मत्कर्मचोदिता एव जाता मय्यपकारिणः ।
येन यास्यन्ति नरकान्मयैवामो हता ननु ॥४७॥

मेरे कर्मों से प्रेरित होकर वे मेरे अपकारी हुए है, और इससे उन्हें ही नरक जाना पड़ेगा। इस प्रकार मानो मैंने ही उनकी हत्या की है।

एतानाश्रित्य मे पाप क्षीयते क्षमतो बहु ।
मामाश्रित्य तु यान्त्येते नरकान् दीर्घवेदनान् ॥४८॥

क्षमा करने से, मेरा बहुत-सा पाप इनके सहारे कट जाता है पर मेरे सहारे ये चिर दु.खद नरकों में जा रहे है।

अहमेवापकार्येषां ममैते चोपकारिण ।
कस्माद्विपर्ययं कृत्वा खलचेत प्रकुप्यसि ॥४९॥

(अतएव) मैं ही इनका अपकारी हू, ये मेरे उपकारी है। हे दुष्ट चित्त! क्यो उलटे इन पर कोप करता है ?

भवेन्ममाशयगुणो न यामि नरकान्यदि ।
एषामत्र किमायात यद्यात्मा रक्षितो मया ॥५०॥

यदि मैं नरक नहीं जाता तो वह मेरी अन्तरात्मा के गुण से है। यदि मैंने अपने आप को बचा लिया तो उससे इन (प्राणियो) का क्या आया-गया ?

अथ प्रत्यपकारी स्यां तथाप्येते न रक्षिता. ।
हीयते चापि मे चर्या तस्मान्नष्टास्तपस्विनः ॥५१॥

यदि (मै भी) उपकार के बदले अपकार करू तो ये नहीं बचते और मेरी चर्या भी नष्ट होती है। इससे इन बेचारों का सत्यानाश ही है।

मनो हन्तुममूर्तत्वान्न शक्य केन चित् क्व चित् ।
शरीराभिनिवेशात्तु कायदु.खेन बाध्यते ॥५२॥

अमूर्त होने के कारण कहीं कोई मन को नहीं मार सकता। शरीर में आसक्त होने के कारण शरीर-दु.ख से उसे पीड़ा होती है।

न्यक्कार परुषं वाक्यमयशश्चेत्यय गण ।
काय न बाधते तेन चेत कस्मात्प्रकुप्यसि ॥५३॥

...तिरस्कार, कठोर वचन और अपकीर्ति का यह समूह शरीर को पीड़ा नहीं देता, (फिर) हे चित्त क्यों क्रोध करते हो ?

क्लेशोन्मत्तीकृतेष्वेव प्रवृत्तेष्वात्मघातने ।
न केवलं दया नास्ति क्रोध उत्पद्यते कथ ॥३८॥

क्लेशो से उन्मत्त हो आत्मघात में लगे इन (प्राणियो) पर केवल दया न आए यह हो नहीं सकता। क्रोध उत्पन्न ही कैसे हो सकता है ?

यदि स्वभावो बालाना परोपद्रवकारिता ।
तेषु कोपो न युक्तो मे यथाग्नौ दहनात्मके ॥३९॥

यदि अज्ञानियो का स्वभाव दूसरो से प्रति उपद्रव करने का है तो मुझे उन पर क्रोध करना उचित नहीं, क्योकि आग जहा होगी वहां जलाएगी ही।

अथ दोषोऽयमागन्तु सत्त्वा प्रकृतिपेशला ।
तथाप्ययुक्तस्तत्कोप. कटुधूमे यथाम्बरे ॥४०॥

और यदि प्राणी स्वभाव के सरल हैं तथा यह दोष आगन्तुक है, तो भी क्रोध करना अनुचित है, क्योकि कड़ुए धुए में आकाश का हाथ ही क्या ?

मुख्य दण्डादिक हित्वा प्रेरके यदि कुप्यते ।
द्वेषेण प्रेरित. सोऽपि द्वेषे द्वेषोऽस्तु मे वर ॥४१॥

यदि (पीडा देने में) प्रधान दण्ड आदि को छोडकर (उनके) प्रेरक पर क्रोध करता हू, तो वह भी द्वेष से प्रेरित हुआ है, अत मेरा द्वेष के प्रति क्रोध करना ठीक हो सकता है (द्वेषी के प्रति नहीं)।

मयापि पूर्वं सत्त्वानामीदृश्येव व्यथा कृता ।
तस्मान्मे युक्तमेवैतत् सत्त्वोपद्रवकारिण ॥४२॥

मैंने भी पहले प्राणियों को इसी प्रकार सताया है, इसलिए मुझ प्राणियों के उपद्रवकारी के प्रति यह ठीक ही है।

तच्छस्त्र मम कायश्च द्वय दु खस्य कारण ।
तेन शस्त्रं मया कायो गृहीत कुत्र कुप्यते ॥४३॥

उस (अपकारी) का शस्त्र और मेरा शरीर दोनो दु ख के कारण है। उसने शस्त्र पकडा है और मैंने शरीर । फिर क्रोध कहा किया जाए ?

गण्डोऽय प्रतिमाकारो गृहीतो घट्टनासह ।
तृष्णान्धेन मया तत्र व्यथाया कुत्र कुप्यते ॥४४॥

प्रतिमारूपी, पीडासहिष्णु मैंने यह फोडा पाला है। उसके पीडित होने पर तृष्णान्ध हो मैं किस पर क्रोव करता हू !

दु ख नेच्छामि दु खस्य हेतुमिच्छामि बालिश ।
स्वापराधागते दु.खे कस्मादन्यत्र कुप्यते ॥४५॥

(मैं) मूढ दु ख नहीं चाहता, दु ख के हेतु (शरीर आदि) को चाहता हू। (फलत ) अपने अपराध से जब दु ख आया है तब दूसरे पर क्रोध क्यों ?

अवर्णवादिनि द्वेष· सत्वान्* नाशयतीति चेन् ।
परायशस्करे ऽप्येव कोपस्ते किं न जायते ।।६२।।

(स्व–) निन्दक के प्रति यदि द्वेष इसलिए है कि वह सत्त्वापकारी* है तो पर-निन्दक के प्रति भी तुझे क्रोध क्यो नहीं आता ?

परायत्ताप्रसादत्वादप्रसादिषु ते क्षमा ।
क्लेशोत्पादपरायत्ते क्षमा नावर्णवादिनि ।।६३।।

उन क्रोधियो पर तेरी क्षमा है जिनका कि क्रोध दूसरों पर है पर (स्व–) निन्दक के प्रति क्षमा नहीं (यद्यपि) उसका भी (निन्दा–) क्लेश दूसरो (=हेतुप्रत्ययो) पर निर्भर है।

प्रतिमास्तूपसद्धर्मनाशकाक्रोशकेषु च ।
न युज्यते मम क्रोधो बुद्धादीना न हि व्यथा ।।६४।।

प्रतिमा, स्तूप और सद्धर्म के नाशको और निंदको पर मुझे क्रोध करना उचित नहीं क्योंकि बुद्ध आदि को इससे व्यथा नहीं होती।

गुरुसालोहितादीना प्रियाणा चापकारिषु ।
पूर्ववत् प्रत्ययोत्पाद दृष्ट्वा कोप निवारयेत् ।।६५।।

पूर्ववत् (यह) देख (कि सब) हेतु-प्रत्ययवश होता है, गुरुओ, स्वजनों और प्रियों का अपकार करने वालो के प्रति क्रोध न करना चाहिए।

चेतनाचेतनकृता देहिना नियता व्यथा ।
सा व्यथा चेतने दृष्टा क्षमस्वैना व्यथामत ।।६६।।

देहधारियों को चेतनो और अचेतनों से पीडा होने का नियम है। वह पीडा चेतन में होती दिखाई पड़ती है। इसलिए उस व्यथा को सहन करो।

मोहादेके ऽपराध्यन्ति कुप्यन्त्यन्येऽपि मोहिता ।
ब्रूम कमेषु निर्दोष क वा ब्रूमोऽपराधिन ।।६७।।

मोह से कोई अपराध करते है और मोह से कोई क्रोध करते है। इनमें किसको निर्दोष कहू और किसको अपराधी ?

कस्मादेव कृत पूर्व येनैव बाध्यसे परै ।
सर्वे कर्मपरायत्ता कोऽहमत्रान्यथाकृतो ।।६८।।

---

*संधिवश इस पद के दो रूप हो सकते है–(१) सत्त्वान् (२) स त्वां । प्रथम रूप लेकर नाशयति पद से अन्वय कर भोटानुवाद है—सेमुस्-चन्-छ,मुस् ग्नोद्-प = सत्त्वापकारी । दूसरे रूप के नाशयति से अन्वित कर अर्थ होगा वह तेरा अपकारी या वह जो तेरा अपकार करता है। नाश से यहां अपकार ही अभिप्रेत है। प्रज्ञाकरमति ने दोनों पाठों को ठीक माना है।

मत्यप्रसादो योऽन्येषां स किं मां भक्षयिष्यति ।
इह जन्मान्तरे वापि येनासौ मेऽनभीप्सित ॥५४॥

मेरे प्रति दूसरों की जो अप्रसन्नता है, वह यहा या दूसरे जन्म में क्या मुझ खा जाएगी, जो अभीष्ट नहीं ।

लाभान्तरायकरित्वाद्यदसौ मेऽनभीप्सित ।
नङ्क्ष्यतीहैव मे लाभ पाप तु स्थास्यति ध्रुव ॥५५॥

लाभ में विघ्नकारक होने के कारण यदि मुझे वह अभीष्ट नहीं तो मेरे लाभों को तो यहीं नाश हो जाना है पर पाप को (जब तक भोग न हो जाए तब तक) निश्चित रूप से रहना है ।

वरमद्यैव मे मृत्युर्न मिथ्याजीवित चिर ।
यस्माच्चिरमपि स्थित्वा मृत्युदुःख तदेव मे ॥५६॥

आज ही मेरी मृत्यु का हो जाना श्रेष्ठ है, चिर तक मिथ्याजीवन (इष्ट) नहीं । क्योंकि चिर तक ठहर कर भी मुझे वही मृत्यु-दुःख भोगना है।

स्वप्ने वर्षशत सौख्य भुक्त्वा यश्च विबुध्यते ।
मुहूर्तमपरो यश्च सुखी भूत्वा विबुध्यते ॥५७॥

ननु निवर्तते सौख्य द्वयोरपि विबुद्धयो ।
सैवोपमा मृत्युकाले चिरजीव्यल्पजीविनो ॥५८॥

स्वप्न में जो सौ बरस सुख भोग कर जगता है और जो क्षण भर सुखी होकर जगता है, उन दोनों का सुख जग जाने पर नहीं रहता। चिरजीवी और अल्पजीवी की (भी) मृत्यु के समय वही उपमा है अर्थात् मृत्युदुःख दोनों के लिए समान है।

लब्ध्वापि च बहूल्लाभान् चिर भुक्त्वा सुखान्यपि ।
रिक्तहस्तश्च नग्नश्च यास्यामि मुषितो यथा ॥५९॥

बहुत लाभ पाकर भी, चिर तक सुख भोग कर भी, मुझे लुट गया जैसा खाली हाथ और नगा जाना होगा ।

पापक्षय च पुण्य च लाभाज्जीवन् करोमि चेत् ।
पुण्यक्षयश्च पाप च लाभार्थं क्रुध्यतो ननु ॥६०॥

लाभ से जीते हुए पापक्षय और पुण्यार्जन करता हू (यदि यह सोचू तो ठीक नहीं) क्योंकि लाभ के लिए क्रोध करते हुए (मैं वस्तुत) पुण्यक्षय और पापार्जन करता हू ।

यदर्थमेव जीवामि तदेव यदि नश्यति ।
किं तेन जीवितेनापि केवलाशुभकारिणा ॥६१॥

जिस (पुण्य) के लिए जीता हू यदि उसी का नाश हो, तो कोरे अपुण्य कमाने वाले उस जीवन से क्या ?

इद च ते हृष्टिसुखं निरवद्यं सुखोदय ।
न वारित च गुणिभि' परावर्जनमुत्तम ॥७७॥

यह तेरा हर्ष-सुख अनिद्य और सुखजनक है। गुणियो ने इसका निषेध नहीं किया है। (यह वह) उत्तम (साधन है कि जिससे) दूसरे नम्र होते हैं।

तस्यैव सुखमित्येव तवेद यदि न प्रिय ।
भृतिदानादिविरते दृष्टादृष्टं हतं भवेत् ॥७८।

"उसी को सुख है"--इसलिए यह तुझे भाता नहीं, तो (उसको ही सुख होगा--इस भय से जब तू) न वेतन देगा और न दान आदि करेगा (तब) तेरे दृष्ट और अदृष्ट (कैसे सुधरेंगे वे तो) बिगड़ (ही) जाएगे।

स्वगुणे कीर्त्यमाने च परसौख्यमपीच्छसि ।
कीर्त्यमाने परगुणे स्वसौख्यमपि नेच्छसि ॥७९॥

अपनी कीर्ति होने पर चाहते हो कि दूसरे सुखी हो पर दूसरो के गुणकीर्तन होने पर अपने आप सुखी होना भी नहीं चाहते।

बोधिचित्त समुत्पाद्य सर्वसत्त्वसुखेच्छया ।
स्वय लब्धसुखेष्वद्य कस्मात् सत्त्वेषु कुप्यसि ॥८०॥

सब प्राणियों के सुख की चाह से बोधिचित्त उत्पन्न कर, आज स्वयं सुखी हुए प्राणियो पर क्यों कुपित होते हो ?

त्रैलोक्यपूज्य बुद्धत्व सत्त्वानां किल वाञ्छसि ।
सत्कारमित्वर दृष्ट्वा तेषा किं परिदह्यसे ॥८१॥

प्राणियों के लिए त्रैलोक्यपूज्य बुद्धता की कामना करते हो, पर उनके नश्वर सत्कार को देख क्यो जलते हो ?

पुष्णाति यस्त्वया पोष्य तुभ्यमेव ददाति स ।
कुटुम्बजीविन लब्ध्वा न हृष्यसि प्रकुप्यसि ॥८२॥

तुम्हें जिसे पोसना है, उसे जो पोस रहा हो, वह वस्तुत तुम्हें दे रहा है। (ऐसा) कुटुम्ब-पोषक पाकर, प्रसन्न न हो नाराज हो रहे हो !

स किं नेच्छति सत्त्वाना यस्तेषा बोधिमिच्छति ।
बोधिचित्त कुतस्तस्य योऽन्यसपदि कुप्यति ॥८३॥

जो बोधि चाहता है, वह प्राणियों का क्या नहीं चाहता ? जिसे दूसरे की संपत्ति पर कोप है, उसे बोधिचित्त कहां ?

यदि तेन न तल्लब्धं स्थित दानपतेर्गृहे ।
सर्वथापि न तत्तेऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किं ॥८४॥

यदि उसे उस (धन) का लाभ न हुआ तो वह दानपति के घर रह जाएगा। सर्वथा वह तेरा नहीं है। (फिर) उसके दान या अदान में तेरा क्या ?

पहले क्यो ऐसी करनी की जो इस प्रकार दूसरो से सताए जा रहे हो। सब कर्माधीन है। उसे उलटने वाला मै कौन ?

एव बुद्ध्वा तु पुण्येष तथा यत्न करोम्यह।
येन सर्वे भविष्यन्ति मैत्रचित्ता परस्पर ॥६९॥

ऐसा समझ कर मुझे वैसा यत्न करना है कि सब परस्पर मैत्री-चित हो जाए।

दह्यमाने गृहे यद्वदग्निर्गत्वा गृहान्तर।
तृणादौ यत्र सज्येत तदाकृष्यापनीयते ॥७०॥

एव चित्त यदासगाद्दह्यते द्वेषवह्निना।
तत्क्षण तत्परित्याज्य पुण्यात्मोद्दाहशकया ॥७१॥

घर में आग लगने पर, दूसरे घर के तृण आदि में जहा आग लगने की सभावना होती है, जैसे उसे खींच कर अलग किया जाता है, वैसे जिसके सग से चित्त द्वेष की आग से जलने लगता हो, उसे उसी क्षण पुण्य-शरीर के जलने की शका से छोड देना चाहिए।

मारणीय कर छित्वा मुक्तश्चेत् किमभद्रकं।
मनुष्यदु खैर्नरकान्मुक्तश्चेत् किमभद्रक ॥७२॥

बधार्ह को, यदि हाथ काट कर, मुक्त कर दिया जाए तो अमगल क्या? लोगों के हाथो दु ख भोग यदि नरक से मुक्ति मिल जाए तो अमगल क्या?

यद्येतन्मात्रमेवाद्य दु ख सोढु न पार्यते।
तन्नारकव्यथाहेतु क्रोध कस्मान्न वार्यते ॥७३॥

यदि आज इतना भर भी दु ख नहीं सहा जाता तो नरक के दु.खो के मूल क्रोध का निवारण क्यों नहीं करते?

कोपार्थमेवमेवाह नरकेषु सहस्रश।
कारितोऽस्मि न चात्मार्थ परार्थो वा कृतो मया ॥७४॥

क्रोध के कारण ही मैं यो ही सहस्रोबार नरको में बडी रहा। पर मैने न अपना ही स्वार्थ साधा न दूसरो का ही।

न चेद तादृशं दु ख महार्थं च करिष्यति।
जगद्दु खहरे दु खे प्रीतिरेवात्र युज्यते ॥७५॥

यह (क्षाति चर्या का) दु ख वैसा नहीं है और महार्थ (=बोधि) साधक है। ऐसे दु.ख से प्रीति करना ठीक है जिससे संसार का दु.ख दूर होता है।

यदि प्रीतिसुखं प्राप्तमन्यं स्तुत्वा गुणोर्जितं।
मनस्त्वमपि त स्तुत्वा कस्मादेवं न हृष्यसि ॥७६॥

यदि किसने ही (किसी के) गुणो की महिमा गाकर प्रेमानन्द में मग्न हं, तो हे चित्त! तू भी उसकी स्तुति कर क्यों नहीं मगन होता?

इद च ते हृष्टिसुखं निरवद्य सुखोदयं।
न वारित च गुणिभि परावर्जनमुत्तम ॥७७॥

यह तेरा हर्ष-सुख अनिद्य और सुखजनक है। गुणियों ने इसका निषेध नहीं किया है। (यह यह) उत्तम (साधन है कि जिससे) दूसरे नम्र होते हैं।

तस्यैव सुखमित्येव तवेदं यदि न प्रिय।
भृतिदानादिविरते दृष्टादृष्ट हत भवेत् ॥७८।

"उसी को सुख है"—इसलिए यह तुझे भाता नहीं, तो (उसको ही सुख होगा—इस भय से जब तू) न वेतन देगा और न दान आदि करेगा (तब) तेरे दृष्ट और अदृष्ट (कैसे सुधरेंगे वे तो) बिगड (ही) जाएगे।

स्वगुणे कीर्त्यमाने च परसौख्यमपीच्छसि।
कीर्त्यमाने परगुणे स्वसौख्यमपि नेच्छसि ॥७९॥

अपनी कीर्ति होने पर चाहते हो कि दूसरे सुखी हो पर दूसरो के गुणकीर्तन होने पर अपने आप सुखी होना भी नहीं चाहते।

बोधिचित्तं समुत्पाद्य सर्वसत्त्वसुखेच्छया।
स्वय लब्धसुखेभ्यश्च कस्मात् सत्त्वेषु कुप्यसि ॥८०॥

सब प्राणियो के सुख की चाह से बोधिचित्त उत्पन्न कर, आज स्वयं सुखी हुए प्राणियो पर क्यो कुपित होते हो ?

त्रैलोक्यपूज्यं बुद्धत्व सत्त्वाना किल वाञ्छसि।
सत्कारमित्वर दृष्ट्वा तेषा किं परिदह्यसे ॥८१॥

प्राणियो के लिए त्रैलोक्यपूज्य बुद्धता की कामना करते हो, पर उनके नश्वर सत्कार को देख क्यों जलते हो ?

पुष्णाति यस्त्वया पोष्य तुभ्यमेव ददाति सः।
कुटुम्बजीविन लब्ध्वा न हृष्यसि प्रकुप्यसि ॥८२॥

तुम्हें जिसे पोसना है, उसे जो पोस रहा हो, वह वस्तुत तुम्हें दे रहा है। (ऐसा) कुटुम्ब-पोषक पाकर, प्रसन्न न हो नाराज हो रहे हो !

स किं नेच्छति सत्त्वानां यस्तेषा बोधिमिच्छति।
बोधिचित्त कुतस्तस्य योऽन्यसपदि कुप्यति ॥८३॥

जो बोधि चाहता है, वह प्राणियो का क्या नहीं चाहता ? जिसे दूसरे की सपत्ति पर कोप है, उसे बोधिचित्त कहा ?

यदि तेन न तल्लब्ध स्थितं दानपतेर्गृहे।
सर्वथापि न तत्तेऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किं ॥८४॥

यदि उसे उस (धन) का लाभ न हुआ तो वह दानपति के घर रह जाएगा। सर्वथा वह तेरा नहीं है। (फिर) उसके दान या अदान में तेरा क्या ?

पहले क्यो ऐसी करनी की जो इस प्रकार दूसरो से सताए जा रहे हो। सब कर्माधीन हैं। उसे उलटने वाला मैं कौन?

एव बुद्ध्वा तु पुण्येष तथा यत्न करोम्यह।
येन सर्वे भविष्यन्ति मैत्रचित्ता परस्पर ॥६९॥

ऐसा समझ कर मुझे वैसा यत्न करना है कि सब परस्पर मैत्री-चित हो जाए।

दह्यमाने गृहे यद्वदग्निर्गत्वा गृहान्तर।
तृणादौ यत्र सज्येत तदाकृष्यापनीयते ॥७०॥

एव चित्त यदासगाद्दह्यते द्वेषवह्निना।
तत्क्षणं तत्परित्याज्य पुण्यात्मोद्दाहशकया ॥७१॥

घर में आग लगने पर, दूसरे घर के तृण आदि में जहां आग लगने की सभावना होती है, जैसे उसे खींच कर अलग किया जाता है, वैसे जिसके सग से चित्त द्वेष की आग से जलने लगता हो, उसे उसी क्षण पुण्य-शरीर के जलने की शका से छोड देना चाहिए।

मारणीय कर छित्वा मुक्तश्चेत् किमभद्रक।
मनुष्यदुःखैर्नरकान्मुक्तश्चेत् किमभद्रक ॥७२॥

बधार्ह को, यदि हाथ काट कर, मुक्त कर दिया जाए तो अमगल क्या? लोगों के हाथो दुःख भोग यदि नरक से मुक्ति मिल जाए तो अमगल क्या?

यद्येतन्मात्रमेवाद्य दुःख सोढु न पार्यते।
तन्नारकव्यथाहेतु क्रोध कस्मान्न वार्यते ॥७३॥

यदि आज इतना भर भी दुःख नहीं सहा जाता तो नरक के दुःखो के मूल क्रोध का निवारण क्यों नहीं करते?

कोपार्थमेवमेवाह नरकेषु सहस्रश।
कारितोऽस्मि न चात्मार्थ परार्थो वा कृतो मया ॥७४॥

क्रोध के कारण ही मैं यो ही सहस्रोबार नरकों में बसी रहा। पर मैंने न अपना ही स्वार्थ साधा न दूसरों का ही।

न चेद तादृश दुःख महार्थं च करिष्यति।
जगद्दुःखहरे दुःखे प्रीतिरेवात्र युज्यते ॥७५॥

यह (क्षाति चर्या का) दुःख वैसा नहीं है और महार्थ (=बोधि) साधक है। ऐसे दुःख से प्रीति करना ठीक है जिससे संसार का दुःख दूर होता है।

यदि प्रीतिसुख प्राप्तमन्यैं स्तुत्वा गुणोर्जितं।
मनस्त्वमपि त स्तुत्वा कस्मादेवं न हृष्यसि ॥७६॥

यदि किसने ही (किसी के) गुणों की महिमा गाकर प्रेमानन्द में मग्न हैं, तो हे चित्त! तू भी उसकी स्तुति कर क्यो नही मगन होता?

इद च ते हृष्टिसुखं निरवद्यं सुखोदयं।
न वारित च गुणिभि परावर्जनमुत्तमं ॥७७॥

यह तेरा हर्ष-सुख अनिद्य और सुखजनक है। गुणियों ने इसका निषेध नहीं किया है। (यह वह) उत्तम (साधन है कि जिससे) दूसरे नम्र होते हैं।

तस्यैव सुखमित्येवं तवेदं यदि न प्रिय।
भृतिदानादिविरते दृष्टादृष्ट हत भवेत् ॥७८॥

"उसी को सुख है"--इसलिए यह तुझे भाता नहीं, तो (उसको ही सुख होगा—इस भय से जब तू) न वेतन देगा और न दान आदि करेगा (तब) तेरे दृष्ट और अदृष्ट (कैसे सुधरेंगे वे तो) बिगड (ही) जाएगे।

स्वगुणे कीर्त्यमाने च परसौख्यमपीच्छसि।
कीर्त्यमाने परगुणे स्वसौख्यमपि नेच्छसि ॥७९॥

अपनी कीर्ति होने पर चाहते हो कि दूसरे सुखी हो पर दूसरो के गुणकीर्तन होने पर अपने आप सुखी होना भी नहीं चाहते।

बोधिचित्त समुत्पाद्य सर्वसत्त्वसुखेच्छया।
स्वय लब्धसुखेष्वद्य कस्मात् सत्त्वेषु कुप्यसि ॥८०॥

सब प्राणियों के सुख की चाह से बोधिचित्त उत्पन्न कर, आज स्वय सुखी हुए प्राणियो पर क्यों कुपित होते हो ?

त्रैलोक्यपूज्य बुद्धत्व सत्त्वाना किल वाञ्छसि।
सत्कारमित्वर दृष्ट्वा तेषा किं परिदह्यसे ॥८१॥

प्राणियो के लिए त्रैलोक्यपूज्य बुद्धता की कामना करते हो, पर उनके नश्वर सत्कार को देख क्यो जलते हो ?

पुष्णाति यस्त्वया पोष्य तुभ्यमेव ददाति स।
कुटुम्बजीविन लब्ध्वा न हृष्यसि प्रकुप्यसि ॥८२॥

तुम्हें जिसे पोसना है, उसे जो पोस रहा हो, वह वस्तुत तुम्हें दे रहा है। (ऐसा) कुटुम्ब-पोषक पाकर, प्रसन्न न हो नाराज हो रहे हो!

स किं नेच्छति सत्त्वानां यस्तेषां बोधिमिच्छति।
बोधिचित्त कुतस्तस्य योऽन्यसपदि कुप्यति ॥८३॥

जो बोधि चाहता है, वह प्राणियो का क्या नहीं चाहता ? जिसे दूसरे की सपत्ति पर कोप है, उसे बोधिचित्त कहां ?

यदि तेन न तल्लब्ध स्थित दानपतेर्गृहे।
सर्वथापि न तत्तेऽस्ति दत्तादत्तेन तेन किं ॥८४॥

यदि उसे उस (धन) का लाभ न हुआ तो वह दानपति के घर रह जाएगा। सर्वथा वह तेरा नहीं है। (फिर) उसके दान या अदान में तेरा क्या ?

किं वारयतु पुण्यानि प्रसन्नान् स्वगुणानथ।
लभमानो न गृह्णातु वद केन न कुप्यसि ॥८५॥

(लाभी) क्या पुण्यों का वारण करे या अपने निर्मल गुणों का निवारण करे या जो लाभ हो रहा हो उसे न ग्रहण करे? बोल ! क्या करने से क्रोध न करेगा?

न केवलं त्वमात्मानं कृतपापं न शोचसि।
कृतपुण्यैः सह स्पर्धामपरैः कर्तुमिच्छसि ॥८६॥

तू केवल अपने पापी-घट के लिए शोक तो करता नहीं प्रत्युत दूसरे पुण्यात्माओं के साथ स्पर्धा करना चाहता है।

जातं चेदप्रियं शत्रोस्त्वत्तुष्ट्या किं पुनर्भवेत्।
त्वदाशंसनमात्रेण न चाहेतुर्भविष्यति ॥८७॥

यदि शत्रु का अनिष्ट हुआ तो तेरी तुष्टि-निमित्त क्या हुआ? तू चाहे भर (और) अकारण (हो जाए, यह) होगा नहीं।

अथ त्वदिच्छया सिद्धं तद्दुःखे किं सुखं तव।
अथाप्यर्थो भवेदेवमनर्थः कोऽन्वतः परः ॥८८॥

और यदि तेरी इच्छा से (शत्रु का अनिष्ट) हो गया तो उसके दुःख से तुझे क्या सुख हुआ? यदि तेरा मनोरथ यों (इतने भर से) था (तो अनर्थ ही हुआ क्योंकि) इससे बड़ा अनर्थ और होगा भी क्या?

एतद्धि बडिशं घोरं क्लेशबाडिशकार्पितं।
यतो नरकपालास्त्वां क्रीत्वा पक्ष्यन्ति कुम्भिषु ॥८९॥

यह भयंकर कटिया (fish-hook) क्लेश-मछुए की लगाई हुई है, जिससे खरीद कर नरकपाल तुझे कुंभी-नरकों में पकाएंगे।

स्तुतिर्यशोऽथ सत्कारो न पुण्याय न चायुषे।
न बलार्थं न चारोग्ये न च कायसुखाय ते ॥९०॥

स्तुति, यश और सत्कार न पुण्य के लिए है, न आयु के लिए हैं, न बल के लिए हैं, न आरोग्य के लिए हैं और न मेरे शरीर-सुख के लिए हैं।

एतावांश्च भवेत्स्वार्थो धीमतः स्वार्थवेदिनः।
मद्यद्यूतादि सेव्यं स्यान्मानसं सुखमिच्छता ॥९१॥

बुद्धिमान्, स्वार्थ के समझने वाले का (अधिक से अधिक) इतना ही स्वार्थ हो सकता है। (इससे अधिक अज्ञजनोचित) मानसिक सुखाभिलाषी को तो मद्य-द्यूत आदि का भी सेवन करना होगा।

यशोऽर्थं हारयन्त्यर्थमात्मानं मारयन्त्यपि।
किमक्षराणि भक्ष्याणि मृते कस्य तु तत्सुखं ॥९२॥

यश के लिए (लोग) धन लुटाते हैं और प्राणत्याग भी करते है। (स्तुतिके) अक्षरो को क्या खाया जाएगा? मर जाने पर वह सुख किसे ?

यथा पांशुगृहे भिन्ने रोदित्यार्तरवं शिशु.।
तथा स्तुतियशोहानौ स्वचित्तं प्रतिभाति मे ॥९३॥

मिट्टी का घरौंदा टूटने से जैसे बच्चा फूट-फूट कर रोता है, स्तुति और यश की हानि से मुझे मेरा चित्त भी वैसा ही लगता है।

शब्दस्तावदचित्तत्वात् स मा स्तौतीत्यसंभव ।
पर· किल मयि प्रीत इत्येतत् प्रीतिकारण ॥९४॥

शब्द अचेतन है। उससे मेरी स्तुति हो नहीं सकती। किसी दूसरे (=चेतन) का मुझ से अवश्य प्रेम है। बस यही प्रीति (-वचनों) का मूल है।

अन्यत्र मयि वा प्रीत्या किं हि मे परकीयया।
तस्यैव तत्प्रीतिसुख भागो नाल्पोऽपि मे मत ॥९५॥

मुझ में या दूसरे में होने वाली पराई प्रीति से मेरा क्या ? उसी का ही वह प्रीति-सुख है। उसमें स्वल्प भी मेरा भाग नहीं।

तत्सुखेन सुखित्व चेत् सर्वत्रैव ममास्तु तत्।
कस्मादन्यप्रसादेन सुखितेषु न मे सुख ॥९६॥

यदि उस (पराये) के सुख से मुझे सुख होता है तो सर्वत्र वह (सुख) मेरा हो। फिर क्यों दूसरे की प्रसन्नता से सुखी लोगों में मुझे सुख नहीं मिलता ?

तस्मादहं स्तुतोऽस्मीति प्रीतिरात्मनि जायते।
तत्राप्येवमसबन्धात् केवल शिशुचेष्टित ॥९७॥

मेरी स्तुति की गयी है, इस बात से जो अपने को संतोष होता है उसका भी अपने से सबन्ध नहीं है, अतः वह कोरी बाल-कल्पना है।

स्तुत्यादयश्च मे क्षेम सवेगं नाशयन्त्यमी।
गुणवत्सु च मात्सर्यं सपत्कोप च कुर्वते ॥९८॥

स्तुति आदि मेरे कल्याण और सवेग का नाश करते है। गुणवानों में मत्सरता और पर-समृद्धि में द्वेष का कारण बनते है।

तस्मात्स्तुतिविघाताय मम ये प्रत्युपस्थिता ।
अपायपातरक्षार्थं प्रवृत्ता ननु ते मम ॥९९॥

इसलिए जो मेरी स्तुति का विघात करने में उद्यत है वे मानो मुझे नरकपात से बचाने में प्रवृत्त है।

मुक्त्यर्थिनश्चायुक्त मे लाभसत्कारबन्धन।
ये मोचयन्ति मां बन्धाद् द्वेषस्तेषु कथ मम ॥१००॥

मुझ मुमुक्षु के लिए लाभ-सत्कार का बन्धन ठी र नहीं। जो मुझे उस बन्धन से छुडाते हैं उनसे मेरा द्वेष कैसे?

दु ख प्रवेष्टुकामस्य ये कपाटत्वमागता ।
बुद्धाधिष्ठानत इव द्वेषस्तेषु कथ मम ॥१०१॥

दु ख (के द्वार में) प्रवेशाभिलाषी के लिए बुद्ध के वरदान से जो मानो कपाट बनकर आए हैं, उनसे मेरा द्वेष कैसे?

पुण्यविघ्न कृतोऽनेनेत्यत्र कोपो न युज्यते।
क्षान्त्या सम तपो नास्ति नन्वेतत्तदुपस्थित ॥१०२॥

इसने पुण्य में विघ्न डाला है—इस कारण से (भी) इस पर क्रोध करना ठीक नहीं, क्योंकि क्षमा के समान तप नहीं है और यही उसका अवसर है।

अथाहमात्मद्वेषेण न करोमि क्षमामिह।
मयैवात्र कृतो विघ्न पुण्यहेतावुपस्थिते ॥१०३॥

यदि मैं अपने दोष से क्षमा नहीं करता, तो पुण्य का हेतु उपस्थित होने पर, मैंने ही यहा विघ्न डाला है।

यो हि येन विना नास्ति यस्मिश्च सति विद्यते।
स एव कारण तस्य स कथ विघ्न उच्यते ॥१०४॥

जो जिसके बिना नहीं होता और जिसके होने से होता है, वह उसका कारण है, उसे विघ्न कैसे कहा जा सकता है?

न हि कालोपपन्नेन दानविघ्न कृतो ऽर्थिना।
न च प्रव्राजके प्राप्ते प्रव्रज्याविघ्न उच्यते ॥१०५॥

समय पर आया याचक दान में विघ्न नहीं डालता। प्रव्राजक का आ पहुचना प्रव्रज्या का विघ्न नहीं कहा जाता।

सुलभा याचका लोके दुर्लभास्त्वपकारिण ।
यतो मे ऽनपराधस्य न कश्चिदपराध्यति ॥१०६॥

ससार में याचक सुलभ है। अपकारी दुर्लभ है, क्योंकि मुझ निरपराध का कोई अपराध नहीं करता।

अश्रमोपार्जितस्तस्माद् गृहे निधिरिवोत्थित ।
बोधिचर्यासहायत्वात् स्पृहणीयो मया रिपु ॥१०७॥

इसलिए बिना-श्रम उपार्जित, घर में निधि के समान प्रादुर्भूत, बोधिचर्या में सहायक होने से मुझे शत्रु की स्पृहा करनी चाहिए।

मया चानेन चोपात्त तस्मादेतत्क्षमाफल।
एतस्मै प्रथम देयमेतत्पूर्वा क्षमा यत

इसलिए क्षमा का फल मेरा और इसका दोनों का कमाया हुआ है। क्योंकि क्षमा का यही पहला कारण है, अत इसे पहले (क्षमा का फल) देना चाहिए।

क्षमासिद्ध्याशयो नास्ति तेन पूज्यो न चेदरिः।
सिद्धिहेतुरचित्तो ऽपि सद्धर्म पूज्यते कथं ॥१०९॥

यदि इसके चित्त में क्षमासाधना नहीं है, इसलिए शत्रु की पूजा न करनी चाहिए, तो (बोलो!) सिद्धि के कारण भूत चित्त-हीन सद्धर्म की क्यों पूजा करते हो?

अपकाराशयो ऽस्येति शत्रुर्यदि न पूज्यते।
अन्यथा मे कथ क्षान्तिर्भिषजीव हितोद्यते ॥११०॥

इसके चित्त में अपकार है, यदि इस कारण शत्रु की पूजा न करूं, तो विना ऐसा किए मुझ में क्षमा कैसे हो सकती है? (कारण कि क्षमा द्वेषी के प्रति द्वेष न करने ही से होती है।) हित में उद्यत वैद्य के जैसे (व्यक्ति के प्रति द्वेष कहा जो क्षमा होगी)।

तद्दुष्टाशयमेवात प्रतीत्योत्पद्यते क्षमा।
स एवात. क्षमाहेतु पूज्य सद्धर्मवन्मया ॥१११॥

वह दुष्टाशय है, अतएव उसके प्रत्यय से क्षमा उत्पन्न होती है। इससे वही क्षमा का हेतु है। उसकी सद्धर्म की भाति मुझे पूजा करनी चाहिए।

सत्त्वक्षेत्रं जिनक्षेत्रमित्यतो मुनिनोदित।
एतानाराध्य बहव. सपत्पार यतो गता ॥११२॥

इसीलिए भगवान् ने कहा है—(चर्या के) क्षेत्र सत्त्व है, (चर्या के) क्षेत्र बुद्ध हैं। क्योंकि इनकी आराधना करके बहुत लोगों को सर्वोत्तम सपदा मिली।

सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धधर्मागमे समे।
जिनेषु गौरव यद्वन्न सत्त्वेष्विति क क्रम ॥११३॥

सत्त्वो तथा बुद्धों (की आराधना) से एक जैसे बुद्ध-गुणों की प्राप्ति होती है। फिर बुद्धो के प्रति जैसा गौरव वैसा सत्त्वो के प्रति नहीं, भला यह कौन-सी रीति है?

आशयस्य च माहात्म्य न स्वत किं तु कार्यत।
सम च तेन माहात्म्य सत्त्वाना तेन ते समा ॥११४॥

चित्त का माहात्म्य अपने आप नहीं किंतु कार्य से होता है। (जो गुण बुद्धोंकी आराधना से होते हैं, वे ही सत्त्वों की आराधना से) अत सत्त्व-महिमा (बुद्ध-महिमा के) समान है। फलत वे (बुद्ध और सत्त्व) समान हैं।

मैत्र्याशयश्च यत्पूज्य. सत्त्वमाहात्म्यमेव तत्।
बुद्धप्रसादाद्यत्पुण्य बुद्धमाहात्म्यमेव तत् ॥११५॥

(सत्त्वों के प्रति) मैत्री-चित्त (पुरुष) की जो पूजा होती है, वह सत्त्वों का ही माहात्म्य है। बुद्ध के प्रति श्रद्धा होने से जो पुण्य होता है, वह बुद्ध का ही माहात्म्य है।

बुद्धधर्मागमांशेन तस्मात्सत्त्वा जिनैः समाः ।
न तु बुद्धैः समाः केचिदनन्तांशैर्गुणार्णवैः ॥११६॥

इसलिए जहा तक बुद्ध-गुणो की प्राप्ति का सबन्ध है, सत्त्व बुद्ध जैसे है। पर (बुद्धो के वे ) गुणसमुद्र, जिनके एक अश का पार पाना कठिन है, (उनसे तुलना करने पर) कोई (सत्त्व) बुद्धो के समान नहीं।

गुणसारैकराशीना गुणोऽणुरपि चेत्क्वचित् ।
दृश्यते तस्य पूजार्थं त्रैलोक्यमपि न क्षमं ॥११७॥

गुणसर्वस्वता की अनन्य निधि (बुद्धों) के गुणो का अणु भी यदि कहीं दिखाई दे, तो उसकी पूजा के लिए त्रैलोक्य (का उपहार) भी पर्याप्त नहीं।

बुद्धधर्मोदयांशस्तु श्रेष्ठः सत्त्वेषु विद्यते ।
एतदंशानुरूप्येण बुद्धपूजा कृता भवेत् ॥११८॥

सत्त्वो में (बुद्ध का वह) श्रेष्ठ अश विद्यमान है, जिससे बुद्धगुणो का उदय होता है। इस अश के योग्य सत्त्वपूजा होनी चाहिए।

किं च निश्छद्मबन्धूनामप्रमेयोपकारिणा ।
सत्त्वाराधनमुत्सृज्य निष्कृतिः का परा भवेत् ॥११९॥

सत्त्वाराधन छोड, निश्छल बन्धु और अपरिमित उपकारी (बुद्ध और बोधिसत्त्वो) के प्रति किए अपराधो की मार्जना* और क्या होगी ?

भिन्दन्ति देहं प्रविशन्त्यवीचीं येषां कृते तत्र कृते कृतं स्यात् ।
महापकारिष्वपि तेन सर्वं कल्याणमेवाचरणीयमेव ॥१२०॥

जिनके लिए (बुद्ध और बोधि सत्त्व) शरीर काट (दे) डालते है, अवीची-नरक तक में (जिनके उद्धार के लिए) घुसते है, उनका हित करने में ही हित है । इसलिए इन महापकारियों के प्रति भी सब प्रकार के कल्याण का ही आचरण करना चाहिए।

स्वयं मम स्वामिन एव तावद्यदर्थमात्मन्यपि निर्व्यपेक्षा ।
अहं कथं स्वामिषु तेषु तेषु करोमि मानं न तु दासभावं ॥१२१॥

स्वयं मेरे प्रभु (तथागत) की ही जिनके लिए अपने शरीर तक की परवा नहीं है, उन स्वामियो (के लाडलो) के प्रति मै मान करता हू—दास-भाव नहीं करता, यह क्यों ?

येषां सुखे यान्ति मुदं मुनीन्द्रा येषां व्यथायां प्रविशन्ति मन्युं ।
तत्तोषणात्सर्वमुनीन्द्रतुष्टिस्तत्रापकारे ऽपकृतं मुनीनां ॥१२२॥

भगवान्† को जिनके सुख में सुख होता है, जिनकी पीडा में पीडा होती है, उनको

*निष्कृति=निष्क्रमण=अपराधमार्जना ।

†मुनीन्द्र और मुनि पद, जो मूल में बहुवचन में है, अनुवाद में एक वचन द्वारा अनूदित हुए हैं और एक ही शब्द 'भगवान्' द्वारा। वस्तुतः मुनि, मुनीन्द्र तथा भगवान् आदि तथागत के पर्याय हैं जिनमें भगवान् शब्द मुझे सर्वप्रिय है।

संतुष्ट करना ही भगवान् को संतुष्ट करना है तथा उनका अपकार करना ही भगवान् का अपकार है।

आदीप्तकायस्य यथा समन्तान् न सर्वकामैरपि सौमनस्य।
सत्त्वव्यथायामपि तद्वदेव न प्रीत्युपायोऽस्ति दयामयाना ॥१२३॥

चारों ओर से शरीर में आग लगने पर जैसे सब काम-भोगो से भी सुख नहीं होता वैसे प्राणियो को पीडा होने पर दयामय (बुद्धो) को किसी उपाय से भी सुख नहीं होता।

तस्मान्मया यज्जनदु खदेन दु ख कृत सर्वमहाकृपाणा।
तदद्य पाप प्रतिदेशयामि यत्खेदितास्तन्मुनय क्षमन्ता ॥१२४॥

इसलिए मैंने जो प्राणियों को दु ख दे उन महाकृपालुओं को दु खित किया है, उस पाप की आज देशना करता हू। हे मुनियो ! मैंने जो सताया है, उसके लिए क्षमा करो।

आराधनायाद्य तथागताना सर्वात्मना दास्यमुपैमि लोके।
कुर्वन्तु मे मूर्ध्नि पद जनौधा विघ्नन्तु वा तुष्यतु लोकनाथ ॥१२५॥

आज तथागतो की आराधना के लिए मै सर्वात्मभाव से लोक-सेवक हो रहा हू, लोग चाहे मेरा माथा कुचलें, चाहे मारें। लोकनाथ प्रसन्न हो।

आत्मीकृत सर्वमिद जगत्तै कृपात्मभिर्नैव हि सशयोऽस्ति।
दृश्यन्त एते ननु सत्त्वरूपास्त एव नाथा किमनादरोऽत्र ॥१२६॥

इसमें सदेह नहीं कि यह सब जगत् उन दयावन्तों का आत्मरूप है। प्राणियों के रूप में ये वही दिखाई पड़ रहे हैं, फिर इनके प्रति अनादर कैसा ?

तथागताराधनमेतदेव स्वार्थस्य संसाधनमेतदेव।
लोकस्य दुःखापहमेतदेव तस्मान्ममास्तु व्रतमेतदेव ॥१२७॥

यही तथागत की आराधना है, यही स्वार्थ की सम्यक् साधना है, यही लोक-दु.ख का हरना है, इसलिए यही मेरा व्रत हो।

यथैको राजपुरुष. प्रमथ्नाति महाजन।
विकर्तुं नैव शक्नोति दीर्घदर्शी महाजन ॥१२८॥

यस्मान्नैव स एकाकी तस्य राजवल वल ॥१२९ पूर्वार्ध ॥

जैसे अकेला राजपुरुष बहुनो की गत यना डालता है पर वे दूर की वात सोच विगडते तक नहीं, कारण कि वह सचमुच अकेला नहीं है, राजा का वल उसका वल है।

तथा न दुर्वल कचिदपराद्ध विमानयेत् ॥१२९ उत्तरार्ध ॥

यस्मान्नरकपालाश्च कृपावन्तश्च तद्बल।
तस्मादाराधयेत्सत्त्वान भृत्यश्चण्डनृप यथा ॥१३०॥

वैसे यदि कोई दुर्बल भी अपराध कर बैठे तो उसका अपमान न करना चाहिए क्योकि कृपावन्त (बुद्ध) और नरकपाल उसके बल है। अत: प्राणियो की आराधना उस प्रकार करनी चाहिए जिस प्रकार कि सेवक उग्र राजा की आराधना करता है।

कुपित: किं नृप: कुर्याद्येन स्यान्नरकव्यथा।
यत्सत्त्वदौर्मनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥१३१॥

क्रोधित होकर राजा क्या यह भी कर सकता है जिससे कि नारकी व्यथा भोगनी पड़े जो प्राणियो को दु:ख देने से भोगनी पड़ती है।

तुष्ट किं नृपतिर्दद्याद्यद्बुद्धत्वसमं भवेत्।
यत्सत्त्वसौमनस्येन कृतेन ह्यनुभूयते ॥१३२॥

संतुष्ट होकर राजा क्या दे सकता है, जिसकी तुलना बुद्धत्व के साथ हो, जो कि प्राणियो को सुख देने से मिलता है।

आस्तां भविष्यद्बुद्धत्वं सत्त्वाराधनसंभवं।
इहैव सौभाग्ययश:सौस्थित्यं किं न पश्यसि ॥१३३॥

भावी बुद्ध होने की बात छोडो। यहीं सत्त्वाराधन से होने वाले सौभाग्य, यश और सुखी जीवन को क्यो नहीं देखते।

प्रासादिकत्वमारोग्यं प्रामोद्यं चिरजीवितं।
चक्रवर्तिसुखं स्फीतं क्षमी प्राप्नोति संसरन् ॥१३४॥

संसार में आवागमन करते हुए क्षमाशील रूप, आरोग्य, आनन्द, दीर्घ आयु और चक्रवर्ती (नृप के समान) समृद्धि-सुख का भोग करता है।

## सप्तम परिच्छेद

# वीर्य-पारमिता

एवं क्षमो भजेद्वीर्यं वीर्ये बोधिर्यत स्थिता ।
न हि वीर्यं विना पुण्य यथा वायु विना गति ॥१॥

इस प्रकार क्षमाशील हो वीर्य का आचरण करना चाहिए क्योंकि बोधि वीर्य पर निर्भर है। वीर्य के विना पुण्य नहीं होता जैसे कि वायु के बिना गति नहीं होती ।

किं वीर्यं कुशलोत्साहस्तद्विपक्ष क उच्यते ।
आलस्यं कुत्सितासक्तिविषादात्मावमन्यना ॥२॥

वीर्य क्या है ? पुण्याचरण का उत्साह । उसका विरोधी किसे (किने) कहा जाता है ? आलस्य, कुविषयासक्ति, विषाद (=पस्त हिम्मती) और आत्मावज्ञा ।

अव्यापारसुखास्वादनिद्रापाश्रयतृष्णया ।
ससारदु खानुद्वेगादालस्यमुपजायते ॥३॥

सासारिक दु खों से अवैराग्य के कारण निठल्लेपन में मजा आता है और नींद में पडे रहने की चाह होती है, इसी से आलस्य होता है ।

क्लेशवागुरिकाघ्रात प्रविष्टो जन्मवागुरां ।
किमद्यापि न जानासि मृत्योर्वदनमागत ॥४॥

क्लेश-मछुओ के वश में जन्म-जाल में फंस कर (तू) मृत्यु के मुह में आ पहुचा है। क्या आज भी चेत नहीं ?

स्वयूथ्यान् मार्यमाणास्त्वं क्रमेणैव न पश्यसि ।
तथापि निद्रां यास्येव चंडालमहिषो यथा ॥५॥

तू अपने संगी-साथियो को मारा जाता नहीं देखता ! (देखता है) फिर भी कसाई के भैंसे की भांति ऊघ रहा है ।

यमेनोद्वीक्ष्यमाणस्य बद्धमार्गस्य सर्वत. ।
कथं ते रोचते भोक्तु कथं निद्रा कथ रति ॥६॥

यम सब ओर से राह बन्द कर तेरी निगरानी कर रहा है फिर भी तुझे खाना कैसे अच्छा लगता है, सोना कैसे अच्छा लगता है, मौज करना कैसे अच्छा लगता है ?

यावत्सभृतसभार मरणं शीघ्रमेष्यति ।
सत्यज्यापि तदालस्यमकाले किं करिष्यसि ॥७॥

सब सामग्री से सजकर जब मृत्यु झटपट आएगी तब असमय में आलस्य छोड़ कर भी क्या करेगा ?

इदं न प्राप्तमारब्धमिदमर्धकृतस्थितं ।
अकस्मान्मृत्युरायातो [हा हतो ऽस्मीति चिन्तयन् ॥८॥
शोकवेगसमुच्छूनसाश्रुरक्तेक्षणाननान् ।
बन्धून् निराशान् सपश्यन् यमदूतमुखानि च ॥९॥
स्वपापस्मृतिसतप्त शृण्वन् नादाश्च नारकान् ।
त्रासोच्चारविलिप्ताङ्गो विह्वल किं करिष्यसि ॥१०॥

यह नहीं मिला, इसका आरभ किया, यह अधूरा रह गया, अकस्मात् मृत्यु आ गई, हा ! मैं नष्ट होगया—यों सोचता हुआ, शोक-वेग से सूजी, आसूभरी, लाल-लाल आखो वाले निराश बन्धुओं और यमदूतों के मुह देखता हुआ, अपने पाप स्मरण कर सतप्त, नरक-वासियो का क्रदन सुन भय से जब तेरे अग मल-मूत्र में लत-पत हो जाएगे, तू विह्वल हो जाएगा, तब क्या करेगा ?

जीवमत्स्य* इवास्मीति युक्त भयमिहैव ते ।
किं पुन कृतपापस्य तीव्रान्नरकदु खत ॥११॥

मैं 'जीओल माछ'* हू। इसलिए यहा ही मुझे भय करना ठीक है। पाप कर नरक के तीव्र दु ख से (डरने की बात का) कहना क्या ?

स्पृष्ट उष्णोदकेनापि सुकुमार प्रतप्यसे।
कृत्वा च नारकं कर्म किमेव स्वस्थमास्यते ॥१२॥

हे सुकुमार! यहां गरम पानी छू जाने से तुझे जलन होती है। नारकी करनी कर फिर क्यो इस प्रकार स्वस्थ बैठा है ?

निरुद्यमफलाकांक्षिन् सुकुमार बहुव्यथ।
मृत्युग्रस्तो ऽमराकार हा दु खित विहन्यसे ॥१३॥

बिना उद्यम फलाभिलाषी, सुकुमार, बहुपीडित, दु खित, हाय! अपने को अमर समझता हुआ तू मृत्यु से ग्रसा गया नष्ट हो रहा है।

मानुष्यं नावमासाद्य तर दु खमहानदीं ।
मूढ कालो न निद्राया इय नौर्दुर्लभा पुन ॥१४॥

मनुष्य-जन्मरूपी नौका पाकर दु खरूपी महानदी तरना। मूढ ! निद्रा का समय नहीं है। यह नौका फिर दुर्लभ है।

---

* 'जीओल माछ' (जीवमत्स्य) बग देश में उन मछलियों को कहते हैं जो किसी नाद, कुड या पल्वल में जीती ही सुरक्षित रखी जाती हैं और धीरे-धीरे निकाल कर खाई जाती रहती हैं। प्रज्ञाकरमति ने इस प्रथा को 'प्राग्दिङ्निवासी' जनों की प्रथा कहा है। यहा मैंने 'जीवनमत्स्य' का 'जीओल माछ' शब्द से अनुवाद किया है जो कि बगदेश में व्यवहृत होता है।

मुक्त्वा धर्मरतिं श्रेष्ठामनन्तरतिसंतति ।
रतिरौद्धत्यहासादौ दुःखहेतौ कथं तव ॥१५॥

श्रेष्ठ धर्मरति जो अनन्त रति की धारा है, छोड़, दुःख-मूल उछल-कूद और हा-हा, ही-ही में तेरी रति कैसे ?

अविषादबलव्यूहतात्पर्यात्मविधेयता ।
परात्मसमता चैव परात्मपरिवर्तन ॥१६॥

अविषाद, बलव्यूह, तात्पर्य, आत्मविधेयता, परात्मसमता और परात्मपरिवर्त्तन (से वीर्य-वृद्धि होती है) ।

नैवावसाद· कर्तव्य. कुतो मे बोधिरित्यत ।
यस्मात्तथागत सत्य सत्यवादीदमुक्तवान् ॥१७॥

तेऽप्यासन् दशमशका मक्षिका कृमयस्तथा ।
यैरुत्साहवशात्प्राप्ता दुरापा बोधिरुत्तमा ॥१८॥

किमुताह नरो जात्या शक्तो ज्ञातु हिताहित ।
सर्वज्ञनीत्यनुत्सर्गाद्बोधिं किं नाप्नुयामह ॥१९॥

मुझे बोधि कैसे मिलेगी (यदि मैं विषाद करूगा)—यह सोच विषाद न करना चाहिए। क्योकि सत्यवादी तथागत ने सच कहा है कि जिन्होंने वीर्याचरणवश बोधि-प्राप्ति की है वे भी (अपने अतीत जन्मो में) डास, मच्छर, मक्खी और कीडे रह चुके हैं। फिर मैं तो जन्म से मनुष्य हू, हित और अहित जानने में समर्थ हू। सर्वज्ञ की नीति का अपरित्याग करने मे क्यो बोधि-लाभ न करूगा।

अथापि हस्तपादादि दातव्यमिति मे भय ।
गुरुलाघवमूढत्व तन्मे स्यादविचारत ॥२०॥

यदि मुझे भय होता हो कि (बोधि के निमित्त) हाथ-पैर आदि देने पड़ेंगे, तो वह अविवेक के कारण मेरा गौरवलाघव (=ऊच-नीच) न समझने की मूढता है।

छेत्तव्यश्चापि भेत्तव्यो दाह्य. पाट्योऽप्यनेकश ।
कल्पकोटीरसख्येया न च बोधिर्भविष्यति ॥२१॥

(ससार-कारागार में) अनेक बार असख्य कल्पकोटियो तक (मैं) छेदा जाऊगा, भेदा जाऊगा, जलाया जाऊगा और काटा जाऊगा, पर बोधि-लाभ न होगा।

इद तु मे परिमित दुःखं सबोधिसाधन ।
नष्टशल्यव्यथापोहे तदुत्पाटनदुःखवत् ॥२२॥

यह मेरा बोधि-साधना का दुःख, (अग के भीतर) टूटे हुए काटे की पीड़ा को दूर करने के लिए, उस (कांटे) के निकालने के दुःख के समान परिमित है।

सर्वेऽपि वैद्याः कुर्वन्ति क्रियादुःखैररोगतां ।
तस्माद् बहूनि दुःखानि हन्तुं सोढव्यमल्पकं ॥२३॥

सभी वैद्य जिन क्रियाओ से नीरोग करते हैं, उनमें दु ख होता है। इसलिए बहुत दु ख दूर करने के लिए थोडा दु:ख सहना ही होगा।

क्रियामिमामप्युचितां वरवैद्यो न दत्तवान् ।
मधुरेणोपचारेण चिकित्सति महातुरान् ।।२४।।

श्रेष्ठ वैद्य यह आवश्यक क्रिया नहीं (करने) देता। (वह) मधुर उपचार से चिकित्सा करता है।

अदौ शाकादिदानेऽपि नियोजयति नायक ।
तत् करोति क्रमात् पश्चाद् यत् स्वमासान्यपि त्यजेत् ।।२५।।

आदि में बुद्ध शाक आदि का दान करने में लगाते हैं। फिर धीरे-धीरे ऐसा करते हैं कि (आदमी) अपना मांस तक दे सकता है।

यदा शाकेष्विव प्रज्ञा स्वमासेऽप्युप जायते ।
मांसास्थि त्यजतस्तस्य तदा किं नाम दुष्कर ।।२६।।

जब अपने मास में भी शाक बुद्धि हो जाती है, तब मास-हड्डी का त्याग करना क्या दुष्कर ?

न दु खी त्यक्तपापत्वात् पाडितत्वान्न दुर्मना ।
मिथ्याकल्पनया चित्ते पापत् काये यतो व्यथा ।।२७।।

निष्पाप होने के कारण (शरीर से) दु खी नहीं होता और पडित होने के कारण मन से दु खी नहीं होता, क्योकि शरीर में पाप से और मन में मिथ्या कल्पना से पीडा होती है।

पुण्येन काय सुखित पाण्डित्येन मन सुखि ।
तिष्ठन् परार्थं ससारे कृपालु केन खिद्यते ।।२८।।

पुण्य से शरीर सुखी रहता है, पांडित्य से मन सुखी रहता है। परोपकार के लिए ससार में रहते हुए कृपालु को किससे खेद हो सकता है।

क्षपयन् पूर्वपापानि प्रतीच्छन् पुण्यसागरान् ।
बोधिचित्तबलादेव श्रावकेभ्योऽपि शीघ्रग ।।२९।।

अतीत के पापो को क्षीण करता हुआ, पुण्य-समुद्रो का सग्रह करता हुआ (बोधिसत्त्व) बोधिचित्त के बल से ही श्रावको (=हीनयानियों) की अपेक्षा भी शीघ्र (मुक्त हो) जाता है।

एव सुखात् सुख गच्छन् को विषीदेत् सचनन ।
बोधिचित्तरथ प्राप्य सर्वखेदश्रमावह ।।३०।।

इस प्रकार सब खेद और थकावट के दूर करने वाले बोधिचित्तरूपी रथ को पाकर, सुख के बाद सुख पाता हुआ कौन सचेतन विषाद करेगा ?

छन्द-स्थान-रति-मुक्तिवलं सत्त्वार्थसिद्धये ।
छन्द दु खभयात् कुर्यादनुशसाश्च भावयन् ।।३१।।

सर्वप्राणि-हित के निमित्त (चतुरगिणी) सेना (चाहिए। जिसके चार अग ये हैं–) छन्द=पुण्याभिलाष, स्थाम=अविचलितभाव, रति=मत्कर्मपरायणता और मुक्ति= विलव (Postponement)। दु ख के भय से पुण्यमाहात्म्य की भावना करते हुए छन्द करना चाहिए ।

एवं विपक्षमुन्मूल्य यतेतोत्साहवृद्धये ।
छन्दमानरतित्यागतात्पर्यवशितावले ।।३२।।

इस प्रकार विपक्ष अर्थात आलस्य आदि का नाश कर उत्साह की वृद्धि करनी चाहिए (जिसके साधन ये हैं–) छन्द-बल (=शक्ति), मान-बल, रति-बल, त्याग-बल, तात्पर्य (=तत्परता)- बल और वशिता (=आत्मविधेयता)–बल ।

[इस कारिका में उक्त विषयों का अगली कारिकाओ में प्रतिपादन है–छन्द ३३–४६ पूर्वार्ध; मान=स्थाम=अविचलितभाव=दृढ़चित्तता ४६ उत्तरार्ध –६१; रति ६२–६५, त्याग=मुक्ति=विलव=Pɩstponement ६६;तात्पर्य=तत्परता ६७–७३; वशिता=आत्मविधेयता ७४–७५ । ]

अप्रमेया मया दोषा हन्तव्या. स्वपरात्मनो ।
एकैकस्यापि दोषस्य यत्र कल्पार्णवै.* क्षय. ।।३३।।

अपने-पराये अपरिमित दोषों का मुझे नाश करना है । और एक-एक दोष के नाश में अनन्त कल्प लगते हैं ।

तत्र दोषक्षयारम्भे लेशोऽपि मम नेक्ष्यते ।
अप्रमेयव्यथाभाज्ये नोर स्फुटति मे कथ ।।३४।।

उन दोषो के नाश करने में मेरा लेशमात्र भी उत्साह नहीं दीखता। अपार दु ख सहते मेरी छाती क्यो नहीं फटती ?

गुणा मयार्जनीयाश्च बहव. स्वपरात्मनो ।
तत्रैकैकगुणाभ्यासो भवेत्कल्पार्णवैर्न वा ।।३५।।

अपने-पराय के लिए मुझे अपार गुण उपार्जित करने है। और एक-एक गुण का अभ्यास अनन्त कल्पों में हो भी पाता है और नहीं भी।

गुणलेशेऽपि नाभ्यासो मम जात कदा चन ।
वृथा नीतं मया जन्म कथ चिल्लब्धमद्भुत ।।३६।।

गुण के लेश का भी मैने कभी अभ्यास नहीं किया। बडी कठिनाई से यह अद्भुत जन्म मिला और अकारथ गया ।

---

*अक्षरार्थ "समुद्रोपमकल्प" ।

न प्राप्तं भगवत्पूजामहोत्सवसुखं मया ।
न कृता शासने कारा दरिद्राशा न पूरिता ॥३७॥

न भगवान् की पूजा के महोत्सव का सुख मुझे मिला। न मैंने धर्म का सत्कार किया। न दरिद्रो का मनोरथ सफल किया।

भीतेभ्यो नाभयं दत्तमार्ता न सुखिनः कृता ।
दुःखाय केवलं मातुर्गतोऽस्मि गर्भशल्यता ॥३८॥

न भीतों को अभय दिया। न दुःखियो को सुखी किया । केवल मा को दुःख देने के लिए ही मैं गर्भरूपी काटा बना।

धर्मच्छन्दवियोगेन पौर्विकेण मयाधुना ।
विपत्तरीदृशी जाता को धर्मछन्दमुत्सृजेत ॥३९॥

पहले मुझे धर्म-छद न था, इसलिए आज यह विपत्ति ऊपर आ पड़ी। (अब फिर) कौन धर्म-छन्द छोडे ?

कुशलाना च सर्वेषां छन्दं मूलं मुनिर्जगौ ।
तस्यापि मूलं सततं विपाकफलभावना ॥४०॥

मुनि ने छन्द को सब पुण्यों का मूल कहा है। निरन्तर विपाकफल (=कर्मफल) की भावना को उस (छन्द) का भी मूल बताया है ।

दुःखानि दौर्मनस्यानि भयानि विविधानि च ।
अभिलाषविघाताश्च जायन्ते पापकारिणा ।४७॥

पापियों को (कायिक)–दुःख, मानसिक-दुःख, विविध भय और मनोरथ–विफलताएं होती हैं ।

मनोरथः शुभकृता यत्र यत्रैव गच्छति ।
तत्र तत्रैव तत्पुण्यैः फलार्घेणाभिपूज्यते ॥४२॥

जहा-जहा पुण्यवान् जाता है, उसका मनोरथ, उसके पुण्य के कारण, सफलता के अर्घ से पूजित होता हैं।

पापकारिसुखेच्छातु यत्र यत्रैव गच्छति ।
तत्र तत्रैव तत्पापैर्दुःखशस्त्रैर्विहन्यते ॥४३॥

जहां-जहां पापी जाता है, उसका सुख-मनोरथ, उसके पापों के कारण, दुःख-शस्त्रो से छिन्न-भिन्न हो जाता है।

विपुलसुगन्धिशीतलसरोरुहगर्भगता
मधुरजिनस्वराशनकृतोपचितद्युतयः ।
मुनिकरबोधिताम्बुजविनिर्गतसद्वपुषः
सुगतसुता भवन्ति सुगतस्य पुरः कुशलैः ॥४४॥

पुण्यों से (जीव) अत्यंत सुगंधित कमलों के गर्भ में पहुंचते हैं, वहा मीठे बुद्ध-

वचनों के आहार से उनके (शरीर की) द्युति बढ़ती है, बुद्ध-किरणों से जब घ कमल खिलते हैं तब वे अपने शोभायमान शरीर के साथ निकलते हैं, (इस प्रकार सुखावती में) भगवान् (अमिताभ) के सामने उनके पुत्र बन कर रहते हैं।

यमपुरुषापनीतसकलच्छवि*रार्तरवो
हुतवहतापविद्रुतकताम्रनिषिक्ततनु ।
ज्वलदसिशक्तिघातशतशातितमांसदल.
पतति सुतप्तलोहधरणीष्वशुभैर्बहु श ॥४५॥

बारंबार पापों के कारण यमदूत (जीव की) खाल* खींचते हैं, वह दु ख से चिल्लाता है, (फिर वे) उसके शरीर को आग में पिघले तांबे से नहलाते हैं, तपाई हुई बरछियों और तलवारो के शत-शत प्रहारों से उसका मांस टूक-टूक करते हैं, (ऐसी दशा में वह) अत्यन्त तपी धरती पर गिरता है।

तस्मात् कार्य शुभच्छंदो भावयित्वैवमादरात् ॥४६ पूर्वार्द्ध ॥

अत. आदर के साथ इस प्रकार भावना करके पुण्य-छन्द करना उचित है।

वज्रध्वजस्य विधिना मान त्वारभ्य भावयेत् ॥४६ उत्तरार्ध॥

वज्रध्वज-सूत्र में कही विधि के अनुसार समारभ-पूर्वक मान की भावना करनी चाहिए।

पूर्वं निरूप्य सामग्रीमारभेन्नारभेत वा।
अनारम्भो वरं नाम न त्वारभ्य निवर्तन ॥४७॥

(कार्य का) आरभ करने या न करने में (साधन-) सामग्री का विचार पहले करना चाहिए**। आरभ न करना अच्छा है, पर आरभ करके छोडना नहीं।

जन्मान्तरेऽपि सोऽभ्यास पापाद् दु खं च वर्धते।
अन्यच्च कार्यकालं च हीनं तच्च न साधितं ॥४८॥

(१) दूसरे जन्म तक वही (प्रतिज्ञा-भग का) अभ्यास बना रहता है और (२) (इस) पाप से दु ख बढता है। (३) वह (आरब्ध कार्य) तो पूरा नहीं होता, (४) उतना समय भी जाता है तथा (५) कोई और काम भी नहीं होता। (इस प्रकार आरभ करके छोड़ने में पांच दोष होते हैं)।

त्रिषु मानो विधातव्य. कर्मोपक्लेशशक्तिषु।
मयैवैकेन कर्तव्यमित्येषा कर्ममानिता ॥४९॥

कर्म, उपक्लेश (=रागादि दोष) और शक्ति इन तीन विषयो में मान करना चाहिए। अकेले मुझे ही करना है—इसे कर्ममान कहते हैं।

---

*छवि=खाल; शोभा। यहा प्रथम अर्थ प्रसगोचित है यद्यपि दूसरा अर्थ भी किया जा सकता है।

**अक्षरार्थ—पहले सामग्री का विचार कर आरंभ करना चाहिए या न करना चाहिए।

क्लेशस्वतन्त्रो† लोकोऽयं न क्षमः स्वार्थसाधने ।
तस्मान्मयैषां कर्तव्यं नाशक्तोऽहं यथा जन ॥५०॥

लोग क्लेश के वश में है, अपना स्वार्थ नहीं साध पाते। इसलिए मुझे इनका (मनोरथ सफल) करना है। इन लोगों जैसा मैं असमर्थ नहीं।

नीचं कर्म*करोत्यन्य. कथ मय्यपि तिष्ठति ।
मानाच्चेन्न करोम्येतन्मानो नश्यतु मे वर ॥५१॥

मेरे होते हुए भी दूसरा पसीना बहाता है*। यदि मानवश मैं यह नहीं करता तो मेरे मान का नष्ट हो जाना अच्छा है।

मृत डुण्डुभमासाद्य काकोऽपि गरुडायते ।
आपदाबाधतेऽल्पापि मनो मे यदि दुर्बल ॥५२॥

पनिहा सांप पाकर कौआ भी गरुड बन जाता है। अपना मन कच्चा होने पर छोटी-मोटी आपत्ति भी आ दबोचती है।

विषादकृतनिश्चेष्ट आपद सुकरा ननु ।
व्युत्थितश्चेष्टमानस्तु महतामपि दुर्जय ॥५३॥

माथे पर हाथ रखकर बैठे निकम्मे पर सहज ही आपत्ति आती रहती है। हिम्मती और हाथ-पैर चलाने वाले को बडे-बडे नहीं जीत पाते।

तस्माद् दृढेन चित्तेन करोम्यापदमापद ।
त्रैलोक्यविजिगीषुत्व हास्यमापज्जितस्य मे ॥५४॥

इसलिए दृढ़ चित्त से (मैं) आपत्ति पर आपत्ति ढहाऊगा। आपत्ति से पराजित हो गया तो मेरी त्रैलोक्य-विजय की महत्त्वाकाक्षा का उपहास होगा।

मया हि सर्व जेतव्यमह जेयो न केन चित् ।
मयैष मानो वोढव्यो जिनसिंहसुतो ह्यह ॥५५॥

मुझे सब पर विजय पाना है। मुझे कोई नहीं जीत सकता। यह मान मुझे ही रखना है। मैं जिनसिंह का पुत्र हू।

ये सत्वा मानविजिता वराकास्ते न मानिन ।
मानी शत्रुवश नैति मानशत्रुवशाश्च ते ॥५६॥

जो प्राणी मान से पराजित हो जाते हैं, वे मानी नहीं, दीन हैं। मानी शत्रु के वश में नहीं जाता। वे मानरूपी शत्रु के वश में हैं।

---

†पाठान्तर—'क्लेश-अस्वतन्त्र' = क्लेशपराधीन । 'क्लेश-स्वतन्त्र' पाठ का अर्थ होगा क्लेश का जो स्व-आतमभाव उसके अधीन। दोनो पाठों का भावार्थ क्लेश-वश होना है।

*नीच कर्म से यह अभिप्राय यहा कडी मेहनत के काम से है जिसे 'पसीना बहाना' द्वारा प्रकट किया गया है।

मानेन* दुर्गति नीता मानुष्येऽपि हतोत्सवाः ।
परिपिण्डाशिनो दासा मूर्खा दुर्दर्शना कृशा ॥५७॥

सर्वत परिभूताश्च मानस्तब्धास्तपस्विन. ।
तेऽपि चेन्मानिना मध्ये दीनास्तु वद कीदशा ॥५८॥

मान* से (कितने ही) दुर्गति को प्राप्त हुए हैं । (कितने ही) मनुष्य जन्म म भी निरानन्द हैं। (कितने ही) दूसरों के टुकड़ों पर जीते है, दास बने है, विवेक खो बैठे है। (कितने ही) वीभत्स, कृश, सर्वत तिरस्कृत हैं। बेचारों में मान की अकड फिर भी है। उन्हें भी यदि मानियो में गिना जाए, तो बोलो कैसे लोग दीन है?

ते मानिनो विजयिनश्च त एव शूरा ये मानशत्रुविजयाय वहन्ति मान।
ये तं स्फुरन्तमपि मानरिपुं निहत्य काम जने जयफल प्रतिपादयन्ति ॥५९॥

जिनमें मान-शत्रु के विजय के लिए मान है, जो उस मान-शत्रु को मार कर, उस विजय का इष्ट फल जगत् को चखाते हैं, वे मानी है, विजयी हैं और वे ही शूर हैं।

सक्लेशपक्षमध्यस्थो भवेद् दृप्त. सहस्रश ।
दुर्योधन· क्लेशगणै सिंहो मृगगणैरिव ॥६०॥

क्लेशों के बीच पड सहस्रगुना दृप्त होना चाहिए । मृग-समूहो से सिंह की भाति क्लेश-समूहों से पराजित न होना चाहिए।

महत्स्वपि हि कृच्छ्रेषु न रस चक्षुरीक्षते ।
एव कृच्छ्रमपि प्राप्य न क्लेशवशगो भवेत् ॥६१॥

वडी से वडी विपत्ति में आख रस ग्रहण नहीं करती। इसी प्रकार विपत्ति में पड़कर भी क्लेश-वशीभूत न होना चाहिए।

यदेवापद्यते कर्म तत्कर्मव्यसनी भवेत्।
तत्कर्मशौण्डो ऽतृप्तात्मा क्रीडाफलसुखेप्सुवत् ॥६२॥

जो काम आ पड़े उस काम में (द्यूत) क्रीडा से मिलने वाले सुख के लम्पट (जुआरी) की भाति तल्लीन होना चाहिए, उसी काम में रमना चाहिए, उससे ऊबना न चाहिए।

सुखार्थं क्रियते कर्म तथापि स्यान्न वा सुखं।
कर्मैव तु सुख यस्य निष्कर्मा स सुखी कथं ॥६३॥

सुख हो या न हो, कर्म सुख के लिए हो किया जाता है। कर्म ही जिसके लिए सुख है, वह अकर्मण्य रह कर कैसे सुखी रह सकता है?

कामैर्न तृप्ति ससारे क्षुरधारामधूपमैः।
पुण्यामृतै कथं तृप्तिर्विपाकमधुरै शिवै ॥६४॥

ससार में कामो (के भोग) से तृप्ति नहीं होती यद्यपि वे छूरे की धार में लगे

*ऊच-नीच का भाव ।

मधु के समान हैं (कि जो चाटे उसी की जीभ कटे) फिर भला परिणाम में मधुर, मगलमय, पुण्य के अमृत से तृप्ति हो तो कैसे ?

तस्मात्कर्मावासनोऽपि निमज्जेत्तत्र कर्मणि ।।
यथा मध्याह्नसतप्त आदौ प्राप्तसरा. करी ।६५।।

कर्म के समाप्त होने पर उस कर्म (के आनद) में डूबे रहना चाहिए। जैसे दोपहर का तपा हाथी (जिस) तालाव को पाकर पहल-पहल डुबकी लगाता है (बाद में भी उसी के आनद में डूबा रहता है)।

बलनाशानुबन्धे तु पुन कर्तु परित्यजेत् ।
सुसमाप्तं तु तन्मुञ्चेदुत्तरोत्तरतृष्णया ।।६६।।

सामर्थ्य की कमी के कारण (कुछ समय तक के लिए काम का छोडना आवश्यक हो तो) फिर करने के विचार से छोडे। उत्तरोत्तर (उस कार्य के प्रति) तृष्णा (रखने) के साथ, उसे अच्छी तरह पूर्ण करके ही छोडे।

क्लेशप्रहारन् सरक्षेत् क्लेशाश्च प्रहरेद् दृढ ।
खड्गयुद्धमिवापन्नः शिक्षितेनारिणा सह ।।६७।।

शिक्षित शत्रु से तलवार की लडाई लडने की तरह क्लेशों की चोटो (से अपने) को वचाना चाहिए और क्लेशों पर चोटें करनी चाहिए।

तत्र खड्ग यथा भ्रष्ट गृह्णीयात् सभयस्त्वर ।
स्मृतिखड्ग तथा भ्रष्ट गृह्णीयान्नरकान् स्मरन् ।।६८।।

उस (युद्ध) में जैसे गिरी तलवार भय से झटपट उठाई जाती है, वैसे ही नरकों का स्मरण करते हुए छूटी हुई स्मृति की तलवार उठानी चाहिए।

विष रुधिरमासाद्य प्रसर्पति यथा तनौ ।
तथैव च्छिद्रमासाद्य दोषश्चित्ते प्रसर्पति ।।६९।।

जैसे लोहू पाकर विष शरीर में फैल जाता है वैसे ही छिद्र (=स्मृति का अभाव) पाकर दोष चित्त में फैल जाता जाता है।

तैलपात्रधरो यद्वदसिहस्तैरधिष्ठित ।
स्खलिते मरणत्रासात् तत्पर स्यात् तथा व्रती ।।७०।।

तैल-पात्रधारी (व्यक्ति), तलवार खींचे हुए पुरुषो के बीच, (तैल) गिरने से मृत्यु होगी--इस भय से, जिस प्रकार तत्पर (=सावधान) रहता है, उसी प्रकार व्रती को तत्पर रहना चाहिए।

तस्मादुत्सगगे सर्पे यथोत्तिष्ठति सत्वर ।
निद्रालस्यागमे तद्वत्प्रतिकुर्वीत सत्वरं ।।७१।।

इसलिए जैसे गोद में सांप आ पडने पर (मनुष्य) झटपट उठ पडता है, वैसे नींद और आलस्य आने पर झटपट प्रतिकार ‹ › चाहिए।

एकैकस्मिश्छले सुष्ठु परितप्य विचिन्तयेत् ।
कथं करोमि येनेदं पुनर्मे न भवेदिति ॥७२॥

एक-एक भूल पर खूब पछताकर सोचे कि कैसे करूं जिसमें यह (भूल) फिर न हो।

संसर्गं कर्म वा प्राप्तमिच्छेद्देतेन हेतुना ।
कथं नामास्ववस्थासु स्मृत्याभ्यासो भवेदिति ॥७३॥

इन (दोषों की) अवस्थाओं में कैसे स्मृति निरंतर बनी रहे—इसके निमित्त या तो (सत्-) संग की या उचित (दंड-) कर्म की कामना करे।

लघुं कुर्यात्तथात्मानमप्रमादकथां स्मरन् ।
कर्मागमाद् यथा पूर्वं सज्जः सर्वत्र वर्तते ॥७४॥

अप्रमाद-कथा का स्मरण करते हुए अपने आपको इस प्रकार तैयार रखे, जिस प्रकार सर्वत्र कार्यारंभ से पूर्व (मनुष्य) तैयार रहता है।

यथैव तूलकं वायोर्गमनागमने वशं ।
तथोत्साहवशं यायाद् ऋद्धिश्चैवं समृध्यति ॥७५॥

जिस प्रकार रूई इधर-उधर डोलने में* वायु के वश होती है, उसी प्रकार उत्साह के वश में होना चाहिए। ऐसा होने से ऋद्धि-सिद्धि होती है।

---

*अक्षरार्थ—आने-जाने में।

अष्टम परिच्छेद

# ध्यान-पारमिता

वर्धयित्वैवमुत्साह समाधौ स्थापयेन्मन ।
विक्षिप्तचित्तस्तु नर क्लेशदंष्ट्रान्तरे स्थितः ॥१॥

इस प्रकार उत्साह बढाकर मन को समाधि में स्थापित करना चाहिए, क्योंकि विक्षिप्तचित्त मनुष्य की स्थिति क्लेश की दाढ़ो में होती है ।

कायचित्तविवेकेन विक्षेपस्य न सभव ।
तस्माल्लोक परित्यज्य वितर्कान् परिवर्जयेत् ॥२॥

कायविवेक और चित्तविवेक से विक्षेप नहीं होता। इसलिए लोक (ससर्ग) का त्याग कर वितर्क–परित्याग करना चाहिए ।

स्नेहान्न त्यज्यते लोको लाभादिषु च तृष्णया ।
तस्मादेतत्परित्यागे विद्वानेव विभावयेत् ॥३॥

स्नेह और लाभ आदि की तृष्णा के कारण लोक (ससर्ग) का परित्याग नहीं हो पाता। इसलिए इनका परित्याग करने के लिए विद्वान् को यो भावना करनी चाहिए —

शमयेन विपश्यनासुयुक्त कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य ।
शमथ प्रथम गवेषणीय स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥४॥

समाधि और प्रज्ञा से सयुक्त (पुरुष) क्लेशों का नाश करता है––ऐसा समझ पहले समाधि खोजनी चाहिए, और वह लोक-रति की अपेक्षा न रखने मे होनी है ।

कस्यानित्येष्वनित्यस्य स्नेहो भवितुमर्हति ।
येन जन्म सहस्राणि द्रष्टव्यो न पुन प्रिय ॥५

अनित्यों से किस अनित्य का स्नेह होना उचित है कि सहस्रो जन्मो में प्रिय के दर्शन तक नहीं हो पाते ।

अपश्यन्नरतिं याति समाधौ न च तिष्ठति ।
न च तृप्यति दृष्ट्वापि पूर्ववद् बाध्यते तृषा ॥६॥

बिना देखे मन नहीं लगता और समाधि में स्थिति नहीं रहती तथा देख कर भी तृप्ति नहीं होती––पहले जैसी ही अभिलाषा रहती है ।

न पश्यति यथाभूतं सवेगादवहीयते ।
दह्यते तेन शोकेन प्रियसगमकाक्षया ॥७॥

प्रिय के समागम की इच्छा से (मनुष्य) तत्त्व नहीं देखता, सवेग से हीन हो जाता है, उस (वियोग–) शोक से जलता रहता है ।

तच्चिन्तया मुधा याति ह्रस्वमायुर्मुहुर्मुहु ।
अशाश्वतेन मित्रेण धर्मो भ्रश्यति शाश्वत ॥८॥

उसकी चिन्ता में वारंबार आयु झट से क्षीण होती रहती है । अनित्य मित्र के कारण नित्य-धर्म को हानि होती है ।

वालै. सभागचरितो नियत याति दुर्गति ।
नेष्यते विसभागश्च किं प्राप्त वालसंगमात् ॥९॥

चरित्र में जो पृथग्जनों* के समान है, वह निश्चय ही दुर्गति को जाता है और जो समान नहीं उसे (पृथग्जन) चाहते नहीं । अतः पृथग्जनों से लाभ क्या ?

क्षणाद् भवन्ति सुहृदो भवन्ति रिपव क्षणात् ।
तोषस्थाने प्रकुप्यन्ति दुराराध्या पृथग्जना ॥१०॥

क्षण में मित्र हो जाते है, क्षण में शत्रु हो जाते है । जहां संतुष्ट होना चाहिए वहां कुपित होते हैं । पृथग्जनों को संतुष्ट करना कठिन है ।

हितमुक्ता प्रकुप्यन्ति वारयन्ति च मां हितात् ।
अथ न श्रूयते तेषा कुपिता यान्ति दुर्गतिं ॥११॥

हित को कहने से कोप करते हैं ? मुझे हित करने से रोकते हैं । यदि उनकी न सुनो तो कुपित होते हैं ( जिसके फलस्वरूप) दुर्गति को प्राप्त होते हैं ।

ईर्ष्योत्कृष्टात् समाद् द्वन्द्वो हीनान्मान. स्तुतेर्मद ।
अवर्णात्प्रतिघश्चेति कदा वालाद्धितं भवेत् १२॥

उत्कृष्ट से ईर्ष्या, समान से कलह, हीन से मान, स्तुति से अहंकार, निन्दा से द्वेष, (पृथग्जन को होता है) । पृथग्जन से हित होता ही कव है ?

आत्मोत्कर्षः परावर्ण ससाररतिमकथा ।
इत्याद्यवश्यमशुभ किं चिद् वालस्य वालत. ॥१३॥

आत्म-स्तुति, पर-निंदा, सासारिक रति-चर्चा--इसी प्रकार का कोई न कोई पाप पृथग्जन से पृथग्जन को होता है ।

एवं तस्यापि तत्सगात् तेनानर्थसमागम ।
एकाकी विहरिष्यामि सुखमक्लिष्टमानस ॥१४॥

ऐसा ही एक का दूसरे के साथ से होता है** । (यह पृथग्जन का साथ वस्तुत. ) अनर्थ का साथ है । इसलिए सुख से, क्लेश-रहित सबसे अकेले विहार करूंगा ।

वालाद्दूरं पलायेत प्राप्तमाराधयेत् प्रियै. ।
न सस्तवानुबन्धेन किन्तूदासीनसाधुवत् ॥१५॥

---

*पृथग्जन और वाल दोनों पर्याय हैं । कभी-कभी "वालपृथग्जन" इस समस्त पद का प्रयोग होता है । हिन्दी के 'बेसमझ' तथा अंग्रेज़ी के layman शब्द से इसके भाव को अंशतः प्रकट किया जा सकता है । **अक्षरार्थ—ऐसा उसका भी उसके साथ से होता है ।

पृथग्जन से दूर भागता रहे। आ पहुँचे तो संस्तव-अनुनय (flattering=भड़ैती) द्वारा नहीं, प्रत्युत् उदासीन सत जैसे (ढग से) प्रीति-व्यवहार करे।

धर्मार्थमात्रमादाय भृगवत् कुसुमान्मधु।
अपूर्व इव सर्वत्र विहरिष्याम्यसंस्तुत ॥१६॥

भौंरे की भाति फूल से मधु लेने के समान केवल धर्मप्रयोजनक अर्थ* लेकर सर्वत्र अपरिचित एव नवागन्तुक की भाति विहार करूँगा।

लाभी च सत्कृतश्चाहमिच्छन्ति बहवश्च मा।
इति मर्त्यस्य सप्राप्तान्मरणाज्जायते भय ॥१७॥

मैं लोभी हूँ, सत्कृत हूँ, मुझे बहुत लोग चाहते है—ऐसा सोचने वाले मनुष्य को मौत आने पर बड़ा डर लगता है।

यत्र यत्र रति याति मन सुखविमोहित।
तत्तत् सहस्रगुणित दुख भूत्वोपतिष्ठति ॥१८॥

सुख से मोहित मन को जिस-जिसमे रति होती है, वह-वह सहस्रगुणित दुख होकर उपस्थित होता है।

तस्मात्प्राज्ञो न तामिच्छेद् इच्छातो जायते भय।
स्वयमेव च यात्येतद् धैर्यं कृत्वा प्रतीक्षता ॥१९॥

इसलिए बुद्धिमान् को उस (रति) की इच्छा न करनी चाहिए। इच्छा से भय होता है। यह (भय) अपने आप (आता-) जाता है (यह सोचकर) धैर्य धरकर प्रतीक्षा करनी चाहिए।

बहवो लाभिनोऽभूवन् बहवश्च यशस्विन।
सहलाभयशोभिश्च न ज्ञाता क्व गता इति ॥२०॥

बहुत से लाभी हुए और बहुत से यशस्वी। लाभ और यश के साथ वे कहा गये, पता नहीं।

मामेवान्ये जुगुप्सन्ति किं प्रहृष्याम्यह स्तुत.।
मामेवान्ये प्रशसन्ति कि विषीदामि निन्दित ॥२१॥

स्तुति की जाने पर मैं क्यो प्रसन्न होता हूँ (जब कि) दूसरे मेरी ही निन्दा कर रहे है। निन्दा की जाने पर (मैं) क्यो विषाद करता हूँ (जब कि) दूसरे मेरी ही प्रशंसा कर रहे है।

नानाधिमुक्तिका सत्त्वा जिनैरपि न तोषिता.।
किं पुनर्मादृशैरज्ञैस्तस्मात् किं लोकचिन्तया ॥२२॥

प्राणी नाना-अधिमुक्तिक (विभिन्न श्रद्धा-विश्वास वाले) होते है। (सबको)

---

*केवल धर्मप्रयोजनक अर्थ (मूल-'धर्मार्थमात्र') का भाव है—जितने अर्थ अर्थात् भोजनाच्छादन से धर्माचरण हो सके बस उतना ही।

वुद्ध भी न प्रसन्न रख पाये फिर मेरे जैसे अज्ञानी क्या (प्रसन्न रख पायेंगे ?) दुनिया की चिन्ता से (लाभ) क्या ?

निन्दन्त्यलाभिन सत्त्वमवध्यायन्ति लाभिन ।
प्रकृत्या दु खसवासै· कय तैर्जायते रति ॥२३॥

(पृथग्जन) अलाभी प्रा णी की निन्दा करते हैं। लाभी के प्रति खीझते हैं। स्वभावतः उनकी सगति से दु ख होता है। उनसे (मन को) शाति हो तो कैसे ?

न वाल कस्य चिन्मित्रमिति चोक्त तथागतै ।
न स्वार्थेन बिना प्रीतिर्यस्माद् वालस्य जायते ॥२४॥

पृथग्जन किसी का मित्र नहीं होता—ऐसा तथागतो का कथन है। क्योंकि पृथग्जन का प्रेम बिना स्वार्थ के नहीं होता।

स्वार्थभावेन या प्रीतिरात्मार्थ प्रीतिरेव सा ।
द्रव्यनाशे यथोद्वेग सुखहानिकृतो हि स ॥२५॥

अपने स्वार्थ की भावना से जो प्रीति होती है, वह अपने ही लिए होती है। जैसे द्रव्यनाश से जो दु ख होता है, वह सुख की हानि करने के कारण होता है।

नावध्यायन्ति तरवो न चाराध्या प्रयत्नत ।
कदा तै· सुखसवासै सहवासो भवेन्मम ॥२६॥

वृक्ष खीझते नहीं। जतन से आ राधना नहीं करनी पड़ती। उनके सहवास से सुख होत है। मेरा कब उनके साथ सहवास होगा ?

शून्यदेवकुले स्थित्वा, वृक्षमूले गुहासु च ।
कदानपेक्षो यास्यामि पृष्ठतो ऽनवलोकयन् ॥२७॥

सूने देवालय में, वृक्षो के तले, गुहाओ में ठहर कर, पीछे न देखते हुए, कब इस दुनिया के झझट से दूर हो* विचरूगा ?

अममेषु प्रदेशेषु विस्तीर्णेषु स्वभावत ।
स्वच्छन्दचार्यनिलयो विहरिष्याम्यह कदा ॥२८॥

सहज ही फैले हुए प्रदेशो में, जिनमें मेरा कुछ नहीं है†, कब स्वच्छन्द विचरते हुए विहार करूँगा।

मृत्पात्रमात्रविभवश्चौरासंभोगचीवर ।
निर्भयो विहरिष्यामि कदा कायमगोपयन् ॥२९॥

केवल मिट्टी के पात्र की सपत्ति के साथ, चोरो के काम न आने वाला चीवर पहने, शरीर को विना लुकाये-छिपाये, निर्भय हो कब विहार करूँगा ?

कायभूमिं निजा गत्वा कंकालैरपरै सह ।
स्वकायं तुलयिष्यामि कदा शतनधर्मिण ॥३०॥

---

*यह अनपेक्ष शब्द का भाव है। †अमम शब्द का भाव।

शरीर की अपनी जगह् (श्मशान) जाकर दूसरे कंकालों के साथ सड़ने-गलने वाले अपने शरीर की कब तुलना करूंगा ।

अयमेव हि कायो मे एवं पूतिर्भविष्यति ।
शृगाला अपि यद्गन्धान्नोपसर्पेयुरन्तिकं ॥३१॥

यही मेरा शरीर इस प्रकार सड़-गल जायगा कि जिसकी गंध से शृगाल भी पास नहीं फटकेंगे ।

एकैकस्यापि कायस्य सहजा अस्थिखंडकाः ।
पृथक् पृथग् गमिष्यन्ति किमुतान्यः प्रियो जनः ॥३२॥

इस अखंड शरीर के साथ भी उत्पन्न अस्थि-खंड अलग-अलग हो जायेंगे । प्रियजनों (से अलगाव) की तो बात ही क्या ?

एक उत्पद्यते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि ।
नान्यस्य तद्व्यथाभागः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः ॥३३॥

अकेला ही प्राणी जनमता है और अकेला ही मरता है । दूसरा उसका दुःख नहीं बँटाता । (इसलिए पुण्य में) विघ्न डालने वाले प्रियों से क्या ?

अध्वानं प्रतिपन्नस्य यथावासपरिग्रहः ।
तथा भवाध्वगस्यापि जन्मावासपरिग्रहः ॥३४॥

राही जैसे (शाम को) बसेरा लेता है, वैसे ही भव के राही के लिए जन्म बसेरा लेना है ।

चतुर्भिः पुरुषैर्यावत् स न निर्धार्यते ततः ।
आशोच्यमानो लोकेन तावदेव वनं व्रजेत् ॥३५॥

लोग रो-पीट कर जब तक चार पुरुषों द्वारा उठा नहीं ले जाते तब तक वन की राह पकड़नी चाहिए ।

असंस्तवाविरोधाभ्यामेक एव शरीरकः ।
पूर्वमेव मृतो लोके म्रियमाणो न शोचति ॥३६॥

राग-द्वेष न होने से लोगों के लिए पहले से ही मृत शरीरधारी अकेला ही है, (उसे) मरते हुए सोच नहीं होता ।

न चान्तिकचराः केचिच्छोचन्तः कुर्वते व्यथां ।
बुद्धानुस्मृतिं चास्य विक्षिपन्ति न के चन ॥३७॥

(मरण-काल में) कोई आसपास रहते सोच करते हुए उसे व्यथा नहीं पहुँचाते । कोई उसकी बुद्ध आदि की अनुस्मृतियों में विक्षेप नहीं कर पाता ।

तस्मादेकाकिता रम्या निरायासा शिवोदया ।
सर्वविक्षेपशमनी सेवितव्या मया सदा ॥३८॥

इसलिए रमणीय, दुःखरहित, कल्याणजनक, सब विक्षेपों को शांत करने वाली एकाकिता का मुझे सर्वदा सेवन करना चाहिए ।

सर्वान्यचिन्तानिर्मुक्त स्वचित्तैकाग्रमानस. ।
समाधानाय चित्तस्य प्रयतिष्ये दमाय च ॥३९॥

दूसरी सब चिन्ताओ से मुक्त, अपने मन की एकाग्र भावना के साथ, चित्त को समाधि और दमन का यत्न करूगा ।

कामा ह्यनर्थजनका इह लोके परत्र च ।
इह बन्धवधच्छेदैर्नरकादौ परत्र च ॥४०॥

इहलोक और परलोक में काम द्वारा अनर्थ होता है । इहलोक, परलोक एवं नरकादि में वध, बधन और छेदन द्वारा (वह अनर्थ होता है) ।

यदर्थं दूतदूतीना कृताञ्जलिरनेकधा ।
न च पापमकीर्तिर्वा यदर्थं गणिता पुरा ॥४१॥

प्रक्षिप्तश्च भयेऽप्यात्मा द्रविणं च व्ययीकृत ।
यान्येव च परिष्वज्य बभूवोत्तमनिर्वृति ॥४२॥

तान्येवास्थीनि नान्यानि स्वाधीनान्यममानि च ।
प्रकामं संपरिष्वज्य किं न गच्छसि निर्वृतिं ॥४३॥

जिनके लिए अनेक बार दूत-दूतियो के हाथ जोडे, पहले जिनके लिए न पाप की परवा की, न बदनामी की; अपने आपको भय में डाला, पैसा भी लुटाया, तथा जिन्हें लिपटा लेने में उत्तम सुख मिला, वही ये हड्डिया, दूसरी नहीं, अपने वश में हैं, दूसरा कोई उन्हें अपनाने वाला नहीं है । इनसे मन-भर लिपट कर क्यो सुखी नहीं होते ?

उन्नाम्यमान यत्नाद् यन्नीयमानमधो ह्रिया ।
पुरा दृष्टमदृष्ट वा मुखं जालिकयावृत ॥४४॥

तन्मुखं त्वत्परिक्लेशमसहद्भिरिवाधुना ।
गृध्रैर्व्यक्तीकृत पश्य किमिदानीं पलायसे ॥४५॥

जतन से उठाने पर भी जो मुह लाज से नीचे झुक जाता था, घूंघट में छिपा रहता था । (इसलिए) पहले या तो दिखता था या अनदेखा रह जाता था । तेरी (इस) व्यथा को न सहते हुए गिद्धों ने उस मुह को आज उघाड दिया है । देख, अब क्यो भागता है ?

परचक्षुर्निपातेभ्योऽप्यासीद् यत्परिरक्षित ।
तदद्य भक्षित यावत् किमीर्ष्यालो न रक्षसि ॥४६॥

हे ईर्ष्यालु ! कहीं दूसरे की निगाह न पड जाये, (इसलिए) जिसकी रक्षा करता था; उसे आज गिद्ध तक खा रहे हैं, क्यो नहीं बचाता ?

मासोच्छ्रयमिम दृष्ट्वा गृध्रैरन्यैश्च भक्षित ।
आहार. पूज्यतेऽन्येषा स्रक्चन्दनविभूषणै. ॥४७॥

इसे मांस-पुंज समझ गिद्धो तथा दूसरे (जीवों) ने खा डाला । (तुझमे) दूसरो के भोजन की माला, चन्दन और आभूषणों मे पूजा की जाती रही ।

निश्चलादपि ते त्रासः कंकालादेवमीक्षितात् ।
वेतालेनेव केनापि चाल्यमानाद् भयं न किं ॥४८॥

इस प्रकार निश्चल दीखते कंकाल से तुझे डर है पर किसी बेताल से संचालित अर्थात् सजीव कंकाल से डर क्यों नहीं ?

एकस्मादशनादेषा लालामेध्यं च जायते ।
तत्रामेध्यमनिष्टं ते लालापानं कथं प्रियं ॥४९॥

एक ही भोजन से इन (प्राणियों) में लाला (=लार) और मल बनते हैं। उनमें मल तुझे नापसन्द है पर लाला-पान क्यों पसन्द ?

तूलगर्भैर्मृदुस्पर्शै रमन्ते नोपधानकैः ।
दुर्गन्धं न स्रवन्तीति कामिनोऽमेध्यमोहिताः ॥५०॥

मल से मोहित कामियों का तकियों से मन नहीं भरता जिनमें कि रूई भरी है, जो छूने में नरम हैं, जिनमें बदबू भी नहीं आती।

यत्र च्छन्नेऽप्ययं रागस्तदच्छन्नं किमप्रियं ।
न चेत् प्रयोजनं तेन कस्माच्छन्नं विमृद्यते ॥५१॥

जो (मलमूत्र) ढका है, उसमें यह प्रेम ! और जो ढका नहीं, उस पर प्रेम नहीं। यह क्यों ! यदि यह निष्प्रयोजन है तो ढके के प्रति किस (प्रयोजन) से रगड़ ?

यदि ते नाशुचौ रागः कस्मादालिंगसेऽपरं ।
मांसकर्दमसंलिप्तं स्नायुबद्धास्थिपञ्जरं ॥५२॥

यदि तेरा अशुचि से प्रेम नहीं तो दूसरे को क्यों गले लगाता है ? वह नसों से बंधा, मांस के कीचड़ से लीपा गया, हड्डियों का पिंजड़ा ही तो है।

स्वमेव बह्वमेध्यं ते तेनैव धृतिमाचर ।
अमेध्यभस्त्रामपरां गूथघस्मर विस्मर ॥५३॥

तेरे पास अपना ही मल बहुत है, उसी से संतोष कर ले। हे मलभक्षी ! मल की दूसरी धौंकनी को भूल जा।

मांसप्रियोऽहमस्येति द्रष्टुं स्प्रष्टुं च वाञ्छसि ।
अचेतनं स्वभावेन मांसं त्वं कथमिच्छसि ॥५४॥

"मुझे इसके मांस से प्रेम है" यह समझ यदि तेरी देखने और छूने की इच्छा है तो तू स्वभाव से अचेतन मांस को क्यों चाहता है ?

यदिच्छसि न तच्चित्तं द्रष्टुं स्प्रष्टुं च शक्यते ।
यच्च शक्यं न तद्वेत्ति किं तदालिंगसे मुधा ॥५५॥

जिसे चाहता है, उस चित्त को देखा-छुआ नहीं जा सकता। जिसे देखा-छुआ जा सकता है वह (=शरीर) जानता नहीं। तब क्यों बेकार आलिंगन करता है।

नामेध्यमयमन्यस्य कायं वेत्सीत्यनद्भुतं ।
स्वामेध्यमयमेव त्व त नावैषीति विस्मय ।।५६।।

"दूसरे का शरीर मलमय है"–यह तू नहीं जानता तो अचरज नहीं। तू स्वय मलमय है और उसे तू नहीं जानता, यही अचरज है।

विघनार्कांशुविकचं मुक्त्वा तरुणपंकजं ।
अमेध्यशौण्डचित्तस्य का रतिर्गूथपजरे ।।५७।।

मेघ से अनाच्छादित सूर्य की किरणों से खिले नवीन कमल को छोड़ मल के शौकीन चित्त का मलपजर में रमना क्या (उचित) है ?

मृदाद्यमेध्यलिप्तत्वाद् यदि न स्प्रष्टुमिच्छसि ।
यतस्तन्निर्गतं कायात् स्प्रष्टु कथमिच्छसि ।।५८।।

यदि (तू) मल से सनी मिट्टी आदि को नहीं छूना चाहता तो जिस शरीर से वह मल निकलता है, उसे क्यों छूना चाहता है ?

यदि ते नाशुचौ राग कस्मादालिंगसे परं ।
अमेध्यक्षेत्रसभूत तद् बीज तेन वर्धित ।।५९।।

यदि तेरा अशुचि से प्रेम नहीं तो क्यों दूसरे को गले लगाता है। वह अशुचि के क्षेत्र (=उदर) से उत्पन्न और उस (अशुचि) से वर्धित बीज ही तो है।

अमेध्यभवमल्पत्वान्न वांछस्यशुचि कृमिं ।
बह्वमेध्यमय कायममेध्यजमपीच्छसि ।।६०।।

मल से उत्पन्न अशुचि कीट को नहीं चाहता यद्यपि उसमें मल का लवलेश ही है पर मल से उत्पन्न शरीर ही को चाहता है जिसमें मल की बहुलता है।

न केवलममेध्यत्वमात्मीय न जुगुप्ससि ।
अमेध्यभाण्डानपरान् गूथघस्मर वाछसि ।।६१।।

हे मलभक्षी ! तुझे अपने मल से तो घृणा है ही नहीं, साथ में मल के भांडो को और चाहता है।

कर्पूरादिषु हृद्येषु शाल्यन्नव्यंजनेषु वा ।
मुखक्षिप्तविसृष्टेषु भूमिरप्यशुचिर्मता ।।६२।।

मनोरम कर्पूर आदि अथवा शालि, अन्न और व्यंजन मुह में डाल कर उगल देने से भूमि भी अपवित्र मानी जाती है।

यदि प्रत्यक्षमप्येतदमेध्य नाधिमुच्यसे ।
श्मशाने पतितान् घोरान् कायान् पश्यापरानपि ।।६३।।

यदि इस प्रत्यक्ष अशुचि पर विश्वास नहीं करता तो श्मशान में पड़े दूसरे घोर शरीरों को भी देख।

चर्मण्युत्पाटिते यस्माद् भयमुत्पद्यते महत् ।
कथ ज्ञात्वापि तत्रैव पुनरुत्पद्यते रति ॥६४॥

जिस (शरीर) से खाल उधेडने पर बडा डर लगता है, उसमें ही फिर जान-बूझ कर तेरा प्रेम कैसे ?

काये न्यस्तो ऽप्यय गन्धश्चन्दनादेव नान्यत ।
अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ॥६५॥

शरीर पर लगा यह गन्ध चन्दन का ही है, दूसरे का नहीं। गन्ध दूसरे का है, पर उससे प्रेम दूसरे पर। यह क्यो ?

यदि स्वभावदौर्गन्ध्याद् रागो नात्र शिव ननु ।
किमनर्थरुचिर्लोकस्त गन्धेनानुलिम्पति ॥६६॥

सहज दुर्गंधित इस (शरीर) से प्रेम न होता तो (प्राणियों) का कल्याण होता। पता नहीं अनर्थप्रिय लोग उस पर गध क्यो लगाते हैं ?

कायस्यात्र किमायात सुगन्धि यदि चन्दन ।
अन्यदीयेन गन्धेन कस्मादन्यत्र रज्यते ॥६७॥

यदि चन्दन सुगध वाला है तो इसमें शरीर का क्या ? गन्ध दूसरे का है और उससे प्रेम दूसरे पर। यह क्यों ?

यदि केशनखैर्दीर्घैर्दन्तै समलपाण्डुरै ।
मलपङ्कधरो नग्न काय प्रकृतिभीषण ॥६८॥

स किं सस्क्रियते यत्नादात्मघाताय शस्त्रवत् ।
आत्मव्यामोहनोद्युक्तैरुन्मत्तैराकुला मही ॥६९॥

बडे-बडे केश-नख, मैले-मैले पीले दातो से युक्त, मल की कीचड से लतपत शरीर स्वभाव से ही यदि भयकर है, तो यत्न से उसका सस्कार करना आत्मघात के लिए शस्त्र का सस्कार करना जैसा है। वह क्यो करते हो ? (हन्त !) अपने आप को मोहित करने में लगे पगलों से पृथिवी व्याप्त है।

कंकालान् कतिचिद् दृष्ट्वा श्मशाने किल ते घृणा ।
ग्रामश्मशाने रमसे चलत्कङ्कालसकुले ॥७०॥

श्मशान में थोडे से ककालो को देख तुझे घृणा होती है पर चलते-फिरते ककालों से पूर्ण ग्रामरूपी श्मशान में (तू) रमता है।

एव चामेध्यमप्येतद् विना मूल्य न लभ्यते ।
तदर्थमर्जनायासो नरकादिषु च व्यथा ॥७१॥

इस प्रकार का मैला (—प्रियतमा का शरीर) भी बिना मूल्य नही मिलता। उसके लिए धन कमाने का क्लेश और नरक आदि में पीडा होती है।

शिशोर्नार्जनसामर्थ्यं केनासौ यौवने सुखी ।
यात्यर्जनेन तारुण्यं वृद्धः कामैः करोति किं ॥७२॥

बच्चे में कमाने की शक्ति नहीं होती, वह यौवन में सुखी हो तो कैसे ? कमाने में यौवन चला जाता है । बूढ़े को काम पभोगों से लेना-देना क्या ?

केचिद्दिनान्तव्यापारं परिश्रान्ताः कुकामिनः ।
गृहमागत्य सायाह्ने शेरते स्म मृता इव ॥७३॥

कुत्सित कामना वाले कितने ही दिन भर काम कर थके हुए शाम को घर आकर मुर्दे के समान सोते हैं ।

दण्डयात्राभिरपरे प्रवासक्लेशदुःखिताः ।
वत्सरैरपि नेक्षन्ते पुत्रदारास्तदर्थिनः ॥७४॥

दूसरे युद्ध-यात्राओं में, प्रवास के क्लेश से दुःखित, चाहते हुए भी स्त्री-पुत्रों को बरसों तक नहीं देख पाते ।

यदर्थमिव विक्रीत आत्मा कामविमोहितैः ।
तन्न प्राप्तं मुधैवायुर्नीतं तु परकर्मणा ॥७५॥

काम से मोहित हो जिस (सुख) के लिए अपने आपको बेच सा डाला, वह न मिला । पर आयु दूसरे की चाकरी में गंवा दी ।

विक्रीतस्वात्मभावाना सदा प्रेषणकारिणा ।
प्रसूयन्ते स्त्रियोऽन्येषामटवीविटपादिषु ॥७६॥

जिन्होंने अपने आपको बेच दिया है तथा और लोग जिन्हें सदा आने-जाने का काम पड़ता है, उनकी स्त्रियां जंगल में वृक्ष आदि के तले प्रसव करती हैं ।

रणं जीवितसन्देहं विशन्ति किल जीवितुं ।
मानार्थं दासतां यान्ति मूढाः कामविडम्बिताः ॥७७॥

कामी से अभिभूत मूढ जन जीविका के लिए जान को जोखिम में डालने वाले युद्ध के भीतर जाते हैं, मान के लिए दास बनते हैं ।

छिद्यन्ते कामिनः केचिदन्ये शूलसमर्पिताः ।
दृश्यन्ते दह्यमानाश्च हन्यमानाश्च शक्तिभिः ॥७८॥

कितने ही कामी काट डाले जाते हैं, दूसरे शूली पर चढ़ा दिये जाते हैं, (कितने ही) जलाये जाते और बरछियों से मारे जाते दिखायी देते हैं ।

अर्जनरक्षणनाशविषादैरर्थमनर्थमनन्तमवेहि ।
व्यग्रतया धनसक्तमतीना नावसरो भवदुःखविमुक्तेः ॥७९॥

अर्थ को न अन्त होने वाला अनर्थ समझो । इसके अर्जन में दुःख है, रक्षण में दुःख है और नाश में दुःख है । धन में जिनका मन फंसा है, उन्हें बेचैनी बनी रहती है । भव-दुःख से छुटकारा पाने की उन्हें छुट्टी नहीं मिलती ।

एवमादीनवो भूयानल्पास्वादस्तु कामिनाम् ।
शकटं वहतो यद्वत्पशोर्घासलवग्रहः ॥८०॥

इस प्रकार कामियों को अनर्थ बहुत और सुख बहुत कम होता है। उनकी दशा उस पशु जैसी होती है जो गाडी खींचते-खींचते घास में मुह मार लेता है।

तस्यास्वादलवस्यार्थे यः पशोरप्यदुर्लभः ।
हता दैवहतेनेयं क्षणसंपत् सुदुर्लभा ॥८१॥

उस जरा से मजे के लिए, जो पशु के लिए भी दुर्लभ नहीं है, हतभागी (मनुष्य) अत्यन्त दुर्लभ क्षणसंपत्ति का नाश कर डालता है।

अवश्यं गन्तुरल्पस्य नरकादिप्रपातिनः ।
कायस्यार्थे कृतो योऽयं सर्वकालं परिश्रमः ॥८२॥

ततः कोटिशतेनापि श्रमभागेन बुद्धता ।
चर्यादुःखान्महद्दुःखं सा च बोधिर्न कामिनाम् ॥८३॥

नश्वर, निकृष्ट, नरकादि में पतनशील (इस भौतिक) शरीर के लिए जो यह सदा से परिश्रम किया है, उस श्रम के कोटिशत भाग से बुद्धत्व लाभ होता है, बोधिचर्या के दुःख से कामियो को अधिक दुःख सहना होता है, पर उन्हें बोधि नहीं मिलती।

न शस्त्रं न विषं नाग्निर्न प्रपातो न वैरिणः ।
कामानामुपमां यान्ति नरकादिव्यथास्मृतेः ॥८४॥

जब नरक-दुःखों का स्मरण होता है तब जान पडता है कि दुःख देने में कामों की बराबरी न कोई शस्त्र कर सकता है, न विष, न अग्नि, न प्रपात (=भृगुपतन) और न शत्रुगण।

एवमुद्विज्य कामेभ्यो विवेके जनयेद् रतिम् ।
कलहायासशून्यासु शांतासु वनभूमिषु ॥८५॥

इस प्रकार कामों से उद्विग्न होकर कलह और दुःख से रहित, शात वन-भूमियों पर विवेकारामता उत्पन्न करनी चाहिए।

धन्यैः शशांककरचन्दनशीतलेषु रम्येषु हर्म्यविपुलेषु शिलातलेषु ।
निःशब्दसौम्यवनमारुतवीज्यमानैश्चङ्क्रम्यते परहिताय विचिन्त्यते च ॥८६॥

चन्द्रकिरणों के चंदन से शीतल, महलो के समान विस्तीर्ण, रमणीय शिलातलों पर निःशब्द, सौम्य वन-पवन से वीजित धन्य लोग टहलते और परहित का चिंतन करते हैं।

विहृत्य यत्र क्वचिदिष्टकालं शून्यालये वृक्षतले गुहासु ।
परिग्रहारक्षणखेदमुक्तश्चरत्यपेक्षाविरतो यथेष्टम् ॥८७॥

अनासक्त (पुरुष) जहा कहीं शून्यागार, वृक्षतल अथवा गुहाओं में यथेष्ट समय तक विहार कर परिग्रह और आरक्षण के खेद से मुक्त हो यथाकाम विचरता है।

स्वच्छन्दचार्यनिलयः प्रतिबद्धो न कस्य चित् ।
यत् संतोषसुखं भुक्ते तदिन्द्रस्यापि दुर्लभं ॥८८॥

किसी के वन्धन में न फसा हुआ, स्वतन्त्र विचरने वाला, अनागारिक जिस संतोष-सुख का भोग करता है वह इन्द्र के लिए भी दुर्लभ है ।

एवमादिभिराकारैर्विवेकगुणभावनात् ।
उपशांतवितर्कः सन् बोधिचित्तं तु भावयेत् ॥८९॥

इस प्रकार की विधियों से विवेक-गुण की भावना द्वारा वितर्कों का शमन कर बोधि-चित्त की भावना करनी चाहिए ।

परात्मसमतामादौ भावयेदेवमादरात् ।
समदुःखसुखाः सर्वे पालनीया मयात्मवत् ॥९०॥

पहले आदर से परात्मसमता की यों भावना करनी चाहिए—जैसे मैं अपनी पालना करता हूँ वैसे ही मुझे सबकी पालना करनी चाहिए ( क्योंकि) जैसे दुःख ( अपने को बुरा) और सुख (अपने को अच्छा लगता) है वैसे ही सबको (दुःख बुरा और सुख अच्छा लगता) है ।

हस्तादिभेदेन बहुप्रकारः कायो यथैकः परिपालनीयः ।
तथा जगद्भिन्नमभिन्नदुःखसुखात्मकं सर्वमिदं तथैव ॥९१॥

शरीर को एक मान कर पाला जाता है यद्यपि उसमें हाथ आदि के अनेक भेद रहते हैं । उसी प्रकार इस सब जगत् का पालन करना है यद्यपि उसमें भेद अनेक है पर सुख-दुःख (में सुखी-दुःखी होने का उसका) स्वभाव एक है ।

यद्यप्यन्येषु देहेषु मद्दुःखं न प्रबाधते ।
तथापि तद्दुःखमेव ममात्मस्नेहदुःसहं ॥९२॥

यद्यपि दूसरो के शरीरो में मेरा दुःख पीडा नहीं पहुँचाता फिर भी वह मेरे लिए दुःख ही है क्योंकि मुझे अपने से स्नेह है जिससे वह सहा नहीं जाता ।

तथा यद्यप्यसंवेद्यमन्यद्दुःखं मयात्मना ।
तथापि तस्य तद्दुःखमात्मस्नेहेन दुःसहं ॥९३॥

वैसे ही यद्यपि दूसरे के दुःख का अनुभव मुझे अपने आप नहीं होता फिर भी उसके लिए वह दुःख (ही) है । क्योंकि अपने से स्नेह होने के कारण वह उससे सहा नहीं जाता ।

मयान्यद्दुःखं हन्तव्यं दुःखत्वादात्मदुःखवत् ।
अनुग्राह्या मयान्येऽपि सत्त्वत्वादात्मसत्त्ववत् ॥९४॥

जैसे मैं अपना दुःख दूर करता हूँ, वैसे ही मुझे दूसरों का दुःख दूर करना है; क्योंकि (दुःख तो) दुःख ही है । मुझे दूसरे जीवों पर अनुग्रह करना है, क्योंकि जैसा जीव मैं हूँ, वैसे ही वे भी हैं ।

यदा मम परेषां च तुल्यमेव सुखं प्रियं ।
तदात्मनः को विशेषो येनात्रैव सुखोद्यमः ॥९५॥

जब सुख जैसा अपने को प्रिय होता है, वैसा ही दूसरे को, तब अपनी विशेषता क्या ? जो उसी के लिए सुख का यत्न ?

यदा मम परेषा च भयं दु:ख च न प्रिय ।
तदात्मनः को विशेषो यत्त रक्षामि नेतर ॥९६॥

जब भय और दु ख जैसे मुझे प्रिय नहीं वैसे ही दूसरो को भी प्रिय नहीं, तब अपनी विशेषता क्या जो उसकी रक्षा करता हूँ, दूसरो की नहीं ?

तद्दु.खेन न मे बाधेत्यतो यदि न रक्ष्यते ।
नागामिकायदु.खान्मे बाधा तत्केन रक्ष्यते ॥९७॥

यदि पराए दु:ख से मुझे पीडा नहीं होती, इसलिए उसकी रक्षा नहीं की जाती, तो आगामी (=परलोक में) शरीर से मुझे पीडा नहीं होती फिर उसकी रक्षा क्यों ?

अहमेव तदापीति मिथ्येय परिकल्पना ।
अन्य एव मृतो यस्मादन्य एव प्रजायते ॥९८॥

तब (परलोक में) भी मै ही हूँगा (इसलिए रक्षा करता हूँ, यदि ऐसा कहो तो) यह कल्पना मिथ्या है, क्योकि और ही मरता है और और ही जन्म लेता है।

यदि यस्यैव यद् दु ख रक्ष्य तस्यैव तन्मत ।
पाददु ख न हस्तस्य कस्मात्तत्तेन रक्ष्यते ॥९९॥

"जिसका जो दु ख, वह उससे अपने को बचाए (दूसरे को उससे क्या ?)"—यदि ऐसा मानो तो हाथ को पैर का दु ख नहीं होता फिर क्यो उससे पैर की रक्षा करते हो ?

अयुक्तमपि चेदेतदहकारात् प्रवर्तते ।
यदयुक्त निवर्त्यं तत् स्वमन्यच्च यथाबल ॥१००॥

यदि अहकारवश यह (विचार) उत्पन्न होता है तो वह असगत है और जो असंगत है उसे यथाशक्ति दूर करना चाहिए, वह अपना हो तो और पराया हो तो।

सतान समुदायश्च पक्ति सेनादिवन्मृषा ।
यस्य दु ख स नास्त्यस्मात् कस्य तत्स्व भविष्यति ।१०१॥

सतान और समुदाय का (एकत्व) पंक्ति और सेना की भाति मिथ्या है। इसलिए जिसका (यह) दु ख है वह नहीं (हो) है फिर वह दु ख किसका अपना हो सकता है।

अस्वामिकानि दु.खानि सर्वाण्येवाविशेषत ।
दु.खत्वादेव वार्याणि नियमस्तत्र किंकृतः ॥१०२॥

साधारण रूप से सभी दुःखों का स्वामी कोई (आत्मा) नहीं है। उनमें (अपने-पराये होने का) नियम किसने किया ? "दु.ख दु:ख है"--बस इतने भर से उनका निवारण करना चाहिए।

दु.खं कस्मान्निवार्यं चेत् सर्वेषामविवादतः ।
वार्यं चेत् सर्वमप्येवं न चेदात्मनि सर्ववत्* ॥१०३॥

*भोटानुवाद में पाठ "सेम्‌स्‌-चन्‌ थ्‌सिम्‌"--सत्त्ववत् है। पाठान्तरमपि ।

दुःख क्यो दूर करना ? (क्यों दु:ख दूर करना चाहिए इसमें) सबका एक मत है। एव यदि दु ख दूर करना है तो सब (का दु ख) दूर करना होगा, नहीं तो सबकी भाति अपना (दुःख भी) दूर नहीं करना होगा।

कृपया बहु दु खं चेत् कस्मादुत्पाद्यते बलात् ।
जगद् दु.ख निरूप्येद कृपादु ख कथ बहु ॥१०४॥

कृपा से बहुत दु ख होता है, फिर बलात् उसे क्यों उत्पन्न किया जाये ? जगत् के इस दुःख को देख कर कृपा का दुःख बहुत कैसे ?

बहूनामेकदु खेन यदि दु खं विगच्छति।
उत्पाद्यमेव तद्दु ख सदयेन परात्मनो. ॥१०५॥

यदि एक के दु.ख (उठाने) से बहुतो का दु ख चला जाय तो अपने और परायेपर कृपा करके वह दु ख उठाना ही चाहिए।

अत. सुपुष्पचन्द्रेण जानतापि नृपापद ।
आत्मदु:ख न निहत बहूना दु खिनां व्ययात् ॥१०६॥

इसीलिए सुपुष्पचन्द्र ने राजदण्ड को जानते हुए भी बहुत से दु खियो का उद्धार करने के निमित्त अपने दु ख को दूर नहीं किया।

(पचिका में समाधिराज सूत्र में आई सुपुष्पचन्द्र कथा का सकेत किया गया है, जिसका सार यह है—शूरदत्त नामके एक राजा थे जिन्हें धर्म से बड़ी घृणा थी। उन्होंने अपने राज्य से धार्मिकों को निर्वासित कर दिया था। ये निर्वासित लोग अरण्य में धर्मभागक सुपुष्पचन्द्र के साथ रहते थे। सुपुष्पचन्द्र ने लोक कल्याण के निमित्त शूरदत्त के राज्य में प्रवेश कर धर्मदेशना की। अनेक लोग उनके अनुयायी हो गये। राजा से यह देखा न गया और उसने जल्लाद को बुलवा कर सुपुष्पचन्द्र के अग-प्रत्यग कटवा, आखें निकलवा कर मरवा डाला।)

एव भावितसताना. परदु खशमप्रिया * ।
अवीचिमवगाहन्ते हमा पद्मवन यथा ॥१०७॥

इस प्रकार जो सतत भावना करते रहते है, दूसरों का दु ख दूर करने में जिन्हें सतोष होता है, वे पद्मवन में हसों की भाति (दूसरो का दुःख दूर करने के लिए) अवीचि-नरक तक में डुबकी लगाते हैं।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा ।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किं ॥१०८॥

प्राणियो के (दु ख से) मुक्त होने से तुझे जो प्रमोद-सिंधु मिलेंगे, बस वे ही पर्याप्त है। नीरस निर्वाण में है ही क्या ?

---

*पचिका में "परदु.खसमप्रिया." पाठ मान कर व्याख्या की गयी है पर व्याख्या से जान पड़ता है कि पचिकाकार को पाठ लग नहीं रहा है। भोटानुवादक के सामने "परदु.खशमप्रिया."(गझम् ग्यी स्दुग् ङ्स्ङल् शि ङ्गऽ वस्) पाठ था।

अतः परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
न विपाकफलाकांक्षा परार्थैकान्ततृष्णया ॥१०९॥ †

इसलिए एकमात्र परोपकार की अभिलाषा से परोपकार करके भी न गर्व करना चाहिए और न विस्मय और न विपाक फल की इच्छा हो।

तस्माद्यथाल्पशो ऽवर्णादात्मानं गोपयाम्यहं ।
रक्षाचित्तं दयाचित्तं करोम्येवं परेष्वपि ॥११०॥

इसलिए जैसे मैं अपने को नाम मात्र की बदनामी से बचाता हूं, वैसे ही दूसरों पर मुझे दया और रक्षा का भाव रखना होगा ।

अभ्यासादन्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु ।
भवत्यहमिति ज्ञानमसत्यपि हि वस्तुनि ॥१११॥

तथा कायो ऽन्यदीयो ऽपि किमात्मेति न गृह्यते ।
परत्वं तु स्वकायस्य स्थितमेव न दुष्करं ॥११२॥

अभ्यासवश जिस प्रकार परकीय रजोवीर्य-बिन्दुओं में, वास्तविकता के न होने पर भी, अपनेपन का बोध होता है, उसी प्रकार दूसरे की काया को अपनी क्यों नहीं मानते । अपनी काया अपनी नहीं है—यह तो सहज ही सिद्ध है ।

ज्ञात्वा सदोषमात्मानं परानपि गुणोदधीन् ।
आत्मभावपरित्यागं परादानं च भावयेत् ॥११३॥

अपने को सदोष तथा दूसरों को गुणनिधि मानकर, अपने को (पराया मानकर) त्याग तथा पराये को (अपना मानकर) ग्रहण करने की भावना करनी चाहिए ।

कायस्यावयवत्वेन यथाभीष्टाः करादयः ।
जगतो ऽवयवत्वेन तथा कस्मान्न देहिनः ॥११४॥

जैसे हाथ आदि अंग शरीर के अवयव होने के कारण प्रिय होते हैं, वैसे देह-धारी जगत् के अवयव होने के कारण प्रिय क्यों नहीं ?

यथात्मबुद्धिरभ्यासात् स्वकाये ऽस्मिन् निरात्मके ।
परेष्वपि तथात्मत्वं किमभ्यासान्न जायते ॥११५॥

जिस प्रकार इस निरात्मक निज शरीर में अभ्यासवश अपने पन का बोध होता है, वैसे ही दूसरे (प्राणियों के शरीरों) में अभ्यास से क्या अपनापन न उत्पन्न होगा।

एवं परार्थं कृत्वापि न मदो न च विस्मयः ।
आत्मानं भोजयित्वैव फलाशा न च जायते ॥११६॥

इस प्रकार परार्थ करके भी न गर्व हो सकता है और न विस्मय। अपने आपको ही भोजन करा (किसी में उसके बदले के) फल की आशा नहीं होती ।

---

†श्लोक १०९ से १८६ तक एशियाटिक सोसाइटी के संस्करण में पंजिका के खंडित होने से नहीं हैं ।

तस्माद्यथार्तिशोकादेरात्मानं गोप्तुमिच्छसि ।
रक्षाचित्त दयाचित्त जगत्यभ्यस्यतां तथा ॥११७॥

इसलिए जैसे दुःख और शोक आदि से अपने आप को बचाना चाहते हो, वैसे ही जगत् के प्रति दया और रक्षा के भाव का अभ्यास करो।

अध्यतिष्ठदतो नाथः स्वनामाप्यवलोकित ।
पर्षच्छारद्यभयमप्यपनेतु जनस्य हि ॥११८॥

इसीलिए अवलोकितेश्वयर ने जन के पर्षत्-शारद्य × रूपी भय को दूर करने के लिए अपने नाम का अधिष्ठान † किया है ।*

दुष्कराञ्न निवर्तेत यस्मादभ्यासशक्तित ।
यस्यैव श्रवणात् त्रासस्तेनैव न विना रति ॥११९॥

अभ्यास के बल से (मनुष्य) दुष्कर (कृत्य) से पीछे नहीं लौटता। जिसके सुनने से डर लगता है, उसी के बिना उसे चैन नहीं पड़ती।

आत्मान च परांश्चैव य. शीघ्र त्रातुमिच्छति ।
स चरेत् परम गुह्य परात्मपरिवर्तन ॥१२०॥

जो अपने और पराये को शीघ्र बचाना चाहता हो, उसे चाहिए कि परम रहस्य परात्म-परिवर्तन का आचरण करे ।

यस्मिन्नात्मन्यतिस्नेहादल्पादपि भयाद् भय ।
न द्विषेत् कस्तमात्मान शत्रुवद् यो भयावह. ॥१२१॥

जिसे अपने (शरीर) में अत्यन्त स्नेह के कारण थोड़े भय में भी भय ही भय मालूम होता है, उस शत्रु के समान भयकर अपने (शरीर) से कौन द्वेष करे ?

यो मान्द्यक्षुत्पिपासादिप्रतीकारचिकीर्षया ।
पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति परिपन्थ च तिष्ठति ॥१२२॥

जो (अग्नि-) मांद्य, क्षुधा, पिपासा आदि (दुःखों) का प्रतिकार करने की इच्छा से पक्षी, मत्स्य और मृगों को मारता है तथा विरोध में खड़ा होता है।

---

× पर्षत्-शारद्य-सभा में (प्रश्न किये जाने पर) घबराहट। इस घबराहट के न होने को वैशारद्य कहते हैं। चार प्रकारके वैशारद्यों की बौद्धवाङ्मय में बहुत चर्चा है, जिनके विशेष विवरण के लिए मज्झिमनिकाय के महासीहनाद सुत्त को देखना चाहिए। इस सुत्त के अनुवाद के लिए देखिये मज्झिमनिकाय (राहुलसांकृत्यायन) पृष्ठ ४४-५२ ।

† अधिष्ठान-वरदान Blessing

*भाव यह है कि जो सभा में अवलोकितेश्वर के नाम का स्मरण कर बैठेगा उसे सभा के बीच प्रश्नों के किये जाने पर घबराहट न होगी। अवलोकितेश्वर के नाम के साथ यह अधिष्ठान जुड़ा हुआ है ।

यो लाभसत्क्रियाहेतोः पितरावपि मारयेत् ।
रत्नत्रयस्वमादद्याद् येनावीचीन्धनो भवेत् ॥१२३॥

जो लाभ और सत्कार के लिए माता-पिता तक की हत्या करता है, त्रिरत्न के धन को छीन लेता है, और जिसके कारण (उसे) अवीचि-नरक का इंधन होना पड़ता है।

क पण्डितस्तमात्मानमिच्छेद् रक्षेच्च पूजयेत् ।
न पश्येच् छत्रुवच्चैन कश्चैन प्रतिमानयेत् ॥१२४॥

कौन बुद्धिमान् उस अपने (शरीर) की इच्छा करे, रक्षा करे, पूजा करे। कौन (इसका) मान करे और इसे शत्रु के समान न देखे।

यदि दास्यामि किं भोक्ष्य इत्यात्मार्थे पिशाचिता ।
यदि भोक्ष्ये किं ददामीति परार्थे देवराजता ॥१२५॥

'यदि दूंगा तो क्या खाऊंगा' यह अपने लिए सोचना पिशाचपन है। 'यदि खाऊंगा तो क्या दूंगा' यह पराये के लिए सोचना देवराजता है।

आत्मार्थं पीडयित्वान्य नरकादिषु पच्यते ।
आत्मान पीडयित्वा तु परार्थे सर्वसंपद. ॥१२६॥

अपने लिए दूसरे को पीडा देकर (मनुष्य को) नरक आदि में पकना पड़ता है। पर दूसरे के लिए स्वय क्लेश उठाने से (मनुष्य को) सब संपत्तिया मिलती है।

दुर्गतिर्नीचता मौर्ख्यं ययैवात्मोन्नतीच्छया ।
तामेवान्यत्र सक्राम्य सुगति सत्कृतिर्मति ॥१२७॥

अपने लिए उन्नति की जिस इच्छा से दुर्गति, अवज्ञा और मूर्खता मिलती है, उसी (इच्छा) का दूसरों में सक्रमण करने से सगति, सत्कार और प्रज्ञा मिलती हैं।

आत्मार्थं परमाज्ञाप्य दासत्वाद्यनुभूयते ।
परार्थं त्वेनमाज्ञाप्य स्वामित्वाद्यनुभूयते ॥१२८॥

अपने के लिए दूसरे को आज्ञा देकर (उस कर्म के फलरूप में) दासता आदि का अनुभव करना पड़ता है। दूसरे के लिए इसे (=निज को) आज्ञा देकर (उस कर्म के फलरूप में) प्रभुता आदि का अनुभव करने को मिलता है।

ये केचिद् दु खिता लोके सर्वे ते स्वसुखेच्छया ।
ये केचित् सुखिता लोके सर्वे तेऽन्य सुखेच्छया ॥१२९॥

ससार में जो कोई दु खी है, वे सब अपनी सुखेच्छा के कारण। संसार में जो कोई सुखी है, वे परकीय सुखेच्छा के कारण।

बहुना वा किमुक्तेन दृश्यतामिदमन्तर ।
स्वार्थार्थिनश्च बालस्य मुनेश्चान्यार्थकारिण ॥१३०॥

अधिक कहने से क्या? स्वार्थ परायण अज्ञानी और परोपकारी ज्ञानी में इस अन्तर को देखो (एक दु खी है, दूसरा सुखी)।

न नाम साध्यं बुद्धत्वं संसारेऽपि कुतः सुखं ।
स्वसुखस्यान्यदुःखेन परिवर्तमकुर्वतः ।।१३१।।

दूसरे के दुःख से अपने सुख को बिना बदले बुद्धत्व की सिद्धि नहीं हो सकती फिर संसार में सुख ही कहां ?

आस्तां तावत्परो लोको दृष्टोऽप्यर्थो न सिध्यति ।
भृत्यस्याकुर्वतः कर्म स्वामिनोऽददतो भृतिं ।।१३२।।

परलोक की बात रहने दो। काम न करने वाले नौकर का और नौकरी न देने वाले स्वामी का ऐहिक अर्थ भी सिद्ध नहीं होता ।

त्यक्त्वाऽन्योन्यसुखोत्पादं दृष्टादृष्टसुखोत्सवं ।
अन्योन्यदुःखनाद् घोरं दुःखं गृह्णन्ति मोहिताः ।।१३३।।

परस्पर सुख पहुंचाना लोक और परलोक में सुखोत्सव मनाना है, उसे छोड़ मूढ़ लोग एक दूसरे को दुःख देकर घोर दुःख पाते हैं ।

उपद्रवा ये च भवन्ति लोके यावन्ति दुःखानि भयानि चैव ।
सर्वाणि तान्यात्मपरिग्रहेण तत् किं ममानेन परिग्रहेण ।।१३४।।

संसार में जो उपद्रव होते हैं, जितने दुःख और भय हैं, वे सब आत्म परिग्रह से होते हैं। इसलिए इस परिग्रह से मेरा क्या ?

आत्मानमपरित्यज्य दुःखं त्यक्तुं न शक्यते ।
यथाग्निमपरित्यज्य दाहं त्यक्तुं न शक्यते ।।१३५।।

बिना आत्म परित्याग किये दुःख का परित्याग नहीं हो सकता, जैसे बिना अग्नि का परित्याग किये दाह का परित्याग नहीं हो सकता ।

तस्मात् स्वदुःखशान्त्यर्थं परदुःखशमाय च ।
ददाम्यन्येभ्य आत्मानं परान् गृह्णामि चात्मवत् ।।१३६।।

इसलिए अपने और पराये की दुःख शांति के लिए दूसरों के प्रति आत्मसमर्पण करता हूं और दूसरों को आत्म-तुल्य ग्रहण करता हूं ।

अन्यसंबद्धमस्मीति निश्चयं कुरु मे मनः ।
सर्वसत्त्वार्थमुत्सृज्य नान्यच्चिन्त्यं त्वयाधुना ।।१३७।।

हे मन ! "मैं दूसरे का बंधुआ हूं" यह निश्चय कर। सकल-प्राणि-हित करना छोड़ अब तुझे और कुछ नहीं सोचना है ।

न युक्तं स्वार्थदृष्ट्यापि तदीयैश्चक्षुरादिभिः ।
न युक्तं स्पन्दितुं स्वार्थमन्यदीयैः करादिभिः ।।१३८।।

दूसरे के नेत्र आदि से अपने स्वार्थ के लिए देखना भी ठीक नहीं है। दूसरे के हाथ आदि से अपने स्वार्थ के लिए हिलना भी ठीक नहीं है ।

तेन सत्त्वपरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे ।
तत्तदेवापहृत्यास्मात् परेभ्यो हितमाचर ॥१३९॥

इसलिए प्राणि (हित) परायण होकर इस शरीर में जो-जो देखता है उस उस को इससे छीन कर दूसरो का हित कर ।

हीनादिष्वात्मतां कृत्वा परत्वमपि चात्मनि ।
भावयेर्ष्यां च मानं च निर्विकल्पेन चेतसा ॥१४०॥

हीन आदि में अपनापन कर और अपने को पराया भी मान, मन में सकल्प-विकल्प न करके, ईर्ष्या और मान की भावना कर ।

एष सत्क्रियते नाहं, लाभी नाहमयं यथा ।
स्तूयते ऽयमहं निन्द्यो, दु खितो ऽहमयं सुखी ॥१४१॥

इसका सत्कार होता है, मेरा नहीं । जैसा यह लाभी है, (वैसा) मैं नहीं । इसकी स्तुति होती है, मेरी निन्दा, । यह सुखी है, मै दु खी ।

अहं करोमि कर्माणि, तिष्ठत्येष तु सुस्थित. ।
अयं किल महान् लोके, नीचोऽहं किल निर्गुण. ॥१४२॥

मैं काम करता हूँ, यह आराम मे बैठा है । यह लोक में महान् है, मैं नीच हूँ, निर्गुणी हूँ ।

किं निर्गुणेन कर्तव्यं स्व(क)स्यात्मा गुणान्वित ।
सन्ति ते येष्वहं नीच सन्ति ते येष्वहं पर । ॥१४३॥

मैं निर्गुणी क्या अपने आपको गुणी बना सकूगा ? वे भी है, जिनमें मैं हीन हूँ । वे भी है जिनमें मैं उच्च हूँ ।

शीलदृष्टिविपत्त्यादि क्लेशशक्त्या न मद्वशात् ।
चिकित्स्योऽहं यथाशक्ति पीडाप्यङ्गीकृता मया ॥१४४॥

शील-विपत्ति, दृष्टि-विपत्ति आदि* क्लेशों † की शक्ति से होती है, उन पर मेरा वश नहीं । मैं चिकित्सा के योग्य हूँ और यथाशक्ति पीडा सहना भी मुझे मंजूर है ।

अथाहमचिकित्स्योऽस्य कस्मान्मामवमन्यते ।
किं ममैतद्गुणै. कृत्यमात्मा तु गुणवानयं ॥१४५॥

यदि इससे मेरी चिकित्सा नहीं हो सकती तो (यह) मेरी अवज्ञा क्यों करता है ? इसके गुणो से मेरा क्या ? यह अपने आप गुणी हो तो हुआ करे ।

दुर्गतिव्यालवक्त्रस्थे नैवास्य करुणा जने ।
अपरान् गुणमानेन पण्डितान् विजिगीषते ॥१४६॥

दुर्गति रूप सर्प के मुह में पडी दुनिया के ऊपर इसे दया नहीं आती (फिर भी) गुण के मान से यह दूसरे पण्डितो को जीतना चाहता है।

*शीलविपत्ति—दुराचरण, दृष्टिविपत्ति—मिथ्यादृष्टि ।
†क्लेश-राग, द्वेष, मोह आदि ।

समसात्मानमालोक्य यतेत्स्वाधिक्यवृद्धये ।
कलहेनापि संसाध्यं लाभसत्कारमात्मन· ॥१४७॥

अपने को यदि दूसरो के बराबर देखे तो स्वय और बढ़ने का यत्न करना चाहिए । कलह के द्वारा भी (यदि) लाभ और सत्कार अपने को (मिले तो उसका) उपाय करना चाहिए ।

अपि सर्वत्र मे लोके भवेयु. प्रकटा गुणा ।
अपि नाम गुणा येऽस्य न श्रोष्यन्त्यपि केचन ॥१४८॥

लोक में सब जगह (यदि) मेरे गुण प्रकट हो जाए (तो) इसके जो गुण है, उन्हें कोई सुनेगा भी नहीं ।

छाद्येरन्नपि मे दोषा स्यान्मे पूजास्य नो भवेत् ।
सुलब्धा अद्य मे लाभा पूजितोऽहमयं न तु ॥१४९॥

मेरे दोष गुप्त रहें । मेरी पूजा हो, इसकी न हो । आज मुझे लाभ है—सुलाभ है । मैं पूजित हू, यह नहीं ।

पश्यामो मुदितास्तावच्चिरादेन खलीकृतं ।
हास्यं जनस्य सर्वस्य निन्द्यमानमितस्तत ॥१५०॥

चिर के बाद (आज) हम इसे सब लोगो से इधर-उधर तिरस्कृत, उपहसित और निन्दित देख रहे हैं (तथा) प्रसन्न हो रहे है ।

अस्यापि हि वराकस्य स्पर्धा किल मया सह ।
किमस्य श्रुतमेतावत् प्रज्ञा रूप कुल धनं ॥१५१॥

इसका पांडित्य, बुद्धि, रूप, कुल और धन क्या इतना है कि इस बेचारे को भी मेरे साथ स्पर्धा हो ।

एवमात्मगुणान् श्रुत्वा कीर्त्यमानमितस्तत ।
सजातपुलको हृष्ट परिभोक्ष्ये सुखोत्सवं ॥१५२॥

इस प्रकार जहा-तहां अपने गुणों का बखान सुनकर प्रसन्न और रोमांचित हो सुखोत्सव का भोग करूगा ।

यद्यप्यस्य भवेल्लाभो ग्राह्यो ऽस्माभिरसौ बलात् ।
दत्त्वाऽस्मै यापनामात्रमस्मत्कार्यं करोति चेत् ॥१५३॥

सुखाच्च च्यावनीयो ऽय योज्यो ऽस्मद्व्यथया सदा ।
अनेन शतशः सर्वे ससारव्यथिता वय ॥१५४॥

और यदि इसे लाभ हो तो बलपूर्वक हमें उसे छीन लेना है। यदि हमारा काम करता है तो गुजारा भर देकर इसे सुख नहीं लेने देना है (तथा) सदा कठोर दुख देना है इसी ने सैकड़ों वार हम सबको ससार में सताया है ।

अप्रमेया गताः कल्पाः स्वार्थं जिज्ञासतस्तव ।
श्रमेण महतानेन दुःखमेव त्वयार्जित ॥१५५॥

स्वार्थ की जिज्ञासा करते-करते अपरिमित कल्प बिताये। इस महान् श्रम से तूने दुःख ही कमाया।

मद्विज्ञप्त्या तथात्रापि प्रवर्तस्वाविचारत ।
द्रक्ष्यस्येतद्गुणान् पश्चाद् भूत हि वचनं मुनेः ॥१५६॥

उसी प्रकार मेरे कहने से बिना विचार किये इस (बोधिचर्या) में भी लग जाओ, तब इसके गुण देखोगे। भगवान् का वचन यथार्थ ही होता है।

अभविष्यदिद कर्म कृत पूर्वं यदि त्वया ।
बौद्ध सपत्सुख मुक्त्वा नाभविष्यदिय दशा ॥१५७॥

यदि तूने पहले यह काम किया होता, तो बोधि की सपत्ति का सुख (ही होता, उसे) छोड यह दशा न होती।

तस्माद्यथान्यदीयेषु शुक्रशोणितबिन्दुषु ।
चकर्थ त्वमहकार तथान्येष्वपि भावय ॥१५८॥

इसलिए जैसे दूसरे के रजोवीर्य बिन्दुओं में तूने आत्मभाव किया है वैसे ही दूसरों (के शरीरो) में भी (आत्मभाव की) भावना कर।

अन्यदीयश्चरो भूत्वा कायेऽस्मिन् यद्यदीक्षसे ।
तत्तदेवापहृत्यार्थं परेभ्यो हितमाचर ॥१५९॥

दूसरो का सेवक हो इस काया में जो जो वस्तु देख उस उस को छीन कर दूसरों का हित कर।

अय सुस्थ परो दुस्थो नीचैरन्यो ऽयमुच्चकैः ।
पर करोत्यय नेति कुरुष्वेर्ष्या त्वमात्मनि ॥१५०॥

यह अच्छी दशा में है, दूसरा बुरी दशा में है। यह उच्च है, दूसरा नीच है। यह नहीं करता, दूसरा करता है। इस प्रकार (सोच) तू अपने ऊपर ईर्ष्या कर।

सुखाच्च च्यावयात्मान परदुःखे नियोजय ।
कदाय किं करोतीति छलमस्य निरूपय ॥१६१॥

अपने को सुख से अलग रख (और) दूसरो के दुःख (दूर करने) में लगा। "यह कब क्या करता है" यह (देखते हुए) इसके छल को भापता रह।

अन्येनापि कृत दोष पातयास्यैव मस्तके ।
अल्पमप्यस्य दोष च प्रकाशय महाजने ॥१६२॥

दूसरे के किये दोष को भी इसके ही मत्थे मढ और इसके थोडे से भी [दोष का दुनिया में ढिंढोरा पीट।

अन्याधिकयशोवादैर्यशोऽस्य मलिनीकुरु ।
निकृष्टदासवच्चैन सत्त्वाकार्येषु वाहय ॥१६३॥

दूसरों के नाम का ऊंचा नारा लगा कर इसके नाम पर कालिख पोत । नीच दास की भांति इसे प्राणियों के (सेवा-) कार्य में जोत ।

नागन्तुकगुणांशेन स्तुत्यो दोषमयो ह्ययम् ।
यथा कश्चिन्न जानीयाद् गुणमस्य तथा कुरु ॥१६४॥

आरोपित गुणों के अंश द्वारा इस दोषमय की स्तुति न करना । और ऐसा कर जिसम इसके गुणों को कोई न जान पाये ।

सक्षेपाद्यद्यदात्मार्थे परेष्वपकृतं त्वया ।
तत्तदात्मनि सत्त्वार्थे व्यसनं विनिपातय ॥१६५॥

सक्षेप से अपने हित दूसरों का जो जो बुरा किया है, वह वह बुराई प्राणिहित अपने ऊपर डाल ।

नैवोत्साहो ऽस्य दातव्यो येनायं मुखरो भवेत् ।
स्थाप्यो नववधूवृत्तो ह्रीतो भीतोऽथ सवृतः ॥१६६॥

इसे उत्साह न देना कि यह वक वक करे । नई वहू की भांति इसे सलज्ज, सभीत कर परदे में रख ।

एवं कुरुष्व तिष्ठैवं न कर्तव्यमिद त्वया ।
एवमेष वशः कार्यो निग्राह्यस्तदतिक्रमे ॥१६७॥

"ऐसा कर, इस तरह बैठ, तुझे यह न कहना चाहिए" इस प्रकार (शासन द्वारा) इसे वश में करना चाहिए । वैसा न करने पर दड देना चाहिए ।

अथैवमुच्यमानेऽपि चित्त नैव करिष्यसि ।
त्वामेव निग्रहीष्यामि सर्वदोषास्त्वदाश्रिता ॥१६८॥

हे चित्त ! यों कहने पर भी यदि तू यह न करेगा तो तुझे दण्ड दूंगा । सब दोषों का अड्डा तू है ।

क्व यास्यसि मया दृष्ट. सर्वदर्पान् निहन्मि ते ।
अन्यो ऽसौ पूर्वक कालस्त्वया यत्रास्मि नाशित· ॥१६९॥

कहां जायगा, मैंने देख लिया, तेरा सब घमंड चूर किये देता हूं । वह पहले का समय और ही था जब तूने मेरा सत्यानाश किया ।

अद्याप्यस्ति मम स्वार्थ इत्याशा त्यज साप्रतं
त्वं विक्रीतो मयान्येषु बहुखेदमचिन्तयन् ॥१७०॥

'अब भी मेरा (तुझसे कुछ) स्वार्थ है,—इस आशा को अब छोड दे । मैंने (तेरी) बहुत सी तकलीफों का ख्याल न कर, तुझे दूसरो के हाथ वेच डाला है ।

त्वां सत्त्वेषु न दास्यामि यदि नाम प्रमादतः ।
त्व मा नरकपालेषु प्रदास्यसि न संशयः ॥१७१॥

यदि प्रमादवश में तुझे प्राणियों को नहीं सौंपता तो तू मुझे निःसंदेह नरकपालों के हवाले कर देगा ।

एव चानेकधा दत्वा त्वयाह व्यथितश्चिर ।
निहन्मि स्वार्थचेट त्वां तानि वैराण्यनुस्मरन् ॥१७२॥

इस प्रकार अनेक बार देकर, तूने मुझे सताया है । उन वैरों का स्मरण कर तेरी स्वार्थ के दास को गत बनाए बिना न रहूँगा ।

न कर्तव्यागत्मनि प्रीतिर्यद्यात्मप्रीतिरस्ति ते ।
यद्यात्मा रक्षितव्योऽय रक्षितव्यो न युज्यते ॥१७३॥

यदि तुझे अपने से प्रेम है, तो अपने से प्रेम न करना । इस आत्मा को यदि बचाना है, तो (यही) उचित है (कि इसे) न बचाया जाए ।

यथा यथास्य कायस्य क्रियते परिपालन ।
सकुमारतरो भूत्वा पतत्येव तथा तथा ॥१७४॥

जैसे जैसे इस काया का पालन किया जाता है वैसे वैसे सुकुमार होकर यह पतित होती जाती है ।

अस्यैव पतितस्यापि सर्वापीय वसुन्धरा ।
नाल पूरयितु वाछा तत्को ऽस्येच्छा करिष्यति ॥१७५॥

यह समूची धरती भी इस प्रकार इस पतित की इच्छा पूरी नहीं कर सकती । फिर कौन इसकी इच्छा करेगा ?

अशक्यमिच्छत क्लेश आशाभगश्च जायते ।
निराशो यस्तु सर्वत्र तस्य सपदजीर्णका ॥१७६॥

अलभ्य की इच्छा करने से क्लेश होता है, आशा टूटती है । जो सर्वत्र निराश है, उसकी सपत्ति घटती नहीं ।

तस्मान्न प्रसरो देय कायस्येच्छाभिवृद्धये ।
भद्रक नाम तद्वस्तु यदिष्टत्वान्न गृह्यते ॥१७७॥

इसलिए काया को इच्छा बढ़ाने का अवसर न देना । उसी वस्तु से कल्याण होता है, जिस पर प्रेमासक्ति नहीं होती ।

भस्मनिष्ठावसानेय निश्चेष्टान्येन चाल्यते ।
अशुचिप्रतिमा घोरा कस्मादत्र ममाग्रह ॥१७८॥

अपवित्रता की यह भयकर प्रतिमा (देह) जिसका अन्त भस्म निष्ठा है, जो (स्वयं) चेष्टा रहित है और किसी दूसरे के द्वारा सचेष्ट होती है, उसमें मेरा आग्रह क्यों ?

किं मयानेन यन्त्रेण जीविना वा मृतेन वा ।
लोष्ट्रादे. को विशेषो ऽस्य हाहंकार न नश्यसि ॥१७९॥

इस जीवित या मृत यत्र से मेरा क्या ? इसको ढेले आदि से क्या विशेषता ? हा ! अहकार ! तू नष्ट नहीं होता ।

शरीरपक्षपातेन वृथा दु खमुपार्ज्यते ।
किमस्य काष्ठतुल्यस्य द्वेषेणानुनयेन वा ॥१८०॥

शरीर का पक्षपात कर बेकार दु ख कमाया जाता है । काष्ठ के समान इस शरीर का राग-द्वेष से क्या ?

मया वा पालितस्यैव गृध्राद्यैर्भक्षितस्य वा ।
न च स्नेहो न च द्वेषस्तस्मात्स्नेह करोमि किं ॥१८१॥

इस प्रकार मैं पालू या गिद्ध आदि खायें, इसे राग-द्वेष नहीं । फिर मैं क्यों स्नेह करूं ।

रोषो यस्य खलीकारात् तोषो यस्य च पूजया ।
स एव चेन्न जानाति श्रम कस्य कृते नु मे ॥१८२॥

जिसके तिरस्कार से (हमें) रोष और पूजा से सतोष होता है, वह (स्वय) ही यदि नहीं जानता तो मेरा यह श्रम किसलिए ?

इम ये कायमिच्छन्ति तेऽपि मे सुहृद. किल ।
सर्वे स्वकायमिच्छन्ति तेऽपि कस्मान्न मे प्रिया. ॥१८३॥

जो इस (मेरे) शरीर को चाहते है, वे मेरे प्रिय है। सब अपने शरीर को चाहते है, वे भी मेरे प्रिय क्यो नहीं ?

यस्मान्मयानपेक्षेण कायस्त्यक्तो जगद्धिते ।
अतोऽय बहुदोषोऽपि धार्यते कर्मभाण्डवत् ॥१८४॥

अत मैंने अनासक्ति के साथ यह शरीर जगत् के हित के लिए दे डाला है, अत बहुत दोषयुक्त होने पर भी कर्मोपकरण की भाति मैं इसे धारण कर रहा हूँ ।

तेनाल लोकचरितै· पडिताननुयाम्यह ।
अप्रमादकथा स्मृत्वा स्त्यानमिद्ध निवारयन् ॥१८५॥

इसलिए दुनिया का चलन रहे एक ओर, मैं तो अप्रमादकथा* का स्मरण कर स्त्यान-मिद्ध** को दूर करते हुए पडितो की राह पकडता हूँ ।

तस्मादावरण हन्तुं समाधानं करोम्यहं ।
विमार्गाच्चित्तमाकृष्य स्वालबननिरतर ॥१८६॥

इसलिए (क्लेश के) आवरण का नाश करने के लिए, चित को असन्मार्ग से खींच, (ध्यान के) आलबन में निरतर लगा समाधिस्थ करता हूँ ।

---

*अप्रमादकथा को सनुशसा के लिए धम्मपद का अप्पमादवग्ग अट्ठ कथा के साथ द्रष्टव्य है । **स्त्यान=शरीर और मन का भारीपन । मिद्ध—तद्राभिभूतता ।

## नवम परिच्छेद

# प्रज्ञापारमिता

( इस परिच्छेद में शून्यवाद का प्रतिपादन है । शून्यता शब्द का बौद्ध साहित्य में नाना भाव से प्रयोग हुआ है । पर शून्यवाद के प्रतिपादक माध्यमिकों ने इसे दो अर्थों में लिया है । कभी-कभी वे शून्यता को हेतु प्रत्ययसापेक्षता के अर्थ में लेते हैं । जैसा कि नागार्जुन का कथन है—"य प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यतां तां प्रचक्ष्महे ।"* इस अर्थ में गृहीत शून्यता के द्वारा जब माध्यमिक विश्व की चर्चा करते हैं तब उन्हें वह निःसार, निःस्वभाव एवं मायामय प्रतीत होता है। जो अपनी सिद्धि के लिए हेतु-प्रत्यय की अपेक्षा रखता है। उस अपने आप में असिद्ध विश्व का स्वभाव या सार हो ही क्या सकता है? कभी-कभी माध्यमिक लोग शून्यता शब्द का प्रयोग निष्प्रपचता के अर्थ में करते हैं । जो निष्प्रपच है उसे शब्दों के प्रपच द्वारा कहना कठिन क्या असंभव है। वह तत्त्वज्ञानियों के साक्षात्कार की वस्तु अवश्य है पर वचन से प्रकाश करने की वस्तु नहीं । इसीलिए उसे अनक्षर-तत्त्व** कहा गया है। इस अर्थ में शून्यता निर्वाण का ही नाम है× । यही परमार्थ, यही परम पुरुषार्थ है, यही तत्त्व है, यही परम तत्त्व है । यह तत्त्व प्रत्यात्मवेद्य है, शांतिरूप है, निष्प्रपच है, निर्विकल्प है, अचिन्त्य है, नानाभावरहित है, अविभाज्य तत्त्व है + । इन्हीं दो अर्थों में शून्यता का ग्रहण कर माध्यमिक व्यवहार और परमार्थ की चर्चा करते हैं तथा अपने रहस्य के अनुसार उसे कभी

---

* य. प्रतीत्यसमुत्पाद शून्यतां तां पचक्ष्महे । सा प्रज्ञप्तिरुपादाय प्रतिपत्सैव मध्यमा ।। (माध्यमिक कारिका) ।

जो प्रतीत्य समुत्पाद है उसी को हम शून्यता कहते हैं । वही उपदाय प्रज्ञप्ति कहलाती है । और उसी का नाम मध्यमा प्रतिपदा है ।

** अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुति का देशना च का । श्रूयते देश्यते चार्थ समारोपादनक्षरः ।। (बोधिचर्यावतार पंजिका पृष्ठ ३६५ पर उद्धृत । माध्यमिक वृत्ति १५ । २ की टीका में "चार्य" के स्थान में "चापि" पाठान्तर के साथ उद्धृत)

× कर्मक्लेशक्षयान्मोक्षः कर्मक्लेशा विकल्पतः । ते प्रपचात् प्रपंचस्तु शून्यतायां निरुध्यते ।। ( माध्यमिक कारिका १८ । ५) शून्यतैव सर्वप्रपचनिवृत्तिलक्षणत्वान्निर्वाणमुच्यते । (माध्यमिकवृत्ति पृष्ठ ३७३)

\+ अपरप्रत्ययं शान्त प्रपचैरप्रपचित । निर्विकल्पमनानार्थमेतत् तत्वस्य लक्षणं । (माध्यमिककारिका १८। ९ )

तथता, कभी भूतकोटि, कभी धर्मधातु कहते है। उसी को उन्होंने तथागत का धर्मकाय, बुद्धता, धर्मता और बोधि कहा है * ।)

दुःखनिवृत्ति का उपाय : प्रज्ञा

इम परिकर सर्वं प्रज्ञार्थं हि मुनिर्जगौ ।
तस्मादुत्पादयेत्प्रज्ञा दुःखनिवृत्तिकाक्षया ॥१॥

इन सब (शील-समाधि आदि) सामग्री को तथागत ने प्रज्ञा के लिए (साधन के रूप में) कहा है। इसलिए दुःख दूर करने की इच्छा से (मनुष्य को) चाहिए कि प्रज्ञा को उत्पन्न करे।

दो सत्य व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य

संवृति परमार्थश्च सत्यद्वयमिद मत ।
बुद्धेरगोचरस्तत्त्व बुद्धि. संवृतिरुच्यते ॥२॥

व्यवहार सत्य तथा परमार्थ सत्य ये दो सत्य है। (परमार्थ सत्य जो कि निष्प्रपंच) तत्त्व है, बुद्धि का विषय नहीं बनता। (यह प्रपञ्च-विषयक जो) बुद्धि है उसी का नाम व्यवहार सत्य है।

दो प्रकार के लोग साधारण और रहस्यवादी

तत्र लोको द्विधा दृष्टो योगी प्राकृतकस्तथा ।
तत्र प्राकृतको लोको योगिलोकेन बाध्यते ॥३॥
बाध्यन्ते धीविशेषेण योगिनो ऽप्युत्तरोत्तरै. ।

उन (व्यवहार सत्य और परमार्थ सत्य) में (अधिकारी) लोग दो प्रकार के देखे जाते है। (व्यवहार सत्य के अधिकारी लोग) साधारण होते है और (परमार्थ सत्य के अधिकारी लोग) योगी अर्थात् रहस्यवादी होते है। रहस्यवादी साधारण लोगो को प्रमाण नहीं मानते। योगियों में जो अधिक पहुँच वाले होते है वे (अपने से) कम पहुँच वालो को (अपने) विशेष ज्ञान के कारण प्रमाण नहीं मानते।

बाह्यजगत् की मायामयता

दृष्टान्तेनोभयेष्टेन कार्यार्थमविचारत ॥४॥
लोकेन भावा दृश्यन्ते कल्प्यन्ते चापि तत्त्वत ।
न तु मायावदित्यत्र विवादो योगिलोकयो ॥५॥

(साधारण और योगी) दोनो द्वारा अभिमत (स्वप्न, इन्द्रजाल आदि के) दृष्टान्त द्वारा (जगत् की मायामयता सिद्ध होती है† और उस मायामय जगत् में अपने) कार्य की सिद्धि के लिए (लोग) अविचार-पूर्वक (प्रवृत्त होते है)। दुनिया (सब) पदार्थो को देखती है और

---

* पंजिका पृष्ठ ३५४ तथा ४२१ पर इस अभिप्राय की ओर संकेत है।

† भाव यह है कि जैसे स्वप्न मिथ्या होता है वैसे ही जगत् भी मिथ्या है। दोनों में अन्तर इतना ही है कि स्वप्न क्षणिक होता है और जगत् तदपेक्षा स्थायी होता है।

उन्हें परमार्थ में वैसा ही मानती है पर उन्हें मायामय नहीं समझती---यही योगियों के साथ दुनिया का झगडा है।

प्रत्यक्षमपि रूपादि प्रसिद्ध्या न प्रमाणत ।
अशुच्यादिषु शुच्यादिप्रसिद्धिरिव सा मृषा ॥६॥

रूप आदि जिनका (इन्द्रियों द्वारा) प्रत्यक्ष होता है (और उन्हें दुनिया जैसा समझती है, उनका वैसा समझना) रूढि* के कारण है, प्रमाण के कारण नहीं। वह अशुचि आदि में शुचि आदि की प्रसिद्धि के समान+ भ्रम ही है।

[ अभिप्राय यह है कि जो जैसा दिखायी देता है यदि वह वैसा ही हो तो साधारण लोगो और तत्त्ववादियो में अन्तर नहीं रह जाता तथा तत्त्ववाद की चर्चा निरर्थक हो जाती है -- "इन्द्रियैरुपलब्ध यत् तत् तत्त्वेन भवेद् यदि। जातास्तत्त्वविदो वालास्तत्त्वज्ञानेन किं तदा ॥" अत जगत् के विषय में जो जनसाधारण का विचार होता है वही तत्त्वज्ञानियो का विचार नहीं होता। तथा तत्त्वज्ञानियो में भी तारतम्य रहता है। ]

लोकावतारणार्थं हि भावा नाथेन देशिता ।
तत्त्वत क्षणिका नैते, सवृत्या चेद्, विरुध्यते ॥७॥

न दोषो योगिसवृत्या लोकात् ते तत्त्वदर्शिन ।
अन्यथा लोकबाधा स्याद् अशुचिस्त्रीनिरूपणे ॥८॥

[ प्रश्न---स्वप्नवत् जगत् जब मिथ्या ही हुआ, तब उसका स्कन्ध आदि के द्वारा निरूपण करना तथा उसे क्षणिक† कहने आदि का अर्थ क्या ? प्रतिवचन---[ भगवान् ने दुनिया का (शून्यता में) प्रवेश कराने के लिए (स्कन्ध आदि) पदार्थों की देशना की है। परमार्थ में वे क्षणिक नहीं है। [प्रश्न] (परमार्थ से न सही) सवृति से तो क्षणिक है ? [प्रतिवचन] यह तो उलटी बात हुई (सवृत्ति से पदार्थ क्षणिक कहा ? वे तो अनेको क्षणो तक स्थिर दिखाई पडते है)। पर यह (दोष) दोष नहीं है। योगि-सवृत्ति से (पदार्थ क्षणिक् माने जाते है क्योकि) वे साधारण लोगों से अधिक तत्त्वज्ञानी होते हैं (और उन्हीं के व्यवहार से) स्त्री को अशुचि कहा जाता है यद्यपि यह भी लोक व्यवहार के विरुद्ध (ही) है।

## सर्वास्तिवादियों के आक्षेप और उनका समाधान

मायोपमाज्जिनात्पुण्य सद्भावेऽपि कथ यथा ।
यदि मायोपम सत्त्व किं पुनर्जायते मृत ॥९॥

---

*लोकप्रथा, लोकप्रवाद।

+ व्यवहार में इस प्रकार के भ्रमो को सत्य मानकर स्मृतिया चर्चा करती हैं। जैसे "मुखजा विप्रुषो मेध्या =मुह से निकले छींटे पवित्र होते हैं" [याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय]। इस भ्रम को बौद्ध परिभाषा में विपर्यास (पालि 'विपल्लास') कहते हैं।

† क्षणिका सर्वसस्कारा अस्थिराणा कुत क्रिया। भूतिर्येषा क्रिया सैव कारक सैव उच्यते ॥ [पजिका]

यावत्प्रत्ययसामग्री तावन्मायापि वर्तते ।
दीर्घसंतानमात्रेण कथ सत्त्वोऽस्ति तत्त्वत ॥१०॥

[आक्षेप] (जब सब जगत् ही मायामय है तब बुद्ध भी मायामय हुए) भला मायामय बुद्ध (की पूजा से) पुण्य कैसे ? [प्रत्याक्षेप] परमार्थ बुद्ध की पूजा से भी पुण्य कैसे ?* [प्रश्न] यदि जीव मायोपम है तो मर कर उसका पुनर्जन्म क्यो ? [प्रतिवचन] माया भी तब तक बनी रहती है जब तक उसकी कारण सामग्री रहा करती है (वह चाहे क्षणभर रहे और चाहे चिरकाल तक रहे)। केवल चिरकाल तक ससार में रहने के कारण जीव किसी भी तरह वास्तविक नहीं हो सकता ।

मायापुरुषघातादौ चित्ताभावान्न पापक ।
चित्तमायासमेते तु पापपुण्यसमुद्भव ॥११॥

[आक्षेप—जैसे ऐन्द्रजालिक पुरुष की हत्या में पाप नहीं लगता वैसे लौकिक पुरुष की हत्या में पाप नहीं लगना चाहिए क्योकि दोनों ही मायामय है ? समाधान—] मायापुरुष चित्तहीन होता है इसलिए उसकी हत्या में पाप नहीं लगता। (जो पुरुष) चित्तरूपी माया से युक्त है (उसके साथ यथाचरण) पाप भी लग सकता है और पुण्य भी हो सकता है। (किं च)

मत्रादीनामसामर्थ्यान्न मायाचित्तसभव ।
सापि नानाविधा माया नानाप्रत्ययसभवा ॥१२॥

नैकस्य सर्वसामर्थ्य प्रत्ययस्यास्ति कुत्र चित् ।

मत्र आदि में यह शक्ति नहीं होती कि उनसे माया-चित्त की उत्पत्ति हो सके (क्योकि) वह माया भी नानाप्रकार की होती है और नाना प्रत्ययो से उत्पन्न हुआ करती है। किसी एक ही प्रत्यय में यह शक्ति नहीं होती कि उससे सब कुछ उत्पन्न हो सके।

निर्वृत परमार्थेन सवृत्या यदि ससरेत् ॥१३॥

बुद्धोऽपि ससरेदेव तत किं बोधिचर्यया ।
प्रत्ययानामनुच्छेदे मायाप्युच्छिद्यते न हि ॥१४॥

प्रत्ययाना तु विच्छेदात् संवृत्यापि न सभव. ।

[आक्षेप] (जिनके लिए संसार कुछ है ही नहीं—सर्वथा माया ही माया है वे वस्तुत ससारी नहीं कहे जा सकते पर व्यवहार में उनका ससरण देखा जाता

---

* पजिकाकार अभिप्राय को विशद करते हुए कहते है—जिसके मत में बुद्ध वास्तविक है उसके मत में उनकी पूजा से वास्तविक पुण्य होता है और जिसके मत में बुद्ध मायामय है उसके मत में पुण्य मायामय होता है। दोनों में भेद कुछ नहीं। पुण्य और बुद्ध पूजा के बीच हेतुप्रत्ययसापेक्षता का नियम दोनों ही स्थानो पर है। "यथा कस्यचित् परमार्थसतो जिनात् परमार्थसत् पुण्य जायते। तथान्यस्य मायोपमात् मायोपमम् । . .इति.. न कश्चिद् विशेष॰। इद प्रत्यतामात्रस्योभयसाधारणत्वात्।" [पजिका पृष्ठ ३८०]

है अतएव) यदि परमार्थ में निर्वृत अर्थात् असंसारी व्यवहार में संसारी हो जाए तो बुद्ध भी इस प्रकार संसारी हो जाएंगे फिर बोधिचर्या से क्या ?

[समाधान] जब तक प्रत्ययों का उच्छेद नहीं होता तब तक माया भी उच्छिन्न नहीं होती। और जब प्रत्ययों का उच्छेद हो गया तब संवृति से भी उनकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

## विज्ञानवादियों के आक्षेप और उनका समाधान

यदा न भ्रान्तिरप्यस्ति माया केनोपलभ्यते ॥१५॥

यदा मायैव ते नास्ति तदा किमुपलभ्यते ।
चित्तस्यैव स आकारो यद्यप्यन्यो ऽस्ति तत्त्वतः ॥१६॥

चित्तमेव यदा माया तदा किं केन दृश्यते ।
उक्तं हि लोकनाथेन चित्तं चित्तं न पश्यति ॥१७॥

न च्छिनत्ति यथात्मानमसिधारा तथा मनः ।

[आक्षेप] (सब जगत् के मायामय होने के कारण माध्यमिकों के मत में) भ्रान्ति अर्थात् माया-ग्राहिका बुद्धि भी असत् ठहरी तब माया की उपलब्धि किससे ?

[प्रत्याक्षेप] (तुम विज्ञानवादी एकमात्र चित्त को सत् मानते हो सो तुम्हारे मत में) जब माया है ही नहीं तो किसी की उपलब्धि होने की बात ही क्या ?

[विज्ञानवादी का समाधान] वह (माया) चित्त ही का आकार है (और बाहर दिखाई पड़ने से भीतर के चित्त से) वस्तुतः पृथक् (जान पड़ती) है।

[माध्यमिक का आक्षेप] जब (विज्ञानवादी के मत के अनुसार) चित्त ही माया ठहरा तब दृश्य कौन और द्रष्टा कौन ? भगवान् ने कहा है कि चित्त चित्त को नहीं देखता। जैसे तलवार अपने आप को नहीं काटती वैसे मन (अपने आपको नहीं देखता)।

[यहां पंजिकाकार ने आर्य-रत्नचूड-सूत्र का उद्धरण दिया है। उपरोक्त कारिका से संबद्ध सूत्र का अंश यों है—"न हि चित्तं चित्तं समनुपश्यति। तद्यथा। न तयैवासिधारया सैवासिधारा शक्यते छेत्तुं ..... एवमेव तेनैव चित्तेन तदेव चित्तं द्रष्टुं (न शक्यते)—चित्त चित्त को नहीं देखता है (यहां दृष्टान्त है)। जैसे उसी तलवार की धार से वही तलवार की धार नहीं काटी जा सकती वैसे उसी चित्त से वही चित्त नहीं देखा जा सकता।]

आत्मभावं यथा दीपः संप्रकाशयतीति चेत् ॥१८॥

नैव प्रकाश्यते दीपो यस्मान्न तमसावृतः।
न हि स्फटिकवन्नीलं नीलत्वे ऽन्यमपेक्षते ॥१९॥

तथा किंचित् परापेक्षमनपेक्षं च दृश्यते ।
अनीलत्वे न तन्नीलं नीलहेतुर्यमपेक्ष्यते ॥२०॥

नीलमेव हि को नीलं कुर्यादात्मानमात्मना ।
अनीलत्वे न तन्नील कुर्याद्.त्मानमात्मना ॥२१॥

[विज्ञानवादी] जैसे दीप अपने आपको प्रकाशित करता है ( वैसे चित्त अपने आपको देखता है ) ।

[माध्यमिक] (विज्ञानवादी का दृष्टान्त ठीक नहीं) दीप प्रकाशित नहीं होता क्योंकि (प्रकाशन उसी वस्तु का होता है जो पहले से छिपी हुई हो और दीप) अधकार (आदि) से छिपा नहीं होता (कि उसका प्रकाशन हो) ।

[विज्ञानवादी] कोई वस्तु सापेक्ष होती है और कोई निरपेक्ष । जैसे नील अपनी नीलिमा के लिए (निरपेक्ष है उसे) स्फटिक की भांति (अपने को नीला करने के लिए ) दूसरा (नील पदार्थ) नहीं चाहिए ।

[माध्यमिक] उस नील (पदार्थ) को नीलहेतु नहीं माना जाता जो नील-गुण रहित हो। जो स्वय नील है उसे उसके अपने ही द्वारा कौन (फिर) नीला कर सकता है (और) वह नील (पदार्थ) जो नीलगुणरहित है अपने से अपने आपको नीला नहीं बना सकता । (अत जैसे नील स्फटिक को नील-हेतु की अपेक्षा होती है वैसे नील को भी नीलहेतु की अपेक्षा होती है) । (इसके अतिरिक्त)—

दीप. प्रकाशन इति ज्ञात्वा ज्ञानेन कथ्यते ।
बुद्धि प्रकाशत इति ज्ञात्वेद केन कथ्यते ॥२२॥

प्रकाशा वाप्रकाशा वा यदा दृष्टा न केन चित् ।
वन्ध्यादुहितृलीलेव कथ्यमानापि सा मुधा ॥२३॥

"दीप (स्वय) प्रकाशित होता है"—यह चित्त से जानकर कहा जाता है।" चित्त प्रकाशित होता है" यह किससे जानकर कहा जाता है ?" (चित्त स्वय) प्रकाश है या नहीं " (यह बात) किसी द्रष्टा के अभाव में चाहे जितनी कही जाए वह वन्ध्या-पुत्री के विलास की भांति मिथ्या है ।

यदि नास्ति स्वसंवित्तिर्विज्ञान स्मर्यते कथ ।
अन्यानुभूते सबन्धात् स्मृतिराखुविष यथा ॥२४॥

[विज्ञानवादी] यदि विज्ञान (चित्त) का स्वसवेदन न हो तो उसकी स्मृति कैसे ?

[माध्यमिक] (यत ज्ञान और ज्ञेय विषय का ग्राह्यग्राहक) सबंध होता है अत विषय* का अनुभव होने पर (ज्ञान का) स्मरण होता है। इसमें दृष्टान्त मूषिक-विष है ( जो जिस क्षण शरीर में प्रविष्ट होता है जान नहीं पड़ता पर मेघगर्जन से प्रकुपित होकर जान पड़ता है क्योंकि मूषिक-विष और मेघ-गर्जन का प्रकोप्य-प्रकोपक सबध होता है) ।

---

* मूल में अन्य—विज्ञानेतर अर्थात् ज्ञेय विषय ।

प्रत्ययान्तरयुक्तस्य दर्शनात् स्व प्रकाशते ।
सिद्धाञ्जनविधेर्दृष्टो घटो नैवाञ्जनं भवेत् ॥२५॥

[विज्ञानवादी] यत (ऋद्धिमान् लोगो को) प्रत्ययान्तरयुक्त अर्थात् भिन्न देशकालादि में स्थित विज्ञान (=चित्त) का दर्शन (=साक्षात्कार) होता है अत (यह मानना ही पड़ेगा कि विज्ञान का स्वय-सवेदन होता है ।

[माध्यमिक] सिद्धाजन के उपाय से (धरती में गड़ा हुआ खजाने का) घड़ा दिखाई पड़ जाए तो उसे सिद्धाजन नहीं कहा जा सकता। (इसी प्रकार ऋद्धि के द्वारा जिस विज्ञान से जिस विज्ञान का साक्षात्कार होता है वे दोनों एक नहीं है। उनमें एक विषय होता है और दूसरा विषय-विज्ञाता। विषय और उसका विज्ञाता दोनो एक नहीं हो सकते।) †

यथा दृष्ट श्रुत ज्ञात नैवेह प्रतिषिध्यते
सत्यत कल्पनात्वत्र दुःखहेतुर्निवार्यते ॥२६॥

(लोक-व्यवहार में) जो जैसा देखा-सुना-समझा जाता है उसका यहां निषेध नहीं। केवल उसमें परमार्थ की कल्पना (जो लोगोने कर ली हैं) उसका निषेध है क्योंकि वह दुःख का हेतु है।

चित्तादन्या न माया चेन्नाप्यनन्येति कल्प्यते ।
वस्तु चेत् सा कथ नान्या ऽनन्या चेन्नास्ति वस्तुत ॥२७॥
असत्यपि यथा माया दृश्या द्रष्टृ तथा मन ।

(विज्ञानवादियो की) कल्पना के अनुसार माया और चित्त एक नहीं है और न माया चित्त से पृथक् ही है। पर माया यदि परमार्थ सत् होती तो पृथक् क्यों न होती ? यदि (माया चित्त से) अभिन्न मानो जाये (तब तो स्पष्ट ही है कि वह) परमार्थ सत् नहीं । जैसे माया परमार्थ सत् न होने पर भी दृश्य प्रतीत होती है वैसे हो द्रष्टा मन भी (परमार्थ सत् नहीं है फिर भी द्रष्टा प्रतीत होता है) ।

वस्त्वाश्रयश्चेन् ससार सोऽन्यथाकाशवद् भवेत् ॥२८॥

वस्त्वाश्रयेणाभावस्य क्रियावत्त्व कथ भवेत् ।
असत्सहायमेक हि चित्तमापद्यते तव ॥२९॥

ग्राह्यमुक्त यदा चित्त तदा सर्वे तथागता ।
एव हि को गुणो लब्धश्चित्तमात्रे ऽपि कल्पिते ॥३०॥

---

† पंजिकाकार ने यहां पर एक बड़ा ही सुदर श्लोक उद्धृत किया है :—
न बोध्यबोधकाकार चित्त दृष्ट तथागतै ।
यत्र बोद्धा च बोध्यं च तत्र बोधिर्न विद्यते ॥
तथागतो की दृष्टि में चित्त बोध्यस्वरूप और बोधकस्वरूप (दोनों ही अर्थात् उभय लक्षण ) नहीं है। जहां बोधक और बोध्य होते है वहां बोधि नहीं होती।

[विज्ञानवादी] इस संसार का आधार कोई परमार्थसत् (पदार्थ) होना चाहिए (और वह पदार्थ सत् पदार्थ चित्त के अतिरिक्त हो ही क्या सकता है ?) यदि ऐसा न माना जाए तो उसे आकाश जैसा (शून्य) ठहराना होगा। फिर जिसका आधार कोई परमार्थ सत् पदार्थ नहीं है उससे (अर्थ-सिद्धि कर) कार्य कैसे हो सकता है ?

[माध्यमिक] तुम (विज्ञानवादियों के मत में) एकमात्र चित्त ही (परमार्थ सत्) है। साथ में दूसरा कोई (परमार्थ सत् पदार्थ) नहीं है । (इस प्रकार) जब चित्त ग्राह्य (-ग्राहक भाव आदि से) मुक्त सिद्ध हुआ तब सभी (प्राणी) तथागत ही हो गए (और आर्यमार्ग भावना की आवश्यकता न रही) एवं चित्रमात्रता (=विज्ञप्तिमात्रता=विज्ञानमात्रता) की कल्पना से क्या लाभ हुआ ?

मायोपमत्वे ऽपि ज्ञाने कथं क्लेशो निवर्तते ।
यदा मायास्त्रियां रागस्तत्कर्तुरपि जायते ॥३१॥

अप्रहीणा हि तत्कर्तुर्ज्ञेयसंक्लेशवासना ।
तद्दृष्टिकाले तस्यातो दुर्बला शून्यवासना ॥३२॥

शून्यतावासनाधानाद्धीयते भाववासना ।
किंचिन्नास्तीति चाभ्यासात्सापि पश्चात्प्रहीयते ॥३३॥

[विज्ञानवादी] (जगत् को) मायोपम जानने पर भी क्लेश-निवृत्ति कैसे हो सकती है जब कि मायास्त्री के निर्माता का उसमें राग हो जाता है।

[माध्यमिक] उस (माया) स्त्री के निर्माता में ज्ञेयावरण † की वासना बनी रहती है इसीलिए उस (मायास्त्री रूपी पदार्थ के) दर्शन के समय शून्यता की वासना में बल नहीं होता। (पर) शून्यता की वासना जब स्थिर हो जाती है तब वह (मायामय ज्ञेय पदार्थों को) भाव अर्थात् परमार्थ सत् समझने की वासना नष्ट हो जाती है । और वह (शून्यता-वासना) भी किसी (आलंबन) के न होने के कारण अभ्यासवश बाद में नष्ट हो जाती है।

यदा न लभ्यते भावो यो नास्तीति प्रकल्प्यते ।
तदा निराश्रयो भावः कथं तिष्ठेन्मतेः पुरः ॥३४॥

जिस भाव का निषेध कल्पित किया जाता है, वह जब (निःस्वभाव होने के कारण ) नहीं मिलता तब वह भाव बिना आश्रय के मति के समक्ष कैसे ठहर सकता है ?

यदा न भावो नाभावो मतेः संतिष्ठते पुरः ।

---

† ज्ञेयावरण (मूल ज्ञेयसंक्लेश)—ज्ञेय पदार्थ जो मायामय हैं, उन्हें परमार्थ समझने का नाम ज्ञेयावरण है, क्योंकि उससे ज्ञेय पदार्थ का जो वास्तविक रूप निःस्वभावता है, उस पर परदा पड़ जाता है ।

तदान्यगत्यभावेन निरालंबा प्रशाम्यति ॥३५॥

जब बुद्धि के सामने भाव और अभाव (दोनों ही) नहीं रहते तब (उसके सामने) और कोई गति नहीं होती (कि वह स्वयं ठहर सके। इसलिए अन्त में) आलंबन न होने के कारण (वह भी) शांत हो जाती है।

शून्यवाद में बुद्ध पूजा का फल

चिन्तामणिः कल्पतरुर्यथेच्छापरिपूरण. ।
विनेयप्रणिधानाभ्यां जिनबिम्ब तथेक्ष्यते ॥३६॥

जैसे चिन्तामणि और कल्पवृक्ष मनोरथ सफल करते हैं वैसे ही विनेय * और प्रणिधान ** से युक्त तथागत का काय भी (मनोरथ सफल करते) देखा जाता है।

यथा गारुडिक स्तंभ साधयित्वा विनश्यति ।
स तस्मिश्चिरनष्टे ऽपि विषादीनुपशाम्यति ॥३७॥

बोधिचर्यानुरूपेण जिनस्तंभो ऽपि साधित ।
करोति सर्वकार्याणि बोधिसत्त्वे ऽपि निर्वृते ॥३८॥

जैसे विषमंत्रज्ञ (मंत्रों द्वारा) स्तंभ को सिद्ध कर स्वयं मर जाता है पर उसके मरने के चिर बाद तक भी वह (स्तंभ) विष आदि की शांति करता रहता है। (उसी प्रकार) बोधिचर्या की अनुरूपता से सिद्ध किया गया जिनस्तंभ भी बोधिसत्त्व का निर्वाण हो जाने पर भी (प्राणिहित के) सब कार्य करता रहता है।

अचित्तके कृता पूजा कथं फलवती भवेत् ।
तुल्यैव पठ्यते यस्मात् तिष्ठतो निर्वृतस्य च ॥ ३९ ॥

[आक्षेप] चित्त-हीन (केवल प्रतिमा अथवा स्तूप के रूप में की गई बुद्ध की) पूजा कैसे फलदायक हो सकती है (जब कि पूजा का ग्रहण करने वाला कोई है ही नहीं। [समाधान] यत. (शास्त्र में) जीवित और परिनिर्वृत (दोनों प्रकार के बुद्धों की पूजा के फल का) समान भाव से प्रतिपादन है, (अत इस प्रकार के आक्षेप का अवकाश ही कहां ?)

आगमाच्च फलं तत्र संवृत्या तत्त्वतो ऽपि वा ।
सत्यबुद्धे कृता पूजा सफलेति कथं यथा ॥ ४० ॥

जैसे कि सत्य बुद्ध अर्थात् जीवित बुद्ध की पूजा से फल होता है (वैसे ही परिनिर्वृत बुद्ध की पूजा से भी) फल होता है। यह बात आगम से सिद्ध है भले ही वह (फल ) परमार्थ सत् हो या व्यवहार सत्।

---

* विनेय—विनय के योग्य पात्र, शिक्षार्ह।

** प्रणिधान—(प्राणिहितार्थ) संकल्प ।

## आगम-प्रामाण्य

सत्यदर्शनतो मुक्तिः शून्यतादर्शनेन किं ।
न विनानेन मार्गेण बोधिरित्यागमो यतः ॥ ४१ ॥

[सर्वास्तिवादी] मुक्ति सत्यदर्शन से होती है * । शून्यतादर्शन से क्या ?

[माध्यमिक] इस (शून्यतादर्शन के) मार्ग के बिना बोधि-लाभ नहीं होता । ऐसा चूंकि आगम (में कहा) है (इसलिए शून्यतादर्शन सप्रयोजन है ) । **

नन्वसिद्धं महायानं, कथं सिद्धस्त्वदागमः ।
यस्मादुभयसिद्धोऽसौ न सिद्धोऽसौ तवादितः ॥ ४२ ॥

यत्प्रत्यया च तत्रास्था महायानेऽपि तां कुरु ।
अन्योभयेष्टसत्यत्वे वेदादेरपि सत्यता ॥ ४३ ॥

[सर्वास्तिवादी] महायान (-आगम) प्रमाणभूत नहीं है ।

[माध्यमिक] आपका आगम प्रमाणभूत कैसे ?

[सर्वास्तिवादी] क्योंकि उसे (हम) दोनों प्रमाण मानते हैं ।

[माध्यमिक] आपका आगम भी (जब हम दोनों ने माना था तब से) पूर्व प्रमाणभूत न था । जिन कारणों से उसे प्रमाण माना जाता है उन्हीं कारणों से महायान (आगम) को भी प्रमाण मानना चाहिए (और आगम को प्रमाण मानने में चार ही कारण हैं—वह अर्थ का होना चाहिए, अनर्थ का नहीं, वह धर्म का होना चाहिए, अधर्म का नहीं, उसे क्लेशनाशक होना चाहिए, क्लेशवर्द्धक नहीं, उसे शांति (निर्वाण) की महिमा बढ़ानी चाहिए और अशांति (संसार) की महिमा घटानी चाहिए †। अभिप्राय यह है कि उसे सुभाषित होना चाहिए और जो भी सुभाषित है वह सब बुद्धवचन ही है ×।) और यदि (इस पारस्परिक विवाद के कारण ) हम दोनों के अतिरिक्त औरों को जो इष्ट

---

* क्लेशप्रहाणमाख्यातं सत्यदर्शनभावनात् ( अभिधर्म कोश ६। १a-b )

** "स भाव एवोऽहम्" इति द्वयोरन्तयोः सक्तः । यश्च द्वयोरन्तयोः सक्तः, तस्य नास्ति मोक्षः । [पंजिका (में उद्धृत प्रज्ञापारमितावचन) पृष्ठ ४२८] ।

† चतुर्भिः कारणैः प्रतिभानं सर्वबुद्धभाषितं वेदितव्यं । कतमैश्चतुर्भिः । इह प्रतिभानमर्थोपसंहितं भवति नानर्थोपसंहितं । धर्मोपसंहितं भवति नाधर्मोपसंहितं । क्लेश-प्रहायकं भवति न क्लेशविवर्धकं । निर्वाणगुणानुशंसदर्शकं भवति न संसारगुणानुशंसदर्शकं । [पंजिका पृष्ठ ४२१—२२ ]

× यत् किंचित् सुभाषितं सर्वं तद् बुद्धभाषितम् । [वही पृष्ठ ४२२]

है उसे प्रमाण माना जाए तो वेद आदि को भी प्रमाण मानना होगा ।

सविवाद महायानम्, इति चेदागम त्यज ।
तीर्थिकै. सविवादत्वात्स्वै परैश्चागमान्तर ॥ ४४ ॥

शासन भिक्षुतामूल भिक्षुतैव च दु स्थिता ।
सावलबनचित्तानां निर्वाणमपि दु स्थित ॥ ४५ ॥

क्लेशप्रहाणान्मुक्तिश्चेत् तदनन्तरमस्तु सा ।
दृष्ट च तेषु सामर्थ्यं निक्लेशस्यापि कर्मण ॥ ४६ ॥

तृष्णा तावदुपादान नास्ति चेत् सप्रधार्यते ।
किमक्लिष्टापि तृष्णापि नास्ति समोहवत् सती ॥ ४७ ॥

वेदनाप्रत्यया तृष्णा वेदनषा च विद्यते ।
सालबनेन चित्तेन स्यातव्य यत्र तत्र वा ॥ ४८ ॥

[सर्वास्तिवादी] महायान (–आगम का प्रामाण्य) विवादग्रस्त है ।

[माध्यमिक] यदि ऐसी बात है तो (अपने) आगम का त्याग करो क्योंकि उस पर तीर्थिकों (अबौद्धों) को विवाद है । (और नानानिकायभिन्न दूसरे बौद्ध) आगमों को (भी छोड़ो) क्योंकि स्वकीय और परकीय (निकायों का एक दूसरे से तथा एक ही निकाय में भी अवान्तर भेदों के कारण विवाद रहता ही है) । (इस प्रकार जिस) भिक्षुता अर्थात् भिन्नक्लेशता † को जड़ पर धर्म (का वृक्ष स्थित) है वही जब उखड़ गई अर्थात् शून्यता दर्शन के बिना जब क्लेश की हानि न हो सकी (और) चित्त (किसी न किसी) आलबन में बधा रह गया तब निर्वाण भी असभव ही रहा । (इसके अतिरिक्त सत्य दर्शन के द्वारा) क्लेशों का नाश होने से मुक्ति होती है––यदि ऐसा मान भी लें तो उस (मुक्ति) को तदनन्तर अर्थात् क्लेशनाश के अनन्तर ही होना चाहिए (पर वह होती नहीं, क्योंकि अर्हत् अगुलिमाल ओर महामौद्गल्यायन आदि को) क्लेशरहित भी कर्म का फल भोगते देखा गया है । (किं च) निश्चय से यह मानना कि (अर्हतों में) तृष्णा जो कि उपादान (–पुनर्जन्म का कारण) है, नहीं रहती (ठीक नहीं) । (क्योंकि इन अर्हतों में क्लेशरहित अज्ञान की भांति क्या क्लेशरहित

† भिक्षु शब्द की अनेक व्युत्पत्तिया हैं––भयमीक्षते इति भिक्षु । भिक्षते इति भिक्षु । भिन्नक्लेश इति भिक्षु इत्यादि । यहा भिन्नक्लेश इति भिक्षु––यह व्युत्पत्ति अभिप्रेत है ।

तृष्णा भी नहीं रहती ? (अवश्य रहती है। क्योंकि) वेदना के कारण तृष्णा होती है और इन (अर्हतों को) वेदना होती है। (अत. जब तृष्णा नष्ट न हुई तब) चित्त को (किसी न किसी) आलंबन से (बंधकर) जहा-तहा रहना ही होगा (फिर मुक्ति कहा ?)। (अत मुक्तिसाधन होने से महायान-आगम की प्रमाणता संदेह से परे है)।

## शून्यता की सप्रयोजनता

विना शून्यतया चित्त बद्धमुत्पद्यते पुन ।
यथासंज्ञिसमापत्तौ भावयेत्तेन शून्यता ॥ ४९ ॥

शून्यता (–भावना) के विना चित्त बंधा रहता है (अतएव) उसका संतान (समाधि में रुक कर) फिर चलने लगता है जैसा कि असंज्ञिसमापत्ति * में (चित्त चैतसिक धर्मनिरुद्ध हो जाते हैं पर समाधि भंग होते ही उनका संतान फिर चलने लगता है) अतएव (चित्तसंतान के पूर्ण निरोध के लिए) शून्यता की भावना करनी चाहिए।

यत् सूत्रे ऽवतरेद् वाक्य तच्चेद् बुद्धोक्तमिष्यते ।
महायान भवत्सूत्रै प्रायस्तुल्य न कि मत ॥ ५० ॥
एकेनागम्यमानेन सकल यदि दोषवत्
एकेन सूत्रतुल्येन कि न सर्वं जिनोदित ॥ ५१ ॥
महाकाश्यपमुख्यैश्च यद् वाक्य नावगाह्यते ।
तत्त्वयानवबुद्धत्वादग्राह्य क करिष्यति ॥ ५२ ॥

जो वाक्य सूत्र में होता है, वही यदि बुद्धवचन है तो महायान(–सूत्र) जो प्राय आपके सूत्रों जैसे हैं उन्हें (बुद्धवचन के रूप में प्रमाण) क्यों नहीं मानते? एक असंगति के कारण यदि सबको असंगत माना जाए तो समूचे बुद्धवचन को एक सूत्र के समान क्यों नहीं मानते ? जिस (बुद्ध–) वचन को महाकाश्यप प्रमुख (अर्हत्) न समझ सके, वह यदि तुम्हारी समझ में न आए तो (इतने भर से) उसे कौन अग्राह्य मानेगा ?

## प्रज्ञाकरमति की टिप्पणी

[ये तीन श्लोक किसी के द्वारा प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं क्योंकि विषय के अनुसार ठीक स्थान में नहीं हैं। शास्त्र की प्रमाणता- अप्रमाणता पर इनमें विचार किया गया है, जिस विवाद का कि 'शासन भिक्षुता' (९। ४५–४८) आदि में निरूपण हो चुका है। और यत यहां तो दूसरा ही प्रसंग (अर्थात् शून्यता भावना का प्रयोजन) चल रहा था अत. इन (श्लोकों) को पहले ही कहना चाहिए था। पर एक विषय समाप्त कर दूसरे विषय का निरूपण करना

* एक समाधि जिसमें चित्त सर्वथा निष्क्रिय रहता है,। द्रष्टव्य अभिधर्मकोश ३। ४१–४२।

तथा फिर उसे छोड़ कर पुराने विषय का आरंभ करना ग्रंथकार की कुशलता नहीं प्रकट करता। (किं च) यन्मन्यध-आदि (९।४३,४४) दो श्लोकों में जिस बात को कहा गया था, उसी को यहां दोहराया गया है (अतः पुनरुक्ति दोष भी है)। (इसके अतिरिक्त) "महाकाश्यपमुख्यैः" इस श्लोक में अश्लीलता है (क्योंकि एक महान् पुरुष पर आक्षेप है)। इस प्रकार निश्चय ही ये श्लोक ग्रन्थकार की रचना नहीं हैं। अतः यह (अंश) क्षेपक ही है।]

सक्तित्रासान्तनिर्मुक्त्या * संसारे सिध्यति स्थितिः।
मोहेन दुःखिनामर्थे शून्यताया इदं फलम् ॥ ५३ ॥

शून्यता का (ही) यह फल है कि (बोधिसत्त्व) व्यवहार (सत्य के आश्रय) द्वारा दुःखियों के निमित्त संसार में रहता है (पर वह स्वयं) आसक्ति के अन्त से मुक्त होता है (क्योंकि उसे किसी विषय की कल्पना नहीं होती जिसमें आसक्त हो) और त्रास के अन्त से (भी) मुक्त होता है (क्योंकि वह उच्छेद की कल्पना नहीं करता, जिससे उसे भय हो। एवं वह दोनों अन्तों में न फंस मध्यमा प्रतिपत् का ही अभ्यास करता है)।

तदेवं शून्यतापक्षे दूषणं नोपपद्यते।
तस्मान्निर्विचिकित्सेन भावनीयैव शून्यता ॥ ५४ ॥

क्लेशज्ञेयावृतितमःप्रतिपक्षो हि शून्यता।
शीघ्रं सर्वज्ञताकामो न भावयति तां कथम् ॥ ५५ ॥

यद् दुःखजननं वस्तु त्रासस्तस्मात्प्रजायताम्।
शून्यता दुःखशमनी ततः किं जायते भयम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार शून्यता के पक्ष में दोष मढ़ना युक्ति-संगत नहीं। अतः सन्देह छोड़कर शून्यता की भावना करनी ही चाहिए। शून्यता क्लेशावरण और ज्ञेयावरण के अन्धकार को नाश करती है। जिसे सर्वज्ञता प्राप्त करने की इच्छा है वह इसकी भावना क्यों नहीं करता? जिस वस्तु से दुःख होना हो उससे कोई डरे तो डरे पर शून्यता तो दुःख को दूर करती है उससे भय खाना कैसा?

## अहंकार का विषय

### (१) शरीर अहंकार का विषय नहीं

यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किंचन।
अहमेव न किंचिच्चेद् भयं कस्य भविष्यति ॥ ५७ ॥
दन्तकेशनखा नाहं नास्थि नाप्यस्मि शोणितम्।
न सिंघाणं न च श्लेष्मा न पूयं लसिकापि वा ॥ ५८ ॥

* पाठान्तर—सक्तित्रासात्त्वनिर्मुक्त्या। इस पाठ को मान कर प्रकरणानुकूल अर्थ नहीं बैठता। पञ्जिकाकार के सामने दोनों पाठ थे। भोटानुवाद 'सक्तित्रासान्त-निर्मुक्त्या' पाठ को मानकर किया गया है।

माहं वसा न च स्वेदो न मेदो ऽन्त्राणि नाप्यहम् ।
न चाहमन्त्रनिर्गुण्डी गूथमूत्रमहं न च ॥ ५९ ॥
नाहं मांसं न च स्नायु नोष्मा वायुरहं न च ।
न च छिद्राण्यहं नापि षड् विज्ञानानि सर्वथा ॥ ६० ॥

यदि मैं कुछ होऊ तो जिस किसी से भय हो सकता है। यदि मैं ही कुछ नहीं, तो भय किसे होगा? मैं दांत, केश, नख नहीं हू। अस्थि नहीं हूँ। लहू भी नहीं हूँ। नकमैल नहीं हूँ और थूक नहीं हूँ। पीब नहीं हूँ, (घाव को) लस भी नहीं हूँ। मै वसा नहीं हूँ और स्वेद नहीं हूँ। मेद नहीं हूँ। मैं आंतें भी नहीं हूँ। और मैं अत्रनिर्गुडी नहीं हूँ। मैं मल और मूत्र नहीं हूँ। मैं मास नहीं हूँ। नस नहीं हूँ। गर्मी नहीं हूं। और मैं वायु नहीं हूँ। मैं छिद्र नहीं हूँ और न किसी प्रकार छह विज्ञान हूँ।

## (२) ज्ञान अर्थात् चेतन अहंकार का विषय नहीं

शब्दज्ञानं यदि तदा शब्दो गृह्येत सर्वदा ।
ज्ञेयं विना तु किं वेत्ति येन ज्ञानं निरुच्यते ॥ ६१ ॥
अजानानं यदि ज्ञानं काष्ठं ज्ञानं प्रसज्यते ।
तेनासंनिहितज्ञेयं ज्ञानं नास्तीति निश्चयः ॥ ६२ ॥
तदेव रूपं जानाति तदा किं न शृणोत्यपि ।
शब्दस्यासंनिधानाच्चेत् तत्तस्तज्ज्ञानमप्यसत् ॥ ६३ ॥
शब्दग्रहणरूपं यत् तद्रूपग्रहणं कथं ।
एकः पिता च पुत्रश्च कल्प्यते न तु तत्त्वतः ॥ ६४ ॥
सत्त्वं रजस्तमो वापि न पुत्रो न पिता यतः ।
शब्दग्रहणयुक्तस्तु स्वभावस्तस्य नेक्षते ॥ ६५ ॥
तदेवान्येन रूपेण नटवत् सो ऽप्यशाश्वतः ।
स एवान्यस्वभावश्चेदपूर्वेयं तदेकता ॥ ६६ ॥
अन्यद्रूपमसत्यं चेन्निजं तद्रूपमुच्यताम् ।
ज्ञानता चेत् ततः सर्वपुंसामैक्यं प्रसज्यते ॥ ६७ ॥
चेतनाचेतने चैक्यं तयोर्येनास्तिता समा ॥
विशेषश्च यदा मिथ्या कः सादृश्याश्रयस्तदा ॥ ६८ ॥

[माध्यमिक] (अहंकार का विषय ज्ञान नहीं है। कल्पना कीजिए कि) शब्दज्ञान अहंकार का विषय है पर (यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा होता) तो सदा शब्द सुन पड़ना चाहिए था (ज्ञान उसे कहते हैं जो किसी ज्ञेय या ज्ञातव्य विषय को जाने) जब ज्ञेय नहीं तब जानने के लिए रहा ही क्या कि (हम) ज्ञान को (ज्ञान) कहें। यदि ज्ञान बिना (कुछ) जाने ही (बना) रहे तब तो काठ भी ज्ञान हो सकेगा। अत निश्चय से ज्ञान (कभी भी) ज्ञेय से असंबद्ध नहीं रहता। (ज्ञान, जो शब्द

जानता है) वही जब रूप जानने लगता है तब सुनता क्यों नहीं? यदि (वह शब्द ज्ञान) शब्द के पास में न होने के कारण नहीं सुनता तो वह असत् (ही) है। जो (ज्ञान) शब्दग्राही वह रूपग्राही कैसे?

[साख्यानुयायी] (जैसे) एक (व्यक्ति किसी के सबध से) पिता और (किसी के सबध से) पुत्र होता है (उसी प्रकार एक ही ज्ञान शब्द के सबध से शब्दग्राही और रूप के सबध से रूपग्राही होता है।

[माध्यमिक] यह कल्पना ही ठहरी तत्त्व (परमार्थ) की बात न हुई। (क्योंकि तुम साख्य मत वालो के विचार से परमार्थ रूप में जो ) सत्त्व, रजस्, तमस् तत्त्व है वे न तो पिता है और न पुत्र। (किं च जो ज्ञान रूपग्राही) है उसका स्वभाव शब्द-ग्राही नहीं प्रतीत होता। (यदि) वही (शब्दज्ञान) नट की भाति बहुरूपिया बनकर (रूपग्राही भी माना जाए तो) उसे अनित्य मानना पडेगा (क्योंकि वह नियत स्वभाव वाला न रहा)। उसी (एक ज्ञान में) स्वभाव-भेद माना जाए तो यह एकता अपूर्व (ही) हुई (जिसे कदाचित् ही कोई समझ सके)।

[साख्यानुयायी] (ज्ञान एक है। उसे जब शब्द या रूप आदि की उपाधियो से युक्त देखते है तब वह उपाधियुक्त जिस दूसरे रूप को ग्रहण करता है वह) दूसरा रूप सत्य नहीं होता।

[माध्यमिक] यदि ऐसा मानो तो बताओ कि उसका अपना रूप क्या है? यदि 'ज्ञानता' को (उसका अपना रूप मानो) तो सब पुरुषों (=आत्माओं) में (भेद न रहने से) वे एक हो गई ( अनेक न रहीं, पर आत्माए तुम्हारी तत्त्वचर्या में है अनेक)। (किं च इस युक्तिवाद के ढग पर हम) चेतन और अचेतन को भी एक (कह सकते हैं) क्योंकि दोनो में अस्तित्व (—नामक) समान (धर्म) पाया जाता है। (पर) जब विशेष मिथ्या ही हुआ तो समानता ठहरेगी कहा? (अर्थात् भेद होने पर ही सादृश्य सभव है। भेद के मिथ्या होने से सब कुछ एक ही हो जाएगा फिर प्रकृति-पुरुष आदि विभाग सभव ही कैसे होगा? एव ज्ञान-स्वरूप आत्मा अहकार का विषय नहीं हो सकता)।*

<u>अचेतन अहंकार का विषय नहीं</u>

अचेतनश्च नैवाहमाचैतन्यात् पटादिवत्।
अथ ज्ञश्चेतनायोगादज्ञो नष्ट प्रसज्यते ॥ ६९ ॥

---

*यह समूचा ऊहापोह साख्य मत के अनुसार आत्मा को ज्ञानस्वरूप या [चे]तन मानकर किया गया है।

अथाविकृत एवात्मा चैतन्येनास्य किं कृतं ।
अज्ञस्य निष्क्रियस्यैवमाकाशस्यात्मता मता ॥ ७० ॥

न कर्मफलसंबन्धो युक्तश्चेदात्मना विना ।
कर्म कृत्वा विनष्टे हि फलं कस्य भविष्यति ॥ ७१ ॥

द्वयोरप्यावयो सिद्धे भिन्नाधारे क्रियाफले ।
निर्व्यापारश्च तत्रात्मेत्यत्र वादो वृथा ननु ॥ ७२ ॥

हेतुमान् फलयोगीति दृश्यते नैष संभव ।
संतानस्यैक्यमाश्रित्य कर्ता भोक्तेति देशित ॥ ७३ ॥

[माध्यमिक] अहं (कार का विषय) अचेतन (भी) नहीं है, जैसे कि वस्त्र आदि अचेतन होने के कारण (ही अहंकार का विषय नहीं होते)।

[नैयायिक] चेतना के योग से (अचेतन आत्मा भी) ज्ञाता होता है (अत वस्त्र आदि की भांति नहीं है कि अहंकार का विषय न बन सके। क्योंकि वस्त्र आदि में चेतना कभी भी नहीं देखी जाती।

[माध्यमिक] (यह ठीक नहीं क्योंकि मूर्छा आदि में आत्मा) ज्ञाता नहीं होता है (अत वह चेतना का योग न होने से उसे) नष्ट मानना होगा।

[नैयायिक] आत्मा के नष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि वह सदा अविकारी ही रहता है।

[माध्यमिक] (यह ठीक नहीं) क्योंकि जब आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता तब चैतन्य उसका कर ही क्या सकता है (=उसे ज्ञाता बना ही कैसे सकता है)? इस प्रकार तो आकाश को भी आत्मा मानना पड़ेगा क्योंकि (तुम नैयायिकों के आत्मा की भांति ही वह) निकम्मा और ज्ञानहीन है।

[नैयायिक] (कर्म और उसके फल को तुम बौद्ध लोग भी मानते हो पर आत्मा नहीं मानते) बिना आत्मा के कर्म और फल किसी में बंध सकें यह संभव नहीं। क्योंकि कर्म करके (क्षणिक् होने के कारण जब कर्ता) नष्ट हो गया तो फल होगा ही किसे ?

[माध्यमिक] हम दोनो के (मत में) कर्म और फल एक आधार में नहीं सिद्ध होते (क्योंकि हमारे यहां कर्ता क्षणिक् ही है, जो कर्म करता है, वह भोगता नहीं। और तुम्हारे यहां

कर्म करने वाला शरीर है। जो शरीर कर्म करता है वह शरीर (परलोक में अथवा यहां फिर जन्म लेकर) फल नहीं भोगता)।

[नैयायिक] (शरीर के भिन्न-भिन्न होने पर भी आत्मा तो वही रहता है। वह एक शरीर मे कर्ता है और दूसरे शरीर में भोक्ता। अत हमारे मत में कर्म और फल का आधार एक ही है।)

[माध्यमिक] (तुम्हारे मत में) आत्मा तो निष्क्रिय होता है, अत (उसके कर्ता या भोक्ता की) बात चलाना व्यर्थ ही है। (हा, हमारे मत में क्षण-क्षण बदलने वाले जीव का जो) सतान अर्थात् प्रवाह है, उसको एक मान लेने से (एक आधार में) कर्ता और भोक्ता होना कहा जा (सकता) है। (वस्तुत) हेतुमान् (=कर्ता) और फलयोगी (=भोक्ता) का (एक होना) सभव नहीं दीखता।†

विज्ञानवादियो के अनुसार चित्त को परमार्थ सत् मानने पर भी वह अहकार का विषय नहीं हो सकता।

अतीतानागत चित्त नाह तद्धि न विद्यते।
अथोत्पन्नमह चित्त नष्टेऽस्मिन् नास्त्यह पुन ॥ ७४ ॥

यथैव कदलीस्तम्भो न कश्चिद् भागश कृत।
तथाहमप्यसद्भूतो मृग्यमाणो विचारत ॥ ७५ ॥

यदि सत्त्वो न विद्यते कस्योपरि कृपेति चेत्।
कार्यार्थमभ्युपेतेन यो मोहेन प्रकल्पित ॥ ७६ ॥

कार्यं कस्य न चेत् सत्त्व सत्यमीहा तु मोहत।
दुखव्युपशमार्थं तु कार्यमोहो न वार्यते ॥ ७७ ॥

दुखहेतुरहकार आत्ममोहात्तु वर्धते।
ततोऽपि न निवर्त्यश्चेद् वर नैरात्म्यभावना ॥ ७८ ॥

[माध्यमिक] (विज्ञानवादियो के अनुसार चित्त को परमार्थ मान लेने पर भी) चित्त जो अतीत का है तथा जो अनागत का है वह अहकार का विषय नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो वस्तुत है ही नहीं। रही बात वर्तमान चित्त की (सो वह भी अहकार का विषय हो नहीं सकता क्योंकि दूसरे क्षण में) जब वह निरुद्ध हो जाएगा (तो उसके साथ) अहकार नहीं रहेगा। जैसे कदली-स्तभ को उधेडते जाने

† यह समूचा विचार न्याय-वैशेषिक-समत आत्मा को मानकर किया गया है। इनके मत में आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं प्रत्युत ज्ञान का अधिकरण होता है।

पर अन्त में कुछ नहीं रहता, वैसे ही विचार से खोज करने पर "अहम्" भी कुछ नहीं ठहरता।

[प्रतिपक्षी] यदि (अह अर्थात्) सत्त्व नहीं, तो (बोधिसत्त्व की) करुणा किस पर ?

[माध्यमिक] पुरुषार्थ-सिद्धि के लिए मान लिये गये सवृति (–सत्य) के द्वारा जिस (सत्त्व की) कल्पना कर ली गयी है (उसी पर बोधिसत्त्व की करुणा होती है)।

[प्रतिपक्षी] जब सत्त्व है ही नहीं, तो पुरुषार्थ किसका ?

[माध्यमिक] सत्य (कहते हो, न कहीं कोई सत्त्व है और न उसका पुरुषार्थ) ! पर मोह के कारण (लोग पुरुषार्थ-सिद्धि में) प्रवृत्त होते हैं और पुरुषार्थ (=परमतत्त्वाववोध) के लिए (साधन-भूत) इस मोह का प्रयोजन यत दुःखनिवृत्ति है अत उसका निषेध (हम माध्यमिक लोग) नहीं करते।

[प्रतिपक्षी] पुरुषार्थसाधक मोह का जैसे निषेध नहीं करते, वैसे आत्मा का भी निषेध न करो (तो हमारा-तुम्हारा झगडा न रहेगा।)

[माध्यमिक] (ऐसा भी हम कर देते पर विवशता है क्योंकि) आत्म-मोह से अहकार बढ़ता है और वही दुःख का कारण है (अत दुःख के कारण को मार भगाना ही पडेगा)।

[प्रतिपक्षी] आत्मदर्शन से अहकार दूर हो जाता है, अतः अहकार दूर करने के लिए आत्मा के निषेध की आवश्यकता नहीं।)

[माध्यमिक] उस (आत्मदर्शन) से भी (अहकार की) निवृत्ति सभव नहीं है (आत्मदृष्टि होने से आत्मस्नेह तथा परद्वेष होगा। और कभी भी अहता और ममता से पिंड नहीं छूटेगा) अत (अहकार दूर करने का उपाय) नैरात्म्य भावना से बढ़ कर (और कोई) नहीं है।

कायस्मृत्युपस्थान

कायो न पादौ न जघा नोरू काय. कटिर्न च ।
नोदर नाप्ययं पृष्ठ नोरो बाहू न चापि स ॥ ७९ ॥

न हस्तौ नाप्यय पार्श्वौ न कक्षौ नांसलक्षण. ।
न ग्रीवा न शिर काय कायो ऽत्र कतरः पुनः ॥ ८० ॥

न पैर काय है, न जांघ। न उरु काय है और न कटि। न उदर काय है, न पीठ। न वक्षस्थल काय है, न उदर और न बाहु। न हाथ काय है न पसली न कांख, और न कंधा (ही काय–) लक्षण (वाला) है। न गर्दन काय है न शिर। तब यहां काय कौन है ? *

---

* जो शब्द मूल में द्विवचन है उनका यहा एक वचन में अनुवाद किया गया है। तथा "अत्र" जो यहा कर्यांतक है, उसका काय शब्द से।

प्रसगवश अवयवी की समीक्षा

[नैयायिक अवयवों से भिन्न, उन्हीं अवयवो में समवाय सबध से स्थित एक अवयवी की कल्पना करते हैं। उनके अनुसार काय एक अवयवी है, जो अपने अवयव हाथ इत्यादि से भिन्न है। यहां अवयवों और अवयवी की सह-स्थिति के सबध में दो मत हो सकते हैं। प्रथम यह कि वह एक अवयवी अपने किसी एक अश से अवयवो में रहता है। द्वितीय यह कि वह समूचा का समूचा एक अवयवी अवयवों में रहता है। ये दोनों मत सदोष है। क्योंकि--]

यदि सर्वेषु कायोऽयमेकेदेशेन वर्तते ।
अशा अशेषु वर्तन्ते स च कुत्र स्वयं स्थित ॥ ८१ ॥

सर्वात्मना चेत् सर्वत्र स्थित कायः करादिषु ।
कायस्तावन्त एव स्युर्यावन्तस्ते करादय ॥ ८२ ॥

यदि सब (अवयवों) में (अपने) एक अश से काय रहता है तो (उस काय के) अश तो अवयवो में रहे पर वह स्वय कहां रहा? यदि वह समूचा का समूचा काय सब हाथ आदि (अवयवो) में रहता है तो जितने हाथ आदि अवयव हुए उतने ही काय हुए। (फलत अनेकत्व से घबरा कर एकत्व के मोह के कारण जिस अवयवी की कल्पना की वह अनेकत्व अवयवी को भी ले डूबा)।

नैवान्तर्न बहि काय कथ काय करादिषु ।
करादिभ्य पृथग् नास्ति कथ नु खलु विद्यते ॥ ८३ ॥

तन्नास्ति कायो मोहात्तु कायबुद्धि करादिषु ।
सनिवेशविशेषेण स्थाणौ पुरुषबुद्धिवत् ॥ ८४ ॥

(अतएव) भीतर (मांस रुधिर आदि) न काय है न बाहर (अवयवी ही काय सिद्ध हुआ) फिर हाथ आदि में काय (की प्रतिष्ठा) कैसे? इन (कारणों) से काय अस्तिसिद्ध † पदार्थ न ठहरा। भ्रमवश हाथ आदि में काय भातिसिद्ध पदार्थ (अवश्य) है जैसा कि थून्हें में आकार-प्रकार की विशेषता के कारण पुरुष का भातिसिद्ध* बोध होता है।

यावत् प्रत्ययसामग्री तावत् काय पुमानिव ।
एवं करादौ सा यावत् तावत्कायोऽत्र दृश्यते ॥ ८५ ॥

जब तक कारण-सामग्री रहती है तब तक काय पुरुष (स्त्री आदि) जैसा

---

†अस्तिसिद्ध और भातिसिद्ध शब्दों का प्रयोग यहां वास्तविक और भ्रान्त के अर्थ में किया गया है। कूप का जल अस्तिसिद्ध है क्योंकि उससे नहाने-पीने आदि की अर्थक्रिया हो सकती है। मरीचिका का जल भातिसिद्ध है क्योंकि उससे अर्थक्रिया नहीं हो सकती। लोक में जो सभी पदार्थ अर्थक्रियाकारी होने से अस्ति-सिद्ध हैं, वे योगियों की दुनिया में भातिसिद्ध हैं, क्योंकि जिस शांति-प्राप्ति रूपी अर्थक्रिया को वे चाहते हैं, वह उससे नहीं होती।

(प्रतीत) होता है। इसी प्रकार जब तक वह (कारण सामग्री) हाथ आदि में रहती है तब तक वहा काय देख पडता है।

(कायः पुमानिव के स्थान में काष्ठं पुमानिव पाठान्तर है। इसके अनुसार अर्थ यों होगा —
जब तक कारण-सामग्री रहती है तब तक जैसे काठ (का थून्हा) पुरुष जान पडता है, वैसे ही हाथ आदि में जब तक वह (कारण-सामग्री) रहती है तब तक वहा काय दिखाई पडता है)।

प्रसगवश परमाणुओ की समीक्षा

एवमगुलिपुंजत्वात्पादोऽपि कतरो भवेत्।
सोऽपि पर्वसमूहत्वात् पर्वापि स्वांशभेदतः ॥ ८६ ॥

अशा अप्यणुभेदेन सोऽप्यणुर्दिग्विभागत.।
दिग्विभागो निरंशत्वाद् आकाश तेन नास्त्यणु. ॥ ८७ ॥

इस प्रकार उगलियो के समूह के अतिरिक्त पैर भी कौन सा है? वह (उगलियों का समूह ) भी पोरों के समूह के अतिरिक्त (कुछ नहीं है) और पोर भी अपने अवयव भागों के अतिरिक्त (कुछ नहीं है)। (पोर के) अंश परमाणुओं में बट जाते हैं तथा परमाणु भी दिशाओ में विभक्त हो जाता है। दिग्विभाग आकाश या शून्य है क्योंकि उसका कोई अंश नहीं। अत. परमाणु असत् ही है।

एव स्वप्नोपमे रूपे को रज्येत विचारक।
कायश्चैव यदा नास्ति तदा का स्त्री पुमाश्च क. ॥ ८८ ॥

इस प्रकार इस स्वप्नोपम रूप में किस विचारवान् की आसक्ति हो सकती है? और इस प्रकार जब काय ही नहीं रहा तो कौन स्त्री और कौन पुरुष?

वेदनास्मृत्युपस्थान

यद्यस्ति दु.ख तत्त्वेन प्रहृष्टान् किं न बाधते।
शोकाद्यार्ताय मृष्टादि सुखं चेत् किं न रोचते ॥ ८९ ॥

यदि दुख परमार्थसत् है तो जो मौज में है, उन्हें क्यो नहीं सताता? यदि सुख (परमार्थसत् है ) तो जो शोक आदि से पीड़ित हैं उन्हें मृष्ट अर्थात् स्वादु पदार्थ आदि क्यो नहीं भाते?

बलीयसाभिभूतत्वाद् यदि तन्नानुभूयते।
वेदनात्वं कथ तस्य यस्य नानुभवात्मता ॥ ९० ॥

यदि वह (दुख या सुख) प्रबल (सुख या दु.ख) द्वारा दबा हुआ होने के कारण अनुभव में नहीं आता तो जो अनुभव में नहीं आता उसमें वेदनीयता अर्थात् अनुभूत होने की योग्यता कैसे?

अतिसूक्ष्मतया दुःखं स्थौल्यं तस्य हृतं ननु ।
तुष्टिमात्राऽपरा चेत् स्यात् तस्मात् साप्यस्य सूक्ष्मता ॥ ९१ ॥

(सुख के समय) दुःख अत्यन्त सूक्ष्म रूप में रहता है। केवल उसकी स्थूलता (=प्रबलता) चली जाती है। [यह ठीक नहीं क्योंकि दुःख की सूक्ष्मता का अनुभव सुखावस्था में नहीं होता] । यदि लवलेश सुख को (दुःख की सूक्ष्मता माना जाये (तो भी ठीक न हो) क्योंकि वह तो (वस्तुत) इस (सुख) की सूक्ष्मता हुई ।

विरुद्धप्रत्ययोत्पत्तौ दुःखस्यानुदयो यदि ।
कल्पनाभिनिवेशो हि वेदनेत्यागत ननु ॥ ९२ ॥

यदि विरुद्ध कारणों की उपस्थिति के कारण (सुखावस्था में) दुःख उत्पन्न नहीं होता तो (इससे अभिप्राय यह) निकला कि वेदना केवल (मन की) कल्पना का लगाव भर है ।

अतएव विचारोऽयं प्रतिपक्षोऽस्य भाव्यते ।
विकल्पक्षेत्रसंभूतध्यानाहारा हि योगिन ॥ ९३ ॥

इसीलिए इस (कल्पना के अभिनिवेश) के विरोधी विचार की यहां चर्चा है (क्योंकि विना कल्पना दूर हुए तत्त्वाधिगम नहीं होता) । [ किं च ] योगी ध्यानाहार अर्थात् ध्यान के प्रीति-सुख से जीते हैं (और वह ध्यानाहार) उत्पन्न होता है विकल्प अर्थात् कल्पना के क्षेत्र में (फलत. योगि-सुख मन की कल्पना ही है, अतः सांसारिक लोगो की वेदना की भाति योगियो की वेदना भी मन का खेल है। एव सिद्ध हुआ कि वेदना कोई परमार्थसत् पदार्थ नहीं । )

[ वेदना केवल मन की कल्पना है, इस बात को प्रकारान्तर से सिद्ध करने के लिए वेदना की उत्पत्ति के कारणो का यहा खडन करना है। मन, विषय ग्राहक इन्द्रिय तथा विषय इन तीनो के एकत्र होने से स्पर्श होता है और स्पर्श से वेदना होती है। इस त्रिकसन्निपात–स्पर्श–वेदना का कार्य कारण भाव सभव नहीं। क्योंकि —]

सान्तराविन्द्रियार्थौ चेत् संसर्ग कुत एतयो ।
निरन्तरत्वे ऽप्येकत्वं कस्य केनास्तु सगति. ॥ ९४ ॥

इन्द्रिय और अर्थ के बीच यदि अन्तर रहता है तो उनका ससर्ग कैसे? यदि अन्तर नहीं रहता तो तब तो दोनों एक ही हो गये, फिर किसी से किसी का सयोग हो तो कैसे ?

नाणोरणौ प्रवेशोऽस्ति निराकाश समश्च स ।
अप्रवेशे न मिश्रत्वममिश्रत्वे न सगति ॥ ९५ ॥

(पदार्थ परमाणुपुंज है और) परमाणु का परमाणु में प्रवेश सभव नहीं क्योंकि वह निरवकाश और निर्भाग होता है। प्रवेश के विना मिलना सभव नहीं और विना मिले ससर्ग सभव नहीं ।

निरंशस्य च संसर्गः कथं नामोपपद्यते ।
संसर्गे च निरंशत्वं यदि नाम निदर्शय ॥ ९६ ॥

निरवयव (पदार्थ) का संसर्ग हो ही कैसे सकता है ? यदि निरवयव के संसर्ग का दृष्टान्त हो तो उसे उपस्थित करो।

विज्ञानस्य त्वमूर्तत्वात् संसर्गो नैव युज्यते ।
समूहस्याप्यवस्तुत्वाद् यथा पूर्वं विचारितं ॥ ९७ ॥

मन निराकार है। उसका किसी से संसर्ग हो नहीं सकता। (दृश्यमान प्रत्येक साकार पदार्थ परमाणुओं का) समूह है और वह भी परमार्थसत् नहीं, जैसा कि पहले (९।८६, ८७) विचार कर चुके हैं।

तदेवं स्पर्शनाभावे वेदनासंभवः कुतः ।
किमर्थमयमायासः बाधा कस्य कुतो भवेत् ॥ ९८ ॥

इस प्रकार (मन, इन्द्रिय और अर्थ का परस्पर) संसर्ग संभव नहीं, फिर वेदना उत्पन्न हो तो कैसे ? (और जब वेदना ही नहीं रही तो) यह दौड़-धूप किस लिए ? (यहां) बाधा ही किसे किससे हो सकती है ?

यदा न वेदकः कश्चिद् वेदना च न विद्यते ।
तदावस्थामिमां दृष्ट्वा तृष्णे किं न विदीर्यसे ॥ ९९ ॥

जब न वेदना है और न कोई वेदयिता तब हे तृष्णे (तू) इस अवस्था को देखकर क्यों नहीं छिन्न-भिन्न हो जाती ?

दृश्यते स्पृश्यते चापि स्वप्नमायोपमात्मना ।
चित्तेन सहजातत्वाद् वेदना तेन नेक्ष्यते ॥ १०० ॥

स्वभाव में स्वप्न और माया के समान (अपरमार्थ सत्) चित्त (जब चक्षु के प्रत्यय से उत्पन्न होता है तब) देखता है (जब काय के प्रत्यय से उत्पन्न होता है तब) छूता है और वेदना उसी के साथ उत्पन्न होती है इसलिए (वह अलग से अनुभूत होती हुई) नहीं दिखाई देती है।

पूर्वं पश्चाच्च जातेन स्मर्यते नानुभूयते ।
स्वात्मानं नानुभवति न चान्येनानुभूयते ॥ १०१ ॥

जो पश्चात् उत्पन्न हुआ है, वह पूर्व उत्पन्न हुए का अनुभव नहीं कर सकता, स्मरण कर सकता है (क्योंकि अनुभव उन्हींका परस्पर संभव है जो समान काल में हों)। स्वयं से स्वसंवेदन होना संभव नहीं (द्रष्टव्य (९।१७–२५) और पर से (अपर का भी) अनुभव हो नहीं सकता।

न चास्ति वेदकः कश्चिद् वेदनातो न विद्यते ।
निरात्मके कलापेऽस्मिन् क एष बाध्यतेऽनया ॥ १०२ ॥

इसलिए परमार्थ में न तो कोई वेदयिता है और न वेदना। इस निरात्मक प्रपंच में उससे पीड़ा किसे ?

## चित्तस्मृत्युपस्थान और धर्मस्मृत्युपस्थान

नेन्द्रियेषु न रूपादौ नान्तराले मन स्थितं ।
नाप्यन्तर्न बहिश्चित्तमन्यत्रापि न लभ्यते ।। १०३ ।।

मन न इन्द्रियो में है, न रूप आदि (विषयों) में है और न दोनों के बीच स्थित है । मन न भीतर है, न बाहर है और न (इन सबसे अलग कहीं) दूसरे ही स्थान पर है ।

यन्न काये न चान्यत्र न मिश्र न पृथक् क्वचित् ।
तन्न किंचिदत सत्वा प्रकृत्या परिनिर्वृता ।। १०४ ।।

जो न काया में है, न (काया से बाहर कहीं) दूसरे स्थान में है, न दोनों म है और न (दोनो से) पृथक् कहीं पर है, वह कोई (वस्तुसत् पदार्थ) नहीं है । इसलिए प्राणी स्वभाव से ही परिनिर्वृत हैं ।

ज्ञेयात्पूर्वं यदि ज्ञानं किमालम्ब्यास्य सभव ।
ज्ञेयेन सह चेद् ज्ञान किमालम्ब्यास्य सभव ।। १०५ ।।
अथ ज्ञेयाद् भवेत् पश्चात्तदा ज्ञान कुतो भवेत् ।
एव च सर्वधर्माणामुत्पत्तिर्नावसीयते ।। १०६ ।।

[ज्ञान उसे कहते हैं जो किसी ज्ञेय--विषय को जाने। (चित्त, मनस्, ज्ञान विज्ञान, विज्ञप्ति आदि पर्यायवाचक शब्द हैं।) अत ज्ञान और ज्ञेय की स्थिति पर विचार करना है। तीन ही प्रकार की स्थितिया सभव हैं। ज्ञान, ज्ञेय से पूर्व, या पश्चात् या युगपत् (=एक काल में) हो सकता है। चतुर्थी स्थिति और कोई हो नहीं सकती और ये तीनो सभव नहीं। क्योंकि --]

ज्ञान यदि ज्ञेय से पूर्व हो तो (ज्ञेय के सबद्ध न होने के कारण उसे) किसके आधार पर (ज्ञान कहना) सभव होगा? ज्ञान और ज्ञेय यदि युगपत् हों तो (उनका कार्य-कारण भाव संबन्ध नहीं हो सकता क्योंकि सदा कारण पहले और कार्य बाद में देखा जाता है। फिर ) उस (ज्ञान) को किसके आधार पर (ज्ञान कहना) सभव होगा? यदि ज्ञान ज्ञेय से पश्चात् हो तो (ज्ञान के काल में ज्ञेय के निरुद्ध हो जाने के कारण उसकी) उत्पत्ति कैसे? इस प्रकार (ज्ञान की उत्पत्ति की भाति) सभी धर्मों की उत्पत्ति का कुछ ठौर-ठिकाना नहीं है ।

## सवृति-सत्य की भ्रममात्रता

यद्येव सवृतिर्नास्ति तत सत्यद्वय कथ ।
अथ साप्यन्यसवृत्या स्यात् सत्वो निर्वृत कुत ।। १०७ ।।

इस प्रकार यदि सवृति * नहीं तो दो सत्य कैसे? उसकी सिद्धि यदि दूसरे

---

* इसके होने से यह होता है 'अस्मिन् सतीद भवति' इस प्रकार के इद प्रत्ययतानियम अर्थात कार्य-कारण भाव के नियम का नाम सवृति है। धर्मो के अजाति वाद (=न उत्पन्न होने का सिद्धात) के प्रतिपादन का सीधा अर्थ यह है कि संवृति सत्य नहीं है ।

को संवृति से हो तो जीव मुक्त कैसे? (क्योंकि मुक्त भी किसी न किसी की संवृति का विषय बन ही जाता है।)

परचित्तविकल्पो ऽसौ स्वसंवृत्या तु नास्ति स.।
स पश्चान्नियत सोऽस्ति न चेन्नास्त्येव संवृति.॥ १०८॥

वह (मुक्त जीव) दूसरे के मन की कल्पना में आता है पर स्वयं अपनी संवृति (कल्पना) में नहीं आता। वह (धर्म जो कारण से उत्पन्न होता है सदा) नियम-पूर्वक पीछे होता है। वह यदि हो, तो संवृति होती है। यदि न हो, तो संवृति नहीं होती (भाव यह कि जहा कार्य-कारण भाव होता है, वहीं संवृति होती है। जहां कार्य-कारण भाव नहीं, वहा संवृति भी नहीं होती।)

कल्पना कल्पित चेति द्वयमन्योन्यनिश्रित।
यथाप्रसिद्धिमाश्रित्य विचारः सर्व उच्यते॥ १०९॥

दोनो, कल्पना और उससे कल्पित (पदार्थों) का अन्योन्याश्रय भाव होता है और यह सब विचार लोक-व्यवहार का सहारा लेकर किया जाता है।

विचारितेन तु यदा विचारेण विचार्यते।
तदानवस्था तस्यापि विचारस्य विचारणात्॥ ११०॥

विचारित-विचार के द्वारा जब विचार किया जाता है, तब उस (साधनभूत) विचार का भी (फिर) विचार हो सकता है (एव पुन. पुन. विचारित विचारो का पुन पुन विचार होने से) अनवस्था (–दोष) * होगा।

विचारिते विचार्ये तु विचारस्यास्ति नाश्रय।
निराश्रयत्वान्नोदेति तच्च निर्वाणमुच्यते॥ १११॥

विचार्य अर्थात् विचार के विषयभूत सब धर्मों का जब विचार कर लिया जाता है तब विचार का आश्रय ही न रह जाता। फिर आश्रयहीन होने के कारण उसका प्रादुर्भाव (भी) नहीं होता और वह (विचार या विकल्प का अभाव ही) निर्वाण कहलाता है।

यस्य त्वेतद् द्वय सत्यं स एवात्यन्तदु.स्थित।
यदि ज्ञानवशादर्थो ज्ञानास्तित्वे तु का गति.॥ ११२॥

अथ ज्ञेयवशाज् ज्ञान ज्ञेयास्तित्वे तु का गति
अथान्योन्यवशात् सत्त्वमभाव· स्याद् द्वयोरपि॥ ११३॥

---

* अनवस्था–दोष (Absence of conclusion) कहीं न ठहरने वाला तर्क जब उपस्थित होता है तो उसे अनवस्था-दोष कहते हैं। जैसे यदि कोई वृक्ष का हेतु खोजते हुए बीज तक पहुँच कर फिर उस बीज का हेतु खोजने लगे और कहे कि उस बीज का हेतु दूसरा बीज है और दूसरे बीज का हेतु तीसरा बीज है और इस प्रकार बीज का हेतु बीज बताते-बताते कहीं ठहरना न हो, तो यह समूचा तर्क अनवस्था-दोषयुक्त होगा।

जिसके मत में ये (विकल्प तथा विकल्पित विषय) दोनों ही सत्य हैं वही दुर्दशा में है (क्योंकि ज्ञान और ज्ञेय जो दोनों वस्तुत कल्पित हैं उन्हें वह सत्य-सिद्ध करना चाहेगा जो कि सभव नहीं। और सभव हो तो कैसे?) यदि (ज्ञेय) पदार्थ का कारण ज्ञान हो, तो ज्ञान का अस्तित्व किस पर निर्भर रहेगा? और यदि ज्ञान का कारण ज्ञेय हो, तो ज्ञेय का अस्तित्व किस पर रहेगा? यदि दोनों का अस्तित्व एक दूसरे पर हो, तो (उसके असभव होने के कारण) दोनों का अभाव मानना होगा। [जैसा कि पिता-पुत्र के दृष्टान्त से स्पष्ट है।]

पिता चेन्न विना पुत्र कुत. पुत्रस्य सभव. ।
पुत्राभावे पिता नास्ति तथासत्त्व तयोर्द्वयो ॥ ११४ ॥

यदि पुत्र के बिना पिता न हो तो (पिता के अभाव में) पुत्र हो ही कैसे सकेगा? और जब पुत्र नहीं तो पिता भी नहीं। इस प्रकार (सिद्ध हुआ कि परमार्थ में) दोनों ही नहीं हैं।

अकुरो जायते बीजाद् बीज तेनैव सूच्यते ।
ज्ञेयाज् ज्ञानेन जातेन तत्सत्ता किं न गम्यते ॥ ११५ ॥

(जैसे) अकुर की उत्पत्ति बीज से होती है और उस (अकुर) से ही बीज के होने का पता चलता है (वैसे ही) ज्ञान की उत्पत्ति ज्ञेय से होती है (और उसी से) उस (ज्ञेय) की सत्ता जानी जाती है। (ऐसा) क्यों नहीं (मान लेते)?

अकुरादन्यतो ज्ञानाद् बीजमस्तीति गम्यते ।
ज्ञानास्तित्व कुतो ज्ञात ज्ञेय यत्तेन गम्यते ॥ ११६ ॥

बीज का पता (अकुर से नहीं चलता प्रत्युत उस) अकुर से अतिरिक्त दूसरे ज्ञान से चलता है (जिसने कि जान रक्खा है कि बीज होने पर अकुर होता है) पर ज्ञान की सत्ता किससे जानी गयी जो उससे ज्ञेय की प्रतीति मान ली जाये।

## अजातिवाद का स्थापन

[प्रतीत्यसमुत्पन्नता अथवा हेतुप्रत्ययसापेक्षता के नियम के द्वारा सब लौकिक व्यवहार चलते हैं। पर यह नियम स्वय मिथ्या है। बनते-बिगडते पदार्थों के बीच कार्य-कारण भाव की स्थापना करना असभव है। वस्तुत न तो पदार्थ बनते ही हैं, न बिगडते ही। न किसी की उत्पत्ति ही होती है और न किसी का विरोध ही। इस अजातिवाद की स्थापना नागार्जुन ने एक कारिका में की है—

न स्वतो, नापि परतो, न द्वाभ्या, नाप्यहेतुत ।
उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

(माध्यमिक कारिका १। १)

—कहीं कोई पदार्थ न अपने से उत्पन्न होते हैं, न दूसरे से, न दोनों से और न अहेतु से। इस स्थापना को युक्तियो से सिद्ध करने के लिए जो लोग

पदार्थों की उत्पत्ति यों ही या किसी कारण से मानते हैं, [उनका खण्डन ११७-१४३ कारिकाओं में है ।]

## अजातिवाद के प्रतिपक्षी स्वभाववाद पर विचार

(चार्वाक के मत में जगत् की विचित्रता का कारण चेतन नहीं है, क्योंकि यदि होता तो उसे प्रत्यक्ष–गोचर होना चाहिए था। रहा प्रत्यक्ष-गोचर जड़ पदार्थ सो उसमें यह सामर्थ्य नहीं कि कमल और मयूरपंख जैसी अद्भुत और विचित्र वस्तुओं को बना सके । अत जगत् की विचित्रता यों ही है—स्वभाव से है–उसका हेतु कुछ नहीं । पर यह मत ठीक नहीं। क्योंकि –)

लोक प्रत्यक्षतस्तावत् सर्वं हेतुमुदीक्षते ।
पद्मनालादिभेदो हि हेतुभेदेन जायते ॥ ११७ ॥

सभी लोग प्रत्यक्ष ही (नाना प्रकार के कार्यों के) नाना प्रकार हेतु देखते हैं जिसका जो कारण होता है उसकी उससे उत्पत्ति प्रत्यक्ष ही देखी जाती है, आम के बीज से आम की ही और नीम के बीज से नीम की ही उत्पत्ति सब देखते हैं । हेतु के भेद के कारण ही कमल और नाल आदि में भेद रहता है—वे एक जैसे नहीं होते ।

किं कृतो हेतुभेदश्चेत् पूर्वहेतुप्रभेवतः ।
कस्माच्च फलदो हेतुः पूर्वहेतुप्रभावत ॥ ११८ ॥

[चार्वाक] हेतुभेद का कारण क्या है ? [माध्यमिक] (पर पर हेतु-भेद के प्रति) पूर्व (पूर्व) हेतु-भेद कारण है। [चार्वाक] (कोई) हेतु (विशेष प्रकार का) फल क्यो देता है ? [माध्यमिक] (अपने से) पूर्ववर्ती हेतु के प्रभाव से (परवर्ती हेतु फल दिया करता है।)

## अजातिवाद के प्रतिपक्षी ईश्वरवाद की आलोचना

[गोतम-प्रमुख नैयायिकों के मत में जगत् का कारण ईश्वर है ।]

ईश्वरो जगतो हेतुर्वद कस्तावदीश्वर ।
भूतानि चेद् भवत्वेव नाममात्रेऽपि किं श्रम ॥ ११९ ॥

जगत् का हेतु ईश्वर है । बोलो ईश्वर क्या है ? यदि भूत (पृथिवी, आपस्, तेजस्, वायु) ईश्वर हैं तो हों (उन्हें हम भी कारण मान लेते हैं पर ईश्वर–) नाम भर (सिद्ध करने के लिए) क्यों श्रम करते हो (ईश्वर नाम न लेकर सीधे ही भूतो को क्यों नहीं हेतु मान लेते ?)

अपि त्वनेकेऽनित्याश्च निश्चेष्टा न च देवता. ।
लङ्घ्याश्चाशुचयश्चैव क्ष्मादयो न स ईश्वर· ॥ १२० ॥

पर (इतनी बात और अधिक कह देने की है कि जैसा तुम्हारे मन मे ईश्वर है वैसा कोई महाभूत नहीं क्योंकि) पृथिवी आदि (महाभूत) अनेक हैं, ईश्वर एक है । पृथिवी आदि महाभूत अनित्य है, ईश्वर नित्य है । पृथिवी आदि महा-

भूत अचेतन हैं, ईश्वर सचेतन है। पृथिवी आदि महाभूत देवता नहीं हैं, ईश्वर देवता है। पृथिवी आदि महाभूत लघ्य हैं, ईश्वर अलघ्य है। पृथिवी आदि महाभूत अशुचि हैं, ईश्वर शुचि है।

नाकाशमीशो ऽचेष्टत्वान्नात्मा पूर्वनिषेधतः ।
अचिन्त्यस्य च कर्तृत्वमप्यचिन्त्य किमुच्यते ॥ १२१ ॥

आकाश ईश्वर हो नहीं सकता क्योंकि वह अचेतन है। आत्मा (भी ईश्वर) नहीं क्योंकि उसका पहले (९।६९–७०) निराकरण कर चुके हैं। (यदि कहो कि ईश्वर अचिन्त्य है, उसका स्वरूप 'इदमित्य' रूप से नहीं बताया जा सकता तो उस) अचिन्त्य का कर्तृत्व भी अचिन्त्य हुआ, उसकी चर्चा ही क्यों चलाते हो ?

तेन किं स्रष्टुमिष्ट च आत्मा चेन्ननवसौ ध्रुव ।
क्ष्मादिस्वभाव ईशश्च ज्ञान ज्ञेयादनादि च ॥ १२२ ॥
कर्मण· सुखदु.खे च वद किं तेन निर्मित ।

वह (ईश्वर) किसकी सृष्टि करना चाहता है ? यदि आत्मा की (तो ठीक नहीं क्योंकि) वह नित्य है। (परमाणुरूप) पृथिवी आदि का स्वभाव तथा (स्वयं) ईश्वर भी नित्य है, अतः वह न तो पृथिवी आदि की ही सृष्टि कर सकता है और न अपनी ही)। ज्ञान ज्ञेय से उत्पन्न होता है और अनादि है, (रहे आदिमान्) सुख और दु ख (वे) कर्म से होते हैं। बोलो, (अब बची) कौन सी (वस्तु जिसे) उसने बनाया ?

हेतोरादिर्न चेदस्ति फलस्यादि कुतो भवेत् ॥ १२३ ॥
कस्मात् सदा न कुरुते नहि सो ऽन्यमपेक्षते ।
तेनाकृतोऽन्यो नास्त्येव तेनासौ किमपेक्षता ॥ १२४ ॥

यदि हेतु (=ईश्वर) अनादि है तो (उस हेतु का) कार्य सादि कैसे होगा ? (पर वह) क्यों सदा (कार्य) नहीं करता ? उसे दूसरा (मददगार तो) चाहिए ही नहीं (जो उसके न होने से वह बैठा है, कार्य नहीं करता)। (दुनिया में) ऐसा कोई है नहीं जिसे उसने न बनाया हो, इसलिए उसे अपेक्षा हो ही किसकी सकती है ?

अपेक्षते चेत् सामग्रीं हेतुर्न पुनरीश्वर. ।
नाकर्तुमीश सामग्र्यां न कर्तु तदभावत ॥ १२५ ॥

यदि (ईश्वर को सृष्टि के लिए ) सामग्री की अपेक्षा हो तो फिर ईश्वर (सृष्टि का) हेतु न हुआ (सामग्री ही हेतु बन गई) (ईश्वर) सामग्री बनाने में समर्थ हो† (तो हो पर) बना नहीं सकता क्योंकि (सामग्री बनाने के लिए भी तो सामग्री चाहिए पर) वह है नहीं।

करोत्यनिच्छन्नीशश्चेत् परायत्त प्रसज्यते ।
इच्छन्नपीच्छायत्त· स्यात् कुर्वत कुत ईशता ॥ १२६ ॥

---

† अक्षरार्थ "असमर्थ न हो"।

यदि ईश्वर बिना इच्छा के (सृष्टि) करता है तो वह पराधीन है। यदि (अपनी) इच्छा से (सृष्टि) करता है तो इच्छाधीन है। (इस प्रकार सृष्टि) करते हुए उसकी ईश्वरता कैसे ?

## अजातिवाद के प्रतिपक्षी परमाणुवाद की आलोचना

ये ऽपि नित्यानणूनाहु तेऽपि पूर्वं निवारिता ।

जो (मीमासक आदि) नित्य परमाणुओ ( के द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति) को मानते हैं उनका पहले ( ९।८६–८७) निराकरण किया जा चुका है।

## अजातिवाद के प्रतिपक्षी साख्य-सम्मत प्रकृतिवाद की आलोचना

साख्या प्रधानमिच्छन्ति नित्यं लोकस्य कारणं ॥ १२७ ॥

सांख्य (मत के अनुयायी) नित्य प्रधान अर्थात् प्रकृति को जगत् का कारण मानते हैं।

सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणा अविषमस्थिता ।
प्रधानमिति कथ्यन्ते विषमैर्जगदुच्यते ॥ १२८ ॥

साम्यावस्था में स्थित सत्त्व, रजस् और तमस् गुणो को प्रधान या प्रकृति कहते हैं। वैषम्यावस्था में (स्थित उन्हीं गुणों को) जगत् कहते हैं।

एकस्य त्रिस्वभावत्वमयुक्तं तेन नास्ति तत् ।
एवं गुणा न विद्यन्ते प्रत्येक तेऽपि हि त्रिधा ॥ १२९ ॥

एक (प्रकृति) के तीन स्वभाव होने असगत है, इसलिए वह (परमार्थ-) सत् नहीं। इसी प्रकार गुण भी (परमार्थ–) सत् नहीं क्योंकि (उनका भी स्वभाव) तीन प्रकार का है।

गुणाभावे च शब्दादेरस्तित्वमतिदूरत ।
अचेतने न च वस्त्रादौ सुखादेरप्यसभव ॥ १३० ॥

गुणो के (परमार्थ–) सत् न होने के कारण (उनसे उत्पन्न) शब्दादि का (परमार्थ–) सत् होना वहुत ही दूर की वात है। [किं च त्रिगुणात्मक सर्ग सुख-दु.ख-मोहात्मक है––यह साख्यो की मान्यता भी ठीक नहीं, क्योंकि] अचेतन वस्त्र आदि में सुख आदि का होना भी असभव है।

तद्धेतुरूपा भावाश्चेन्ननु भावा विचारिता. ।
सुखाद्येव च ते हेतु न च तस्मात्पटादय ॥ १३१ ॥

यदि (कहो कि) भाव अर्थात् पदार्थ उन (सुखादि के) हेतु हैं (तो ठीक नहीं) क्योंकि उनका विचार कर चुके हैं (वे न अवयवि रूप हैं [९।८१–८५] ; न परमाणुरूप हैं [९।८६–८७], न त्रिगुणात्मक हैं [९।१२८–१२९] ; वे असत् हैं फिर कारण किसके बनेंगे)। तुम्हारे (मत में सत्त्व, रजस्) तमस् ही सुख, दु ख, मोह हैं और

उन्हीं से सर्ग होता है अत ) सुखादि ही (सब कार्य-जगत् के) कारण हैं, इसलिए वस्त्र आदि (परमार्थ- में) असत् है ।

पटादेस्तु सुखादि स्यात् तदभावात् सुखाद्यसत् ।
सुखादीना च नित्यत्वं कदाचिन्नोपलभ्यते ॥ १३२ ॥

वस्त्र आदि से सुख आदि होता है और ये असत् हैं अत सुखादि (भी) असत् हुए । [ किं च सत्त्व, रजस् और तमस् गुण वाले होने से सुखादि तुम्हारे मत में नित्य हैं, पर यह बात सर्वथा है उलटी, क्योंकि ] सुखादि कभी नित्य नहीं उपलब्ध होते (प्रत्युत नश्वर और क्षणभगुर देखे जाते हैं ) ।

सत्यामेव सुखव्यक्तौ सवित्ति किं न गृह्यते ।
तदेव सूक्ष्मतां याति, स्थूलं सूक्ष्म च तत्कथ ॥ १३३ ॥

(यदि सुखादि नित्य होते तो एक बार जब) सुख का उदय होता (तब से निरंतर उसका) सवेदन (बना रहता, पर) होता नहीं, यह क्यों ? [साख्यवादी का समाधान] (व्यजक सामग्री के अभाव के कारण ) वह सूक्ष्म हो जाता है (इसलिए सवेदन बना नहीं रहता) । [माध्यमिक का आक्षेप] वह (एक ही वस्तु) स्थूल और सूक्ष्म कैसे ?

स्थौल्य त्यक्त्वा भवेत् सूक्ष्ममनित्ये स्थौल्यसूक्ष्मते ।
सर्वस्य वस्तुनस्तद्वत् किं नानित्यत्वमिष्यते ॥ १३४ ॥

स्थूलता छोड कर (सुख आदि की) सूक्ष्मता होती है (यदि ऐसा मानते हो तो) स्थूलता और सूक्ष्मता तो अनित्य हैं (एव जब कुछ को अनित्य मान लिया तब) उसी प्रकार (अपने) सब तत्त्वों को क्यो नहीं अनित्य मान लेते ?

न स्थौल्य चेत् सुखादन्यन् सुखस्यानित्यता स्फुट ।

(यदि यह मानो कि) स्थूलता सुख से अभिन्न है (तो जैसे स्थूलता की अनित्यता स्पष्ट है वैसे ही) सुख की अनित्यता भी स्पष्ट (सिद्ध) हो गई ।

नासदुत्पद्यते किं चिदसत्त्वादिति चेन्मत ॥ १३५ ॥
व्यक्तस्यासत उत्पत्तिरकामस्यापि ते स्थिता ।
अन्नादो ऽमेध्यभक्ष. स्यात् फल हेतौ यदि स्थित ॥ १३६ ॥
पटार्घेणैव कर्पासबीज क्रीत्वा निवस्यतां ।
मोहाच्चेन्नेक्षते लोकस् तत्त्वज्ञस्यापि सा स्थिति ॥ १३७ ॥

(यदि यह मानो कि) किसी असत् (पदार्थ) की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि वह है नहीं (तो ठीक नहीं, क्योकि) तुम्हारे मत में विना चाहे भी (उस) व्यक्त जगत् की उत्पत्ति होती है (जो अव्यक्तावस्था में) असत् होता है । यदि हेतु में फल को स्थित मानो तो अन्नभक्षी को मलभक्षी कहना होगा तथा कपडे के दाम से कपास के बीजो को खरीद कर पहनना होगा । (यदि यह कहो कि) लोग

मोहवश तत्त्व नहीं देखते (इसीलिए कोई ऐसा नहीं कहता, तो भी ठीक नहीं, क्योंकि) तत्त्वज्ञानी की भी वही दशा है (वह भी पहनने के लिए कपड़ा खरीदता है, कपास के बीज नहीं)।

लोकस्यापि च तज्ज्ञानमस्ति कस्मान्न पश्यति ।
लोकाप्रमाणताया चेद् व्यक्तदर्शनमप्यसत् ॥ १३८ ॥

(तत्त्वज्ञ की भाँति) ससारी को भी उस (कार्यकारणभाव) का ज्ञान है पर वह क्यों (कारण के भीतर कार्य की सत्ता) नहीं देखता ? यदि ससारी को प्रमाण न मानो तो (इस) व्यक्तदर्शन अर्थात् दृश्यमान ससार को भी (परमार्थ में) असत् मानना होगा (फिर हम बौद्ध और तुम साख्य एक ही हो गये। हम भी तत्त्व-चर्चा में लौकिक-व्यवहार समत प्रमाणो को नहीं मानते )।

प्रमाणमप्रमाणं चेन्ननु तत्प्रमित मृषा ।
तत्त्वतं शून्यता तस्माद् भावानां नोपपद्यते ॥ १३९ ॥

कल्पित भावमस्पृष्ट्वा तदभावो न गृह्यते ।
तस्माद् भावो मृषा यो हि तस्याभाव स्फुट मृषा ॥ १४० ॥

तस्मात् स्वप्ने सुते नष्टे सो * नास्तीति विकल्पना ।
तद्भावकल्पनोत्पाद विबध्नाति मृषा च सा ॥ १४१ ॥

[साख्य] यदि प्रमाण को प्रमाण न मानो तो उससे प्रमित (पदार्थ) को भ्रान्त मानना होगा और इसलिए भावों (=पदार्थों) की शून्यता (जो कि प्रमाण से सिद्ध की जाती है) परमार्थत. सिद्ध न हो सकेगी ।

(माध्यमिक) भाव की कल्पना न करने पर अभाव पकड में नहीं आता। इसलिए जो भाव मिथ्या (सिद्ध) है, उसका अभाव स्पष्ट ही मिथ्या है। अतएव स्वप्न में पुत्र के नष्ट होने पर, उसके न होने की कल्पना उसके होने की कल्पना को रोकती है और (अपने आपको भी) मृषा (सिद्ध करती) है।

तस्मादेव विचारेण नास्ति किं चिदहेतुत ।

इस प्रकार विचार करने से (स्पष्ट है कि) अहेतु अर्थात् स्वभाव, महेश्वर, प्रकृति, परमाणु आदि से कुछ नहीं (उत्पन्न) होता।

## अजातिवाद के प्रतिपक्षी हेतुवाद की आलोचना

न च व्यस्तसमस्तेषु प्रत्ययेषु व्यवस्थितं ॥ १४२ ॥

अन्यतो नापि चायात न तिष्ठति न गच्छति ।
मायात को विशेषोऽस्य यन्मूढै सत्यत कृतं ॥ १४३ ॥

* 'सो' के स्थान में पजिकाकार के अनुसार 'स' पाठ है और वही व्याकरणानुकूल है। यदि 'सो' को (सा+उ) मानें तो यह विकल्पना का विशेषण बनता है।

मायया निर्मित यच्च हेतुभिर्यच्च निर्मितं ।
आयाति तन् कुत कुत्र याति चेति निरूप्यतां ॥ १४४ ॥

यदन्यसनिधानेन दृष्टं न तदभावत ।
प्रतिबिम्बसमे तस्मिन् कृत्रिमे सत्यता कथ ॥ १४५ ॥

(कार्य) व्यस्त (अर्थात् स्व अथवा पर) और समस्त (अर्थात् दोनों स्व एव पर) प्रत्ययो (=कारणों) पर निर्भर नहीं है [क्यों निर्भर नहीं ? इसका स्पष्टीकरण यों है --

(१) कार्य अपने आप से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि उत्पत्ति से पूर्व उसकी सत्ता नहीं होती, फिर अपने आप से उत्पन्न हो तो कैसे ?

(२) कार्य अपने से पर-पदार्थ द्वारा भी उत्पन्न नहीं होता। यदि कोई अपने से भिन्न पदार्थ द्वारा उत्पन्न होता हो तो सभी की सबसे उत्पत्ति हो जाती ! कोदो से धान भी उग आते !

(३) कार्य दोनों से--अपने आप तथा अपने से भिन्न पदार्थ द्वारा भी उत्पन्न नहीं होता क्योकि दोनों आपत्तिया (जो ऊपर दी गई है) माथे आ पड़ेंगी।]

[पर त्रैकाल्यवादियों * का कहना है कि हेतु-प्रत्यय के द्वारा पदार्थ अनागत से वर्तमान में और वर्तमान से अतीत में चला जाता है। इस काल-परिवर्तन का नाम ही उत्पाद, स्थिति और भग है। वस्तुत. पदार्थ सदा रहता है--वह परमार्थ-सन् ही है। यह मत ठीक नहीं। क्योंकि--] (पदार्थ) किसी दूसरी जगह से न आता है, न ठहरता है न (कहीं अन्यत्र) चला जाता है (क्योंकि यदि ऐसा होता तो वह नित्य होता पर तुम्हारे मत में जो सत् है वह क्षणिक ही है, नित्य नहीं)। मूढो ने जिसे परमार्थ सत् मान रखा है उसको माया से कुछ भी भिन्नता नहीं है। जिसका निर्माण माया से हुआ है तथा जिसका निर्माण हेतुओ से हुआ है, वह कहां से आता है और कहा जाता है, इस पर विचार करना चाहिए। जो दूसरे के सामीप्य में दिखाई पड़ता है, अभाव में दिखाई नहीं पड़ता, वह प्रतिबिम्ब जैसा है (प्रतिबिम्ब दर्पण हो तो दिखाई पड़ता है, न हो तो दिखाई नहीं पड़ता) उसमें सत्यता कहां ?

विद्यमानस्य भावस्य हेतुना किं प्रयोजन ।
अथाप्यविद्यमानोऽसौ हेतुना किं प्रयोजन ॥ १४६ ॥

यदि पदार्थ सत् हो तो उसका हेतु से क्या प्रयोजन ? और यदि असत् है तो भी उसका हेतु से क्या प्रयोजन ?

नाभावस्य विकारोऽस्ति हेतुकोटिशतैरपि ।
तदवस्थ: कथ भाव को वान्यो भावता गत. ॥ १४७ ॥

शतकोटि हेतुओ से भी असत् में विकार नहीं होता। फिर वैसा का वैसा

---

* त्रैकाल्यवादी शब्द सर्वास्तिवादियो के लिए प्रयुक्त हुआ है। द्रष्टव्य अभिधर्मकोश ५।२५, २६ ।

(=बिना विकृत हुए) वह कैसे सत् हो सकता है? अथवा जो सत् होता है वह (असत् से) अन्य कौन है?

नाभावकाले भावश्चेत् कदा भावो भविष्यति।
नाजातेन हि भावेन सोऽभावो ऽपगमिष्यति ॥ १४८ ॥

असत् के समय सत् यदि होता नहीं तो सत् होता कब है? सत् यदि उत्पन्न न हो तो असत् का नाश नहीं होता।

न चानपगते ऽभावे भावावसरसम्भव।
भावश्चाभावतां नैति द्विस्वभावप्रसगत. ॥ १४९ ॥

और असत् यदि दूर न हो, तो सत् के होने का अवसर नहीं। (किं च) सत् (कभी) असत् होता नहीं (यदि हो तो उसमें) दो (परस्पर विरोधी) स्वभाव मानने होंगे (पर परस्पर विरोधी अग्नि-जल के समान एकत्र रह नहीं सकते)।

एवं च न विरोधोऽस्ति न च भावो ऽस्ति सर्वदा।
अजातमनिरुद्धं च तस्मात्सर्वमिद जगत् ॥ १५० ॥

सदा इस प्रकार न तो सत्ता है और न विनाश। अतएव सब जगत् अजात है, अनिरुद्ध है।

स्वप्नोपमास्तु गतयो विचारे कदलीसमाः।
निर्वृतानिर्वृतानां च विशेषो नास्ति वस्तुत· ॥ १५१ ॥

गतियां (—सुगति, दुर्गति आदि)* विचार करने पर स्वप्नवत् हैं, कदली (—स्तंभ) वत् (नि सार) हैं। परमार्थ में बद्ध और मुक्त में (कोई) भेद नहीं।

## शून्यवाद का उपसंहार

एव शून्येषु धर्मेषु किं लब्धं किं हृत भवेत्।
सत्कृत. परिभूतो वा केन क सभविष्यति ॥ १५२ ॥

इस प्रकार पदार्थ शून्य हैं। (उनसे) क्या मिलना? क्या जाना? किसका किससे आदर या तिरस्कार?

कुतः सुखं वा दुःखं वा किं प्रिय वा किमप्रिय।
का तृष्णा कुत्र वा तृष्णा मृग्यमाणा स्वभावत ॥ १५३ ॥

सुख या दुःख किससे? क्या प्रिय? क्या अप्रिय? खोजने पर स्वभाव से तृष्णा कहां? (और) तृष्णा कैसी?

विचारे जीवलोक क को नामात्र मरिष्यति।
को भविष्यति को भूतः को बन्धुः कस्य क. सुहृन् ॥ १५४ ॥

---

* गतियां पांच हैं—नरक, प्रेत, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव गति।

विचार करने पर जीवलोक क्या? यहां मरण ही किसका? कौन होगा? कौन हुआ? कौन किसका बन्धु? कौन किसका मित्र?

सर्वमाकाशसंकाशं परिगृह्णन्तु ; मद्विधाः—
प्रहृष्यन्ति प्रकुप्यन्ति कलहोत्सवहेतुभि. ॥ १५५ ॥

सब जगत् को आकाशवत् (शून्य) समझना चाहिए (पर) मेरे जैसे (लोग समझते नहीं और ) उत्सव का कारण हो तो हर्ष मनाते हैं, कलह का कारण हो तो क्रोध करते हैं।

शोकायासैर्विषादैश्च मिथश्छेदनभेदनैः ।
यापयन्ति सुकृच्छ्रेण पापैरात्मसुखेच्छव॰ ॥ १५६ ॥

शोक, श्रम और विषाद से परस्पर मारामारी—काटाकाटी करते, पाप कमाते, सुख की इच्छा रख कर भी दुःख से (दिन ) बिताते हैं।

मृता. पतन्त्यपायेषु दीर्घतीव्रव्यथेषु च ।
आगत्यागत्य सुगतिं भूत्वा भूत्वा सुखोचिताः ॥ १५७ ॥

बार बार सुगति पाकर और बार बार सुख भोग कर (पापवश प्राणी) मर कर दीर्घ(-कालिक) तीव्र व्यथा वाले नरकों में गिरते हैं।

भवे बहुप्रपातश्च तत्र चातत्त्वमीदृश * ।
तत्रान्योन्यविरोधश्च न भवेत् तत्त्वमीदृशं ॥ १५८ ॥

अतत्त्व अर्थात् मोह ऐसा (पदार्थ है कि) भव (ससार) में बहुत बार गिरना पडता है और वहा (भी) परस्पर का विरोध (=लडाई-झगडा) रहता है। तत्त्व ऐसा (पदार्थ है कि जहां यह सब) नहीं हो सकता।

तत्र चानुपमास्तीव्रा अनन्तदुःखसागरा. ।
तत्रैवमल्पबलता तत्राप्यल्पत्वमायुष ॥ १५९ ॥

वहा भव में) तीव्र दुःख के अनन्त समुद्र हैं, जिनकी उपमा (कहीं) नहीं। (इतना ही नहीं) उस पर इस प्रकार की अल्पबलता, उस पर भी आयु की अल्पता—

तत्रापि जीवितारोग्यव्यापारैः क्षुत्क्लमश्रमैः ।
निद्रयोपद्रवैर्बालिशसंसर्गैर्निष्फलैस्तथा ॥ १६० ॥

वृथैवायुर्वहत्याशु विवेकस्तु सुदुर्लभा ।

उस पर भी जीने के लिए काम, रोग दूर करने के लिए दौड-धूप, भूख,

*'चातत्त्वमीदृशं' मूल का पाठ है। टीकाकार की व्याख्यानुसार पाठ 'चातत्त्वमीदृशं' है। असत्य और अतत्त्व एकार्थक हैं। उत्तरार्ध में 'तत्त्व' को देख पूर्वार्ध में 'अतत्त्व' बहुत उपयुक्त मालूम होता है।

थकावट, श्रम, निद्रा, उपद्रव तथा निष्फल मूढसंसर्ग के कारण झटपट आयु बीत जाती है और विवेक दुर्लभ रहता है।

तत्राप्यभ्यस्तविक्षेपनिवारणगति कुत ॥ १६१ ॥
तत्रापि मारो यतते महापायनिपातने ।
तत्रासन्मार्गबाहुल्याद् विचिकित्सा च दुर्जया ॥ १६२ ॥

उस पर भी (काम और मन को) जो चंचलता का अभ्यास हो जाता है वह किसी तरह रुकता नहीं। उस पर भी मार महानरकों में गिराने का जतन करता ही रहता है। उस पर अनेक असत्-पन्थों के प्रचलन के कारण (सद्धर्म के विषय में) सन्देह (बना रहता है, उसे) जीतना कठिन होता है।

पुनश्च क्षणदौर्लभ्यं बुद्धोत्पादोऽतिदुर्लभ ।
क्लेशौघो दुर्निवारश्चेत्यहो दुःखपरम्परा ॥ १६३ ॥

उस पर भी क्षण (-संपत्ति) दुर्लभ है, बुद्ध की उत्पत्ति तो और भी दुर्लभ है। और क्लेशों की बाढ रोके रुकती नहीं। हन्त! (यह कैसी) दुःख की परम्परा है?

अहो बतातिशोच्यत्वमेषां दुःखौघवर्तिनाम् ।
ये नेक्षन्ते स्वदौःस्थित्यमेवमप्यतिदुःस्थिता ॥ १६४ ॥

हन्त! दुःख की बाढ़ में पड़े ये (प्राणी) अत्यन्त शोचनीय हैं, जो इस प्रकार अत्यन्त दुर्गत होते हुए भी अपनी दुर्गति नहीं देखते।

स्नात्वा स्नात्वा यथा कश्चिद् विशेद् वह्निं मुहुर्मुहु ।
स्वसौस्थित्यं च मन्यन्ते एवमप्यतिदुःस्थिता ॥ १६५ ॥

स्नान कर-कर जैसे कोई आग में घुसे वैसे ही अत्यन्त दुःखित लोग अपने को सुखित मानते हैं।

अजरामरलीलानामेवं विहरतां सता ।
आयास्यन्त्यापदो घोरा कृत्वा मरणमग्रतः ॥ १६६ ॥

एव अजर और अमरों की भांति विलास करने वाले (प्राणियों के सामने) मृत्यु को मुखिया बनाकर घोर आपत्तियां आनेवाली हैं (पर उन्हें कुछ चिन्ता नहीं)।

एवं दुःखाग्नितप्तानां शांतिं कुर्यामहं कदा ।
पुण्यमेघसमुद्भूतैः सुखोपकरणैं स्वकैः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार दुःख की आग से तपे प्राणियों को मैं पुण्य-मेघ से उत्पन्न सुख-साधन (-जल) से कब शीतल करूंगा!

कदोपलम्भदृष्टिभ्यो देशयिष्यामि शून्यता ।
संवृत्यानुपलम्भेन पुण्यसंभारमादरात् ॥ १६८ ॥

(मैं) व्यवहार में त्रिकोटि परिशुद्धि† के द्वारा आदर के साथ पुण्य सभार× को, (तथा) शून्यता की देशना कब (उन प्राणियों को) दूगा जो उपलभ-दृष्टि‡ पकडे हुए हैं।

---

† त्रिकोटिपरिशुद्ध वस्तुत अनुपलभ शब्द का प्रकारान्तर से कथन है। दान आदि पुण्य स्थलों में तीन-तीन कोटिया व्यवहार में होती ह। यथा--दान के स्थान में दाता, देयवस्तु और प्रतिग्राहक। इन तीन-तीन कोटियो में परमार्थदृष्टि न होना अनुपलभ है।

× पुण्यसभार=पुण्यसामग्री, दान, शील, क्षमा, आदि।

‡ उपलभदृष्टि=प्रपच में परमार्थबुद्धि।

# बोधि-परिणामना

बोधिचर्यावतार मे यद्विचिन्तयत शुभं ।
तेन सर्वे जना सन्तु बोधिचर्याविभूषणा ॥ १ ॥

बोधिचर्यावतार का चिंतन करते हुए जो मुझे पुण्य हुआ है, उससे सब लोग बोधिचर्या-विभूषण हों ।

सर्वासु दिक्षु यावन्त कायचित्तव्यथातुरा ।
ते प्राप्नुवन्तु मत्पुण्यै सुखप्रामोद्यसागरा: ॥ २ ॥

सब दिशाओं में जितने (लोग) शरीर और मन की व्यथा से व्याकुल हैं, वे मेरे पुण्यों से सुख-प्रमोद के समुद्रों को प्राप्त करें।

असंसार सुखज्यानिर्मा भूत् तेषा कदाचन ।
बोधिसत्वसुखं प्राप्त भवत्वविरत जगत् ॥ ३ ॥

जब तक (उनका) आवागमन है, तब तक उनके सुख की हानि कभी न हो। जगत् को निरन्तर बोधिसत्व सुख प्राप्त हो।

यावन्तो नरका केचिद् विद्यन्ते लोकधातुषु ।
सुखावतीसुखामोदैर्मोदन्ता तेषु देहिन ॥ ४ ॥

लोक-धातुओ में जितने नरक विद्यमान है, उनके प्राणी सुखावती के सुखामोद से प्रमुदित हों ।

शीतार्ता. प्राप्नुवन्तूष्णमुष्णार्ता सन्तु शीतला ।
बोधिसत्त्वमहामेघसंभवैर्जलसागरै ॥ ५ ॥

शीत से दुखी गरमी पाए। गरमी से दुखी बोधिसत्त्वरूपी महामेघों से उत्पन्न जल के समुद्रों से शीतल हो ।

असिपत्रवन तेषा स्यान्नन्दनवनद्युति ।
कूटशाल्मलिवृक्षाश्च जायन्ता कल्पपादपा ॥ ६ ॥

उनके लिए असिपत्र-वन नन्दन-वन के समान हों और कूट शाल्मलि-वृक्ष कल्पवृक्ष हों ।

काश्बकारंडवचक्रवाकहंसादिकोलाहलरम्यशोभै ।
सरोभिरुद्दामसरोजगन्धैर्भवन्तु हृद्या नरकप्रदेशा ॥ ७ ॥

नरकों के प्रदेश काश्व, कारंडव चक्रवाक, हंस आदि के कोलाहल से सुशोभित कमलों की उत्कट सुगंध वाले सरोवरों से मनोहर हों ।

सोऽङ्गारराशिर्मणिराशिरस्तु तप्ता च भूः स्फाटिककुट्टिमं स्यात् ।
भवन्तु सघातमहीधराश्च पूजाविमाना. सुगतप्रपूर्णा. ॥ ८ ॥

वह अगार राशि मणिराशि हो। तपी हुई भूमि स्फटिक-कुट्टिम हो। और सघात नरक के पर्वत बुद्धाधिष्ठित पूजाविमान हों।

अगारतप्तोपलशस्त्रवृष्टिरद्यप्रभृत्यस्तु च पुष्पवृष्टि ।
तच्छस्त्रयुद्धं च परस्परेण क्रीडार्थमद्यास्तु च पुष्पयुद्ध ॥ ९ ॥

अगार, जलते पत्थर और शस्त्रों की वर्षा आज से पुष्पवर्षा हो और आपस का वह शस्त्रयुद्ध आज से क्रीडा के लिए पुष्पयुद्ध हो।

पतितसकलमासा. कुन्दवर्णास्थिदेहा दहनसमजलाया वैतरण्या निमग्ना ।
मम कुशलबलेन प्राप्तदिव्यात्मभावा. सह सुरवनिताभि सन्तु मदाकिनीस्था ॥१०॥

अग्नि के समान दहकते जल वाली वैतरणी में डूबे हुए, सब का सब मास गिर जाने से कुन्द के समान (श्वेत) वर्ण की हड्डियों के ढांचे वाले (प्राणी) मेरे पुण्य बल से दिव्य शरीर पाकर सुरागनाओं के साथ मदाकिनी में विहार करें ।

त्रस्ता पश्यन्त्वकस्मादिह यमपुरुषा काकगृध्राश्च घोरा
ध्वान्त ध्वस्त समन्तात् सुखरतिजननी कस्य सौम्या प्रभेय ।
इत्यूर्ध्वं प्रेक्षमाणा गगनतलतल वज्रपाणि ज्वलन्त
दृष्ट्वा प्रामोद्यवेगाद् व्यपगतदुरिता यान्तु तेनैव सार्धं ॥ ११ ॥

भयकर यमदूत, काक और गृध्र भयभीत हो अकस्मात् देखें कि चारों ओर का अधेरा क्यो नष्ट हो गया (और) सुख-प्रीति उत्पन्न करने वाली यह सौम्य प्रभा किसकी है ? इस प्रकार ऊपर आकाश-तल को निहारते हुए, तेजस्वी वज्रपाणि (बोधिसत्त्व) को देख, मुदिता के वेग से निष्पाप हो, उनके साथ ही विचरण करें।

पतति कमलवृष्टिर्गन्धपानीयमिश्राऽऽशमितनरकवह्नि दृश्यते नाशयन्ती ।
किमिदमिति सुखेनाह्लादिन नाम कस्माद् भवतु कमलपाणेर्दर्शन नारकाणा ॥१२॥

सुगधित जल के साथ कमलो * की वर्षा हो रही है (और) दहकती नरक की आग को बुझाती दिखाई पडती है । यह क्या ? सुख से (तन-मन सब ) किस कारण आह्लादित हो गए ? यों (तर्क-वितर्क करते) नारकीयों को कमलपाणि (बोधिसत्त्व) का दर्शन हो ।

आयातायात शीघ्र भयमपनयत भ्रातरो जीविता स्म
सप्राप्तो ऽस्मानमेष ज्वलदभयकर कोऽपि चीरी कुमार ।

---

* भोटपाठान्तर 'कुसुम' (से-नोग्)

सर्वं यस्यानुभावाद् व्यसनमपगत प्रीतिवेगा. प्रवृत्ता
जातं सबोधिचित्त सकलजनपरित्राणमाता दया च ॥ १३ ॥

आओ! शीघ्र आओ !! भय दूर करो! भाइयो, जान बच गयी! हमारे लिए कोई यह चीरधारी, अभयकारी, तेजस्वी कुमार आ पहुँचा है, जिसके प्रताप से सब दुःख चला गया, प्रीति-वेग बहने लगा, सबोधि-चित्त उत्पन्न हुआ और सब प्राणियो को त्राण देने वाली दया माता ने जन्म लिया।

पश्यन्त्वेन भवन्त सुरशतमुकुटैरर्च्यमानाङ्घ्रिपद्म
कारुण्यादार्द्रदृष्टि शिरसि निपतितानेकपुष्पौघवृष्टि ।
कूटागारैर्मनोज्ञै. स्तुतिमुखरसुरस्त्रीसहस्रोपगीतैर्
दृष्ट्वाग्रे मजुघोषं भवतु कलकल. साप्रत नारकाणां ॥ १४ ॥

स्तुतियों से मुखरित सुरागनाओं के सहस्र-सहस्र गीतो से युक्त कूटागारो के साथ मजुघोष बोधिसत्त्व को (अपने) आगे देख नारकीयो में यों कलकल हो—आप (सब) इन्हें देखिए, इनके चरण-कमल देवताओं के शत-शत मुकुटों से पूजित हो रहे हैं, इनके सिर पर नानाविध पुष्प-समूहों की वर्षा हो रही है, इनकी आंखें करुणा से आर्द्र हैं।

इति मत्कुशलै. समन्तभद्रप्रमुखानावृतबोधिसत्त्वमेघान् ।
सुखशीतसुग[ि]धवातवृष्टीनभिनन्दन्तु विलोक्य नारकास्ते ॥ १५ ॥

इस प्रकार मेरे पुण्यों से सुखद, शीतल, सुगंधित पवन के साथ बरसने वाले, (क्लेशादि के) आवरण से हीन, सन्तभद्र प्रमुख बोधिसत्त्वमेघो को देख नारकीय लोक अभिनन्दन करें।

शाम्यन्तु वेदनास्तीव्रा नारकाणां भयानि च ।
दुर्गतिभ्यो विमुच्यन्ता सर्वदुर्गतिवासिन ॥ १६ ॥

नारकीयों की दारुण वेदनाएं शात हो, भय दूर हों। दुर्गतियो में फसे सब (प्राणी) दुर्गतियों से छूट जायें।

अन्योन्यभक्षणभय तिरश्चामपगच्छतु ।
भवन्तु सुखिन. प्रेता यथोत्तरकुरौ नराः ॥ १७ ॥

पशु-पक्षियों का परस्पर के भक्षण कर लेने का भय दूर हो। प्रेत उत्तर कुरु के मनुष्यों की भाति सुखी हो।

सतर्प्यन्ता प्रेता स्नाप्यन्ता शीतला भवन्तु सदा।
आर्यावलोकितेश्वरकरगलितक्षीरधाराभि ॥ १८ ॥

आर्य अवलोकितेश्वर के हाथो से छोडी गयी दूध की धाराओं से प्रेत सदा तृप्त हों, स्नान करें, शीतल हो।

अधा पश्यन्तु रूपाणि शृण्वन्तु बधिरा सदा ।
गर्भिण्यश्च प्रसूयन्ता मायादेवीव निर्व्यथाः । १९ ॥

सदा अधे रूप देखें, बहरे सुनें, माया देवी की भांति बिना व्यथा के गर्भवती (स्त्रिया) प्रसव करें।

वस्त्रभोजनपानीय स्नक्चन्दनविभूषण ।
मनोऽभिलषित सर्व लभन्तां हितसहित ॥ २० ॥

वस्त्र, भोजन, पेय, माला, चन्दन, आभूषण (तथा) हितकर सब मनोरथों का (सबको) सुलाभ हो।

भीताश्च निर्भयाः सन्तु शोकार्ताः प्रीतिलाभिन ।
उद्विग्नाश्च निरुद्वेगा धृतिमन्तो भवन्तु च ॥ २१ ॥

भीत निर्भय हो, शोकपीडित आनदलाभी हों, व्याकुल निराकुल एव धृतिमान् हों।

आरोग्य रोगिणामस्तु मुच्यन्तां सर्वबन्धनात् ।
दुर्बला बलिन सन्तु स्निग्धचित्ताः परस्पर ॥ २२ ॥

रोगी नीरोग हों। (सभी) सब बन्धनों से मुक्त हों। दुर्बल बलवान हों और मन से एक दूसरे के प्रेमी हों।

सर्वा दिश शिवा सन्तु सर्वेषा पथि वर्तिना ।
येन कार्येण गच्छन्ति तदुपायेन सिध्यतु ॥२३॥

सब राहियों के लिए सब दिशाए मगलमय हों (जो) जिस कार्य से जाते है (उनका) वह (कार्य) उपाय से सिद्ध हो।

नौयानयात्रारूढाश्च सन्तु सिद्धमनोरथा ।
क्षेमेण कूलमासाद्य रमन्तां सह बन्धुभि ॥ २४ ॥

जहाज से यात्रा करने वालों के मनोरथ सिद्ध हो। (वे) कुशल से तीर पाकर बन्धुओं के साथ विहार करें।

कान्तारोन्मार्गपतिता लभन्ता सार्थसगति ।
अश्रमेण च गच्छन्तु चौरव्याघ्रादिनिर्भया ॥ २५ ॥

कान्तार* में फसे और राह भटके (लोगों) को काफिले का साथ मिले और वे चोर, व्याघ्र आदि के भय से रहित हो बिना श्रम जायें।

सुप्तप्रमत्तमत्ताना व्यध्वारण्यादिसकटे ।
अनाथबालवृद्धानां रक्षा कुर्वन्तु देवता ॥ २६ ॥

मार्गहीन जगल आदि के सकट में सोए हुओ, माते हुओं, पवालो, अन थों, और बाल-वृद्धों की देवता रक्षा करें।

सर्वाक्षणविनिर्मुक्ता श्रद्धाप्रज्ञाकृपान्विता ।
आकाराचारसपन्ना सन्तु जातिस्मरा सदा ॥ २७ ॥

---

* कान्तार=मरुस्थल, महारण्य; चोर-डाकुओ से भयावह प्रदेश।

(सभी) सब अक्षणों† से विनिर्मुक्त, श्रद्धा, प्रज्ञा और कृपा से युक्त, रूप शील-सम्पन्न हो सदा (पूर्व-) जन्मो के स्मरणकारी हो।

भव त्वक्षयकोषाश्च यावद् गगनगजवत्।
निर्द्वन्द्वा निष्पायासा सन्तु स्वाधीनवृत्तय ॥२८॥

आकाश-व्यापक कोप की भाति (सबका) कोष अक्षय हो। (सभी) द्वन्द्वरहित, क्लेशरहित हों। (सबकी) वृत्ति (=जीविका) अपने अधीन हो।

अल्पौजसश्च ये सत्वास्ते भवन्तु महौजस.।
भवन्तु रूपसपन्ना ये विरूपास्तपस्विन ॥ २९ ॥

जो प्राणी अल्प ओजस्वी हैं वे महान् ओजस्वी हों। जो विचारे कुरूप हैं वे सुन्दर हों।

या काश्चन स्त्रियो लोके पुरुषत्व व्रजन्तु ता'।
प्राप्नुवन्तु च ता नीचा हतमाना भवन्तु च ॥ ३० ॥

लोक में जितनी स्त्रियां हैं, वे पुरुष हो जायें। नीच (=पापी) उस (स्त्रीयोनि) को प्राप्त हो तथा मानरहित हों।

अनेन मम पुण्येन सर्वसत्त्वा अशेषत ।
विरम्य सर्वपापेभ्य कुर्वन्तु कुशलं सदा ॥ ३१ ॥

इस मेरे पुण्य से सब प्राणी सब पापों से विरत होकर पुण्य कर।

बोधिचित्ताविरहिता वोधिचर्यापरायणा।
बुद्धै' परिगृहीताश्च मारकर्मविवर्जिता ॥ ३२ ॥
अप्रमेयायुषश्चैव सर्वसत्त्वा भवन्तु ते।
नित्य जीवन्तु सुखिता मृत्युशब्दोऽपि नश्यतु ॥ ३३ ॥

वे सब प्राणी बोधिचित्त से (कभी) हीन न हों, बोधि-चर्या में रमे रहें, उन पर बुद्धो का अनुग्रह हो, वे मारकर्म (=पापकर्म) से दूर हो, उनकी आयु अपार हो, वे नित्य सुख से जीवित रहें और मृत्यु का शब्द तक नष्ट हो जाये।

रम्या. कल्पद्रुमोद्यानै दिश सर्वा भवन्तु च।
बुद्धबुद्धात्मजाकीर्णधर्मध्वनिमनोहरै ॥ ३४ ॥

सब दिशाए बुद्ध और बोधिसत्त्वो से व्याप्त, धर्मध्वनि से मनोहर, कल्पवृक्षो के उपवनों से रमणीय हों।

शर्करादिव्यपेता च समा पाणितलोपमा।
मृद्वी च वैडूर्यमयी भूमि सर्वत्र तिष्ठतु ॥ ३५ ॥

रोडे आदि से रहित, हथेली के समान बराबर, कोमल और वैडूर्यमयी भूमि सर्वत्र हो।

---

† अक्षण के लिए देखिये पृष्ठ प्रथम पर टिप्पणी।

बोधिसत्त्वमहापर्षन्मडलानि समन्तत ।
निषीदन्तु स्वशोभाभिर्मण्डयन्तु महीतल ।।। ३६ ।।

बोधिसत्त्व-महापरिषद् की मडलिया सब ओर बैठें और अपनी शोभा से भतल को अलकृत करें ।

पक्षिभ्य सर्ववृक्षेभ्यो रश्मिभ्यो गगनादपि ।
धर्मध्वनिरविश्राम श्रूयता सर्वदेहिभि ।। ३७ ।।

सब देहधारियों को पक्षियों से, सब वृक्षों से, किरणों से और आकाश से भी धर्मध्वनि निरन्तर सुनाई पडे ।

बुद्धबुद्धसुतैर्नि य लभन्ता ते समागम ।
पूजामेघैरनन्तैश्च पूजयन्तु जगद्गुरु ।। ३८ ।।

उन्हें बुद्ध और बोधिसत्त्वो का नित्य समागम प्राप्त हो और वे अनन्त पूजामेघों से जगद्गुरु की पूजा करें ।

देवो वर्षतु कालेन सस्यसपत्तिरस्तु च ।
स्फीतो भवतु लोकश्च राजा भवतु धार्मिक ।। ३९ ।।

समय पर देव बरसे । खेती सपन्न हो। लोग समृद्ध हो। राजा धार्मिक हो।

शक्ता भवन्तु चौषध्यो मन्त्रा सिद्ध्यन्तु जापिनां ।
भवन्तु करुणाविष्टा डाकिनीराक्षसादय ।। ४० ।।

औषधियों में प्रभाव हो। जप करने वालों के मत्र सिद्ध हों। डाकिनी, राक्षस आदि करुणारत हों ।

मा कश्चिद् दु खित सत्त्वो मा पापी मा च रोगित ।
मा हीन परिभूतो वा मा भूत् कश्चिच्च दुर्मना ।। ४१ ।।

कोई प्राणी न दु खी हो, न पापी हो, न रोगी हो, न हीन हो, न तिरस्कृत हो और न दुष्टचित्त हो ।

पाठस्वाध्यायकलिला विहारा सन्तु सुस्थिता ।
नित्यं स्यात् सघसामग्री संघकार्यं च सिद्ध्यतु ।। ४२ ।।

विहार पाठ और स्वाध्याय से व्याप्त, शोभनावस्था में रहें। सघभेद कभी न हो और सघ कार्य सिद्ध हो।

विवेकलाभिन सन्तु शिक्षाकामाश्च भिक्षव ।
कर्मण्यचित्ता ध्यायन्तु सर्वविक्षेपवर्जिता ।। ४३ ।।

भिक्षु विवेकलाभी और शिक्षार्थी हों, सव विक्षेपों से रहित हों, कर्मण्य चित्त होकर ध्यान करें ।

लाभिन्य सन्तु भिक्षुण्य कलहायासवर्जिता ।।
भवन्त्वखडशीलाश्च सर्वे प्रव्रजितास्तथा ।। ४४ ।।

भिक्षुणियो में कलह न हो, क्लेश न हो। (वे) लाभिनी हो। तथा सभी प्रव्रजितो का शील खडित न हो।

दु शीला सन्तु सविग्ना पापक्षयरता सदा।
सुगतेर्लाभिन. सन्तु तत्र चाखडितव्रता. ॥ ४५ ॥

दु शीलो में सवेग हो, वे सदा पाप-क्षय करने में रत हो और अखंडित-व्रती सुगति क लाभ करें।

पडिता सत्कृता सन्तु लाभिन पैण्डपातिक ॥
भवन्तु शुद्धसताना सर्वदिक्ख्यतकीर्तय ॥ ४६ ॥

पडितों का सत्कार हो। (वे) लभी हो। (उन्हें) पिंडपात मिले। (उनका) जीवन–प्रवाह पवित्र हो। सब दिशाओ में (उनकी) कीर्ति फैले।

अभुक्त्वापायिक दु ख विना दुष्करचर्यया ।
दिव्येनैकेन कायेन जगद् बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

दुर्गति का दु ख बिना भोगे, दुष्करचर्या बिना किये, जगत् एक ही दिव्य-शरीर द्वारा बुद्धत्व प्राप्त करे।

पूज्यन्ता सर्वसबुद्धा सर्वसत्त्वैरनेकधा ।
अचिन्त्यबौद्धसौख्येन सुखिन सन्तु भूयसा ॥ ४८ ॥

सब प्राणी सब सबुद्धो की अनेक प्रकार से पूजा करें और बोधि के अचिन्तनीय सुख से अत्यन्त सुखी हो।

सिध्यन्तु बोधिसत्त्वाना जगदर्थ मनोरथा ।
यच्चिन्तयन्ति ते नाथास्तत्सत्त्वाना समृध्यतु ॥ ४९ ॥

जगत् के हित बोधिसत्वो के मनोरथ सफल हो। वे प्रभु प्राणिहित जो कुछ सोचें वह संपन्न हो।

प्रत्येकबद्धा सुखिनो भवन्तु श्रावकास्तथा ।
देवासुरनरैर्नित्य पूज्यमाना सगौरवै ॥ ५० ॥

गौरव के साथ देव, असुर और मनुष्यो से पूजित हो, प्रत्येक बुद्ध और अर्हत् सुखी हो।

जातिस्मरत्व प्रव्रज्यामह च प्राप्नुया सदा ।
यावत्प्रमुदिताभूमि मजुघोषपरिग्रहात् ॥ ५१ ॥

मजुघोष के अनुग्रह से प्रमुदिता-भूमि तक मुझे सदा (पूर्व–) जन्मो का स्मरण रहे और प्रव्रज्या प्राप्त हो।

येन तेनाशनेनाह यापयेयं बलान्वित ।
विवेकवाससामग्रीं प्राप्नुया सर्वजातिषु ॥ ५२ ॥

(मैं) सबल रहूँ, जिस किसी भोजन से मेरा निर्वाह होता रहे, सब जन्मों में मुझे पूर्ण विवेकवास प्राप्त हो ।

यदा च द्रष्टुकामः स्यां प्रष्टुकामश्च किंचन ।
तमेव नाथ पश्येयं मञ्जुनाथमविघ्नतः ।। ५३ ।।

जब मुझे देखने या कुछ पूछने की इच्छा हो तो उन प्रभु मंजुनाथ को बिना विघ्न-बाधा के देखूं ।

दशदिग्व्योमपर्यन्तसर्वसत्त्वार्थसाधने ।
यथा चरति मंजुश्री सैव चर्या भवेन्मम ।। ५४ ।।

दश दिशाओ के आकाश के अन्त तक के अखिल प्राणियो का हित-साधन करने में जैसी चर्या मंजुश्री की होती है, वही चर्या मेरी हो ।

आकाशस्य स्थितिर्यावद् यावच्च जगतः स्थितिः ।
तावन्मम स्थितिर्भूयाज् जगद्दुःखानि निघ्नतः ।।५५।।

जब तक आकाश की स्थिति रहे, जब तक जगत् की स्थिति रहे, तब तक जगत् का दुःख नाश करते हुए मेरी स्थिति रहे ।

यत्किंचिज्जगतो दुःखं तत्सर्वं मयि पच्यताम् ।
बोधिसत्त्वशुभैः सर्वैर्जगत् सुखितमस्तु च ।। ५६ ।।

जगत् का जो कुछ दुःख है वह सब मैं भोगूं और बोधिसत्त्व के सब पुण्यों से जगत् सुखी हो ।

जगद्दुःखैकभैषज्यं सर्वसंपत्सुखाकरं ।
लाभसत्कारसहितं चिरं तिष्ठतु शासनं ।। ५७ ।।

जगत् के दुःखों का एकमात्र औषध , सब संपत्तियों और सुखों का आकर, (बुद्ध का) शासन लाभ और सत्कार के साथ चिर तक ठहरे ।

मंजुघोषं नमस्यामि यत्प्रसादान्मतिः शुभे ।
कल्याणमित्रं वन्देऽहं यत्प्रसादाच्च वर्धते ।। ५८ ।।

जिनकी कृपा से पुण्य में मति होती है, उन मंजुघोष को नमस्कार करता हूँ और जिनकी कृपा से (पुण्य की) वृद्धि होती है उन कल्याणमित्र की वन्दना करता हूँ ।

।। परिनिष्ठित ।।

# परिशिष्ट

बोधिचर्यावतार के प्रारंभ में ही धर्मकाय का उल्लेख है तथा नवम परिच्छेद में बुद्धवचन पर कुछ चर्चा हुई है। इन दोनो विषयों पर कुछ अधिक प्रकाश डालने के लिए बुद्धकाय तथा बुद्धवचन शीर्षक दो परिशिष्ट जोड़े जा रहे हैं।

( १ )

# बुद्धकाय

ऐतिहासिक बुद्ध और उपास्य बुद्ध दोनों एक नहीं है। दोनों में देश-भेद है, काल-भेद है, जाति-कुल भेद है, देशना-भेद है तथा कायभेद है।

ऐतिहासिक बुद्ध का जन्म लुंबिनी में और पालन-पोषण कपिलवस्तु में हुआ। वहीं उनका बचपन बीता। कुछ दिन वहीं उन्होंने वैवाहिक जीवन का भी उपभोग किया। वहीं से भरे यौवन में "माता-पिता को अश्रुमुख रोते"१ छोड़ वे प्रव्रजित हुए। आलार कालाम और उद्रक रामपुत्र से समापत्तिया सीखीं, पर उन्हें संतोष न हुआ। मगध में चारिका करते-करते वे उरुवेला पहुँचे और देखा कि "यह भूमिभाग रमणीय है, यह वनखड प्रासादिक है, श्वेत, सुन्दर घाट वाली रमणीय नदी बह रही है, चारों ओर फिरने के लिए गांव है, ध्यान-रत होने के लिए बहुत उपयोगी है।"२ उसी प्रदेश में बोधिवृक्ष के नीचे बोधि प्राप्त की। वहां से चारिका करते वाराणसी प्रदेश में ऋषिपतन (सारनाथ) पहुँच धर्मचक्रप्रवर्तन किया। मध्यदेश में "बहुजनहिताय बहुजनसुखाय"३ विचरते-विचरते कुशीनगर में उनका महापरिनिर्वाण हुआ।

जन्म, बोधि, धर्मचक्रप्रवर्तन और महापरिनिर्वाण की महा घटनायें कितनी ही ऐतिहासिक क्यों न हों, है सब मायामय, क्योंकि उपास्य बुद्ध जन्मादि सभी विकारों से परे है। उपास्य बुद्ध का आविर्भाव और तिरोभाव दोनो ही परमार्थ में नहीं है। ४" पर आविर्भाव और तिरोभाव मायामय होते हुए भी, मृषा होते हुए भी, सप्रयोजन है। उसे दृष्टान्त द्वारा यों बताया गया है—"किसी वैद्य के बहुत से लड़के है। वैद्य प्रवास में है। इस बीच लडके कोई विषैली चीज खाकर बीमार हो जाते है। वैद्य आकर उन्हें भैषज्य देता है। उन लडकों में जिनका होश-हवाश दुरुस्त है वे तो भैषज्य पीकर ठीक हो जाते है। पर जो बहुत-कुछ पगले है वे नहीं पीते। समझाये जाने पर भी अपने पिता वैद्य की बात नहीं मानते। उनके लिए उनका पिता उपाय से काम लेता है। किसी दूसरे देश में जाकर वहां से खबर भिजवा देता है कि उसका देहान्त हो गया। इस खबर से उन्हें शोक होता है और उनके कुछ होश-हवाश दुरुस्त हो जाते है। तब वे भी वह भैषज्य पीकर ठीक हो जाते है। उनके ठीक हो जाने पर वह वैद्य फिर घर आता है।०००० (इसी प्रकार मेरा भी) यह उपाय है जो मैं अपना निर्वाण दिखाता हूँ पर निर्वृत्त नहीं होता"।५

ऐतिहासिक बुद्ध ने अपने जीवन के अस्सी वर्ष मध्य देश में बिताये, पर

---

१—मज्झिमनिकाय (राहुल सांकृत्यायन) पृष्ठ १०४। २—वही पृष्ठ १०५। ३—विनयपिटक (राहुल सांकृत्यायन) पृष्ठ ८७। ४—सद्धर्मपुण्डरीक, तथागतायुष्प्रमाण परिवर्तन में इस बात को नाना प्रकार से व्यक्त किया गया है। ५—महायान पृष्ठ ६७।

उपास्य बुद्ध की आयु अपरिमित है, "चिराभिसंबुद्धोऽपरिमितायुष्प्रमाण तथागत· सदा स्थित· ६" सनातन होते हुए भी तथागत अपने आपको सदा न रहने वाला दिखाते है। उसका कारण है । यहीं पर तथागत यदि अतिचिर रहें, तो प्राणी उन्हें निरन्तर देखेंगे, और मन में यह सोच कर कि मेरे उद्धार के लिए तथागत है ही, स्वयं कुछ न करेंगे और तथागत को कभी भी दुर्लभ न समझेंगे।७

ऐतिहासिक तथागत को लोग शाक्यमुनि कहते है क्योंकि शाक्यकुल से प्रव्रजित हुए थे। जन्म से वे क्षत्रिय थे। उपास्य बुद्ध को इस प्रकार नहीं देखा जाता। उपास्य बुद्ध को धर्मकाय से देखा जाता है ?। "धर्मकायास्थागता"।८ जिन्होंने तथागत को रूप के द्वारा देखा, घोष (ध्वनि) के द्वारा उनके अनुगामी हुए ।वे बेकार मेहनत करते रहे, पर तथागत को न देख पाये"—

ये मां रूपेण चाद्रक्षुर्ये मा घोषेण चान्वगु । मिथ्याप्रहाण ९ प्रसृता न मां पश्यन्ति ते जना ।।१०

ऐतिह्यपरायण बौद्धों का कहना है कि तथागत ने तीन बार धर्मचक्र का प्रवर्तन किया । प्रथम धर्मचक्रप्रवर्तन ऋषिपतन में हुआ। इसमें श्रावकयान एव प्रत्येकबुद्धयान का भगवान् ने उपदेश दिया।११ दूसरा धर्मचक्र प्रवर्तन गृध्रकूट पर किया । इनमें बोधिसत्त्वयान का भगवान् ने उपदेश दिया।१२ इन दोनों में प्रथम परिवर्तित धर्म का नाम हीनयान है और पश्चात्प्रवर्तित का नाम महायान । महायान ही वस्तुत एकमात्र बुद्धयान है। यह बात बहुत बल देकर कही गयी है। "इस लोक में एक ही यान है, दूसरा या तीसरा यत्न नहीं है । पुरुषोत्तम तथागत जो नाना यान की देशना करते है वह तो उपायमात्र है। लोकनाथ तथागत बौद्ध-ज्ञान के प्रकाशन के लिए लोक में उत्पन्न होते है। वे दूसरा कुछ कार्य नहीं करते। केवल एक यही कार्य करते है। बुद्ध हीनयान द्वारा प्राणियो को विनीत नहीं करते।

एकं हि यान द्वितिय न विद्यते तृतीय हि नैवास्ति कदाचि लोके।
अन्यत्रुपाया पुरुषोत्तमानां यद्यानानानात्वुपदर्शयन्ति ।।
बौद्धस्य ज्ञानस्य प्रकाशनार्थं लोके समुत्पद्यति लोकनाथ ।
एक हि कार्यं द्वितिय न विद्यते न हीनयानेन नयन्ति बुद्धा ।।१३

तीसरा धर्मचक्रप्रवर्तन धान्यकटक में हुआ। इसमें भगवान् ने तन्त्र का उपदेश दिया । यह तन्त्रयान ही मन्त्रयान, वज्रयान, श्रीकालचक्रयान, सहजयान आदि विभिन्न रूपों में परिणत हुआ है ।

हीनयान, महायान और तन्त्रयान—तीनों ही रहस्यवादी है। पर रहस्य पर पहुँचने के लिए उनके साधन भिन्न-भिन्न है। स्वमोक्ष हीनयानियों का ध्येय है । वे शील, समाधि और प्रज्ञा द्वारा उस तक पहुँचना चाहते है। सर्वसत्त्वमोक्ष महा-यानियों का ध्येय है । प्राणियों को दु खनिर्मुक्त होते देख, जिस आनन्द-सागर में गोते लगाने को मिलते है, वही क्या कम है जो नीरस मोक्ष का पीछा किया जाए।

---

६—सद्धर्मपुण्डरीक पृष्ठ ३१८, ३१९,। वही ३१९। ८—अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता पृष्ठ ५१३। ९—प्रहाण=वीर्य=उद्योग (बौद्ध पारिभाषिक शब्द)। १०—वज्रच्छेदिका। ११—धर्मचक्रप्रवर्तन-सूत्र। १२—सद्धर्मपुण्डरीक नामक धर्मपर्याय। १३—सद्धर्मपुण्डरीक पृष्ठ ४६।

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागरा । तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किं ॥१४

पर महायानियो का सर्वसत्त्वसुखार्थ प्रयत्न परम ध्येय नहीं। यह तो साधन-मात्र है । बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए । और इसके निमित्त उनकी सब चर्या है। बोधि-सत्त्वव्रत लेकर अपने शरीर और भोगों को प्राणिहित के लिए निछावर करना केवल बुद्धत्व-प्राप्ति का उपाय है । बुद्धत्व प्राप्ति ही तन्त्रयानी का चरम ध्येय है पर उसका विचार है कि—दुष्कर एव तीव्र नियमो के द्वारा साधना करने वाला सिद्धि नहीं पाता, पर सब कामो का उपभोग करते हुए शीघ्र ही सिद्धि पा जाता है। इच्छानुसार सब कामोपभोगो के साथ-साथ साधना करना ऐसा योग है जिससे शीघ्र बुद्धत्व-प्राप्ति हो जाती है—

दुष्करैर्नियमस्तीव्रै सेव्यमानो न सिद्धयति । सर्वकामोपभोगैस्तु सेवयश्चाशु सिद्धयति॥
सर्वकामोपभोगैश्च सेव्यमानैर्यथेच्छत । अनेन खलु योगेन लघु बुद्धत्वमाप्नुयात् ॥ १५

देशना में यह सब भेद-प्रपच ऐतिहासिक बुद्ध को दृष्टि में रख कर हुआ है। उपास्य बुद्ध तो इन सब भेदो से परे है । क्योंकि उपास्य बुद्ध देशना करते ही नहीं। स्पष्ट ही इस बात की घोषणा की गयी है —"नास्ति मया किंचित् प्रकाशितम् ।"१६ जो परम रहस्य का उपासक है वह इस तत्व को समझता है और गद्गद् होकर कह उठता है—"हे प्रभु, तुमने एक भी अक्षर नहीं कहा, पर अपने सभी शिष्यो को धर्मवर्षा से तृप्त कर दिया —

नोदाहृत त्वया किंचिदेकमप्यक्षर विभो । कृत्स्नश्च वैनेयजनो धर्मवर्षेण तर्पित ॥१७

यह सर्वथा शात, सर्वथा मौन, अविर्भाव एव तिरोभाव तथा प्रादुर्भाव एव परिनिर्वाण से परे, इतिहास द्वारा अस्पृश्य, वाणी द्वारा अनभिव्यज्य बुद्ध—तत्त्व उपासना का विषय तभी बन पाता है जब उसे येन-केन प्रकारेण वाग्विषय बना लिया जाता है ।

इस उपास्य बुद्ध का चार व्यूहो में निरूपण किया गया। प्रत्येक व्यूह को पारिभाषिक भाषा में काय कहते है। बुद्ध का स्वाभाविककाय धर्मो की प्रकृति है पर सब धर्मो की नहीं। केवल उन धर्मो की जो निरास्रव (कामादिक्लेशरहित) है, जो सब प्रकार की विशुद्धि को प्राप्त हो चुके है —

सर्वाकारा विशुद्धि ये धर्मा. प्राप्ता निरास्रवा.।
स्वाभाविको मुने· कायस्तेषा प्रकृतिलक्षण ॥१८

यह काय जिन परिशुद्ध धर्मो की प्रकृति है उनके व्यूह का नाम धर्मकाय है। स्वाभाविककाय अकारित्र है, पर धर्मकाय सकारित्र है। यह सर्वदा सर्वभूतहित-रत है। पर ये दोनो काय पुरुषविध नहीं है।

सर्वभूतहितरत धर्मकाय जब पुरुषविध होकर लोक-कल्याण करने लगता है तब उसे सभोगकाय कहते है । यह काय नाना प्रकार के लक्षणो और अनुव्यजनों से विभूषित होता है । बौद्ध शिल्पिगणो ने इन्हीं लक्षणो और अनुव्यजनो के सहारे तथागत की प्रतिमा और चित्रो में व्यक्त किया है। जो कारित्र (कर्म) धर्मकाय का है

---

१४—बोधिचर्यावतार। १५—गुह्य समाज पृष्ठ २७। १६—लकावतार सूत्र पृष्ठ १४४। १७—अद्वयवज्रसग्रह पृष्ठ २२। १८—अभिसमयालकारालोक पृष्ठ ५२१।

वही इसका है । पर धर्मकाय अरूपी है । यह रूपवान् है। धर्मकाय अपुरुषविध है, यह पुरुषविध है । धर्मकाय निराकार है, यह साकार है। धर्मकाय अव्यक्त है, यह व्यक्त है।

इस व्यक्त का दर्शन हम जिन शाक्यमुनि आदि बुद्धो में करते है, उनका नाम निर्माणकाय है। जब तक ससार है तब तक निर्माणकायो की परम्परा उच्छिन्न नहीं होती और इन निर्माणकायो के द्वारा ही बुद्ध जगत् का बहुविध साधन करते है—

करोति येन चित्राणि हितानि जगत समम् ।
आभवात्सोऽनुपच्छिन्न कायो नैर्माणिको मुने ।।१९

ज्ञानी धर्मकाय और स्वाभाविक काय के रहस्य में डूबा रहता है । पर भक्त को सभोगकाय और निर्माणकाय अधिक प्रिय है। और प्रिय इसलिए है कि उसका भक्तिभावित हृदय उन्हें अपने मन और वचन का विषय बना लेता है । वह कह उठता है —

"सदा सभी अवस्थाओ में जो सब दोषो से रहित है, जिसमें सभी प्रकार से सब गुण है । यदि चेतना है तो उसकी शरण जाना चाहिए, उसकी स्तुति करनी चाहिए, उसकी उपासना करनी चाहिए, उसी के शासन में रहना चाहिए ।— तुम सहज ही साधु हो, स्वभाव से ही वत्सल हो, परिचय विना भी तुम मित्र हो निश्छल बाधव हो। श्रेष्ठों के प्रति तुम्हारी ईर्ष्या नहीं है, हीनो के प्रति तुम्हारी अवज्ञा नहीं है, बरावर वालो के प्रति तुम्हारी स्पर्धा नहीं है, फिर भी तुम लोक में श्रेष्ठ हो। तुमने तीन को जीता—रागियों को वैराग्य से, क्रोधियो को निष्क्रोध, (मैत्री) से और अज्ञानियों को ज्ञान से। जिसने तुम्हें सैकड़ों बार देखा तथा जिसे पहले-पहल देखने का अवसर मिला, उन दोनों की आखो को समान भाव से तुम्हारा रूप प्रिय लगता ह । तुम्हारी वाणी त्रिविध कल्याणमयी है, वह सत्य है क्योंकि वह जिस अर्थ को बतलाती है, उसका साक्षात्कार हो सकता है, वह अनाकुल है क्योकि उसमें (रागादि) क्लेश नहीं है, वह बोध कराने वाली है क्योंकि उसका सम्यक् प्रयोग है । तुम गुणों के रत्नाकर हो, तुम्हारा रूप दृश्य वस्तुओ में रत्न है, तुम्हारा सुभाषित श्रव्य वस्तुओ में रत्न है, तुम्हारा धर्म ध्येय वस्तुओं में रत्न है। वुद्धधर्मो में ऐसा कुछ नहीं जो अद्भुत न हो, स्थिति अद्भुत है, वृत्त अद्भुत है, रूप अद्भुत है, गुण अद्भुत है ।—
सर्वदा सर्वथा सर्वे यस्य दोषा न सन्ति ह । सर्वे सर्वाभिसारेण यत्र चावस्थिता गुणा ।।
तमेव शरण गन्तु त स्तोतु तमुपासितु । तस्यैव शासने स्थातु न्याय्य यद्यस्ति चेतना ।।
अव्यापारितसाधुस्त्व त्वमकारणवत्सल । असस्तुतसखश्च त्वमनवस्कृतबान्धव ।।
अकृत्वेर्ष्या विशिष्टेषु हीनान् अनवमत्य च । अगत्वा सदृशै स्पर्द्धा त्व लोके श्रेष्ठतां गत ।।
सरागो वीतरागेण जितरोषण रोषण । मूढो विगतमोहेन त्रिभिर्नित्य जितास्त्रय ।।
येनापि शतशो दृष्ट योऽपि तत् पूर्वमीक्षते । रूप प्रीणाति ते चक्षु सम तदुभयोरपि ।।
दृष्टार्थत्वादवितथ नि क्लेशत्वादनाकुलम् । गमक सुप्रयुक्तत्वात् त्रिकल्याग हि ते वच ।।

१९–वही पृष्ठ ५३२ ।

रूप द्रष्टव्यरत्न ते श्रव्यरत्न सुभाषितम्। धर्मो विचारणारत्नं गुणरत्नाकरो ह्यसि ॥
अहो स्थितिरहो वृत्तमहो रूपमहो गुणा.। न नाम बुद्धधर्माणमस्ति किंचिदनद्भुतम्॥२०

एवं जो ऐतिहासिक बुद्ध है वही उपास्य बुद्धि नहीं। उपास्य बुद्धि की कलामात्र में ऐतिहासिक बुद्ध की स्वरूप प्रतिष्ठा होती है। उपास्य बुद्ध चतुष्काय है पर ऐतिहासिक बुद्ध का काय केवल एक है और वह भी पार्शिव।

## ( २ )

# बुद्धवचन

यत् किंचित् सुभाषित सर्वं तद् बुद्धभाषितम् ।१

'प्रत्येक सुभाषित बुद्धवचन है।'

सब्ब.... पुब्बेकतहेतुहि ... मिच्छाति वदामि।२

सब पुरबली करनी का फल है—इस बात को मैं मिथ्या कहता हूँ।

तापाच् छेदाच् च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितै.।
परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं भिक्षवो न तु गौरवात् ॥३

'जैसे पडित जन सोने को तपाकर, काटकर, कसौटी पर कस कर परखते हैं और फिर उसे ग्रहण करते हैं वैसे ही हे भिक्षुओ! मेरे वचनों को परख कर ग्रहण करो, भक्तिवश (उन पर विश्वास न करो)।'

यदर्थवद् धर्मपदोपसहित त्रिधातुसक्लेशनिवर्हण वच ।
भवेच्च यच्छान्त्यनुशसदर्शक तदुक्तमार्षं विपरीतमन्यया ॥४

'जो वचन अर्थवत् है, धर्मपदो से युक्त है, तीनों लोको के (राग, द्वेष एव मोह रूपी) क्लेशों का नाश करता है, जो शाति की अनुशसा बखान करता है; वही बुद्धवचन है। जो ऐसा नहीं, वह बुद्धवचन (भी) नहीं।'

'वाद च जात मुनि नो उपेति।'

जहा कलह-विवाद होता है, वहा मुनि नहीं फटकता।

सभी सुभाषित जो चित्त को शात करते हैं, बुद्धवचन है। फलत आगमान्तरों में जितने प्रासादिक वचन हैं, वे सब बुद्धवचन है। इस दृष्टि से वेदवचन जिनमें हिंसादि दोष नहीं है। उन्हें बुद्धवचन माना जाता है। इसीलिए बौद्ध-परम्परा में ख्याति है कि ऋषियों ने दिव्यचक्षु से देख कर भगवान् काश्यप सम्यक् सबुद्ध के

---

२०—मातृचेटकृत अध्यर्धशतक से उद्धृत।
१. बोधिचर्यावतार पजिका पृष्ठ ४३२ पर उद्धृत।
२. संयुक्तनिकायवचन, मिलिन्दपञ्ह पृष्ठ १३७ पर उद्धृत।
३. तत्त्वसग्रहटीका पृष्ठ १२ पर उद्धृत।
४. बोधिचर्यावतारपजिका पृष्ठ ४३२ पर उद्धृत।

वचन के साथ मिलाकर मत्रो को पर-हिंसा-शून्य ग्रथित किया था। दूसरे ब्राह्मणों ने प्राणिहिंसा आदि डालकर, तीन वेद बना, बुद्धवचन से विरुद्ध कर दिया। वेद-वचनों में जो शातभाव पाया जाता है, वह बुद्धवचन में ओतप्रोत है। वेद में जो अशातभाव है, उसका प्रत्याख्यान बुद्धवचनो में मिलता है।

वैदिक हिंसा को लक्ष्य में रख कर कहा गया है—

न तेन अरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सब्बपाणाना अरियोति पवुच्चति॥५

'(यज्ञादि में) जो प्राणिहिंसा की जाती है, उससे कोई आर्य नहीं होता। सब प्राणियो की अहिंसा (में जो रत है) उसे अर्य कहा जाता है।'

वैदिक-वर्ण-व्यवस्था पर भी 'न जच्चा ब्राह्मणो होति' 'विज्जाचरणसपन्नो सो सेट्ठो देव मानुसे।'७

कह कर आलोचना की गयी है। वस्तुत जो भी समाज अहिंसा के आधार पर सगठित होगा, उसमें वर्णभेद को स्थान नहीं हो सकता। वर्णभेद का मूल अधविश्वास ही नहीं, प्रत्युत स्वार्थ की भावना भी है। शूद्रों के विषय में जो भी मनु ने कहा है, उस पर एक बार दष्टि पडते ही यह बात मन में दृढ हो जाती है।

इस वर्णवाद को युक्ति से सिद्ध करने का बडा प्रयत्न किया गया है। बुद्ध-युग में ब्राह्मणों का कहना था कि ब्राह्मण इसलिए श्रेष्ठ है कि वे ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए है। श्रेष्ठता सिद्ध करने के इस तर्क को बुद्धयुग में असगत नहीं माना जाता था। पर बद्ध ने इस तर्क का प्रत्याख्यान करते हुए (मज्झिमनिकाय के अस्सलायन सुत्त में) कहा है—"आश्वलायन, तुमने अवश्य देखा होगा कि ब्राह्मणों के घर ब्राह्मणी स्त्रिया ऋतुमती होती है, गर्भ धारण करती है, प्रसव करती है, अपने बच्चों को दूध पिलाती है। तब इस प्रकार स्त्री की योनि से उत्पन्न होते हुए भी ब्राह्मण लोग ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का बडप्पन और अहकार क्यों करते है?"

एक और भी तर्क है—जिन्होंने पूर्व जन्म में उत्तम कर्म किये थे उन्हें उत्तम योनि मिली और जिन्होंने खराब काम किये थे उन्हें खराब योनि मिली (रमणीयाचरणा रमणीया योनिम्, कपूयाचरणा कपूया योनिम्)८। इस तर्क के भीतर यह कुत्सित भावना छिपी है कि हम द्विज पुर्वजन्म के पुण्यात्मा है तथा ये शूद्र और अन्त्यज पूर्वजन्म के पापी है। हम पुण्यात्माओं का सुख-भोग हमारे पुण्य का फल है तथा इन पापियों को जो दुख मिल रहा है, वह ठीक ही है, इनके कर्म ही ऐसे रहे हैं।

इस तर्क के चक्कर में सभी फँसे है। तथागत की दृष्टि इस तर्क पर भी

---

५ धम्मपद १९।१५
६ धम्मपद २६।११
७ दीघनिकाय सुत्त सख्या ३ (अबट्ठ सुत्त)।
८. छान्दोग्य उपनिषद् ५।१०।७,

गयी थी। बुद्ध के पूर्ववर्ती विचारक कर्मवाद जैसा मानते थे वैसा बुद्ध ने नहीं माना है। मिलिन्दप्रश्न में इस कर्मवाद के बारे में मिलिन्द और भदन्त नागसेन का संवाद है। संवाद बड़ा रोचक है और वह बुद्ध के जीवन की एक घटना से संबंध रखता है। देवदत्त ने सोचा कि श्रमण गौतम को जान से मार दूं। उसने एक शिला फेंकी, पर शिला दो बड़े पत्थरों के बीच में आ जाने से बुद्ध तक न पहुँची। फिर भी पत्थरों से टक्कर खाने के कारण एक पपड़ी उछली और बुद्ध के पैर में आ लगी। बुद्ध को बड़ी चोट आयी, पैर से खून भी बह निकला। इस घटना को ध्यान में रख कर मिलिन्द ने नागसेन से पूछा—क्या सभी अकुशल कर्मों के समाप्त हो जाने पर बुद्धता मिलती है या कुछ कर्म बच रहते हैं। नागसेन ने कहा—सभी अकुशल कर्म समाप्त हो जाने पर बुद्धता मिलती है। बुद्ध के अकुशल कर्म शेष नहीं रहते। नागसेन के ऐसा कहने पर मिलिन्द ने कहा—बुद्ध को पैर में चोट लगने से पीड़ा हुई थी। यदि यह कहो कि सब अकुशल कर्म समाप्त हो गये थे तो यह कहना कि बुद्ध को पैर में चोट लगने से दुःख हुआ था, यह बात मिथ्या है। और, यदि कहो कि पैर में चोट लगी थी तो यह कहना मिथ्या है कि उनके कर्मफल समाप्त हो गये थे। क्योंकि संसार में जो कुछ दुःख होता है, वह कर्म ही के कारण है।

इस पर नागसेन ने बुद्धवचनों का तात्पर्य बताते हुए कहा कि सब दुःख पूर्वकर्म के कारण नहीं होते। प्राणियों के दुःख के आठ कारण हैं—वात, पित्त, कफ, सन्निपात, ऋतु परिणाम, विषमाहार, उपक्रम, और कर्मविपाक। यदि पित्त आदि द्वारा उत्पन्न पीड़ा भी कर्मफल के कारण होती तो दुनिया में न तो इलाज हो सकता और न उनके अलग-अलग निदान होते। वात का प्रकोप दस कारणों से होता है—सर्दी, गर्मी, भूख, प्यास, अतिभोजन, देर तक खड़े रहना, अधिक श्रम और दौड़ना। कर्मफल से भी वात का प्रकोप होता है। पर इन में जो नौ कारणों से वात का प्रकोप होता है, वह इसी भव में होता है, उसका पूर्वभव से संबंध नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक कारण की व्याख्या करके नागसेन ने कहा—'न सब्बा वेदना कम्मविपाकजा अप्प कम्मविपाकज, बहुतर अवसेस।२ अर्थात् सब वेदनाएँ कर्मविपाक के कारण नहीं होतीं। कर्मविपाक से थोड़ा ही (दुःख) होता है, बहुत-सा तो दूसरे कारणों से ही होता है। इसीलिए भगवान् ने कहा है—

"ये ते समणब्राह्मणा एववादिनो य किंचाय पुरिसपुग्गलो पटिसवेदेति सुखं वा दुक्खं वा अदुक्खमसुखं वा सब्बं तं पुब्बेकतहेतुहि। यं साम तं अतिधावन्ति तस्मा तेसं समणब्राह्मणानं मिच्छाति वदामि।१

(ये ते श्रमणब्राह्मणा एववादिनो यत् किंचित् अयं पुरुषपुद्गलः प्रतिसंवेत्ति सुखं वा दुःखं वा अदुःखमसुखं वा सर्वं तत् पूर्वकृतहेतुभिः (ते) यत् सम्यक् तद् अतिधावन्ति। तस्मात् तेषां श्रमणब्राह्मणानां (मतम्) मिथ्येति वदामि।)

---

९ मिलिन्दपञ्ह १३५ तथा १३६,

१०. संयुक्तनिकायवचन, मिलिन्दपञ्ह पृष्ठ १३७ पर उद्धृत।

अर्थात् जो साधु-ब्राह्मण ऐसा कहते हैं कि पुरुष का सब दुःख-सुख उसके पूर्व कर्मों के कारण है, वे जो बात ठीक है, उसका अतिक्रमण करते हैं। सो उन साधु-ब्राह्मणों का वह कहना मिथ्या है।

कर्मफलवाद की यह नयी व्याख्या थी। इस व्याख्या के सहारे, कर्मवाद के आधार पर, कोई किसी को नहीं दुत्कार सकता कि वह पूर्वजन्म का पापी है। बुद्ध के अनुसार वर्णव्यवस्था काल्पनिक है और यहीं की गढ़ी हुई वस्तु है। वर्ण-व्यवस्था आदि संकीर्णता, साम्प्रदायिकता भेद-भाव तथा देश-देशान्तर में प्रचलित रंगभेद आदि सब प्रकार की सामाजिक विषमताओं से दूर, कुल, जाति, राष्ट्र आदि के अभिमान से निर्लिप्त जो भी वचन विश्व-मानव की एकता और मैत्री का प्रतिपादक है, वह बुद्धवचन है। बुद्धवचन सदाचरण के अतिरिक्त अन्य किसी बंधन में मनुष्य को नहीं बांधता। इस सदाचरण का प्रधान लक्षण है न अपने को सताना और न दूसरे को। इसीलिए आर्यदेव ने कहा है—

धर्मं समासतोऽहिंसां वर्णयन्ति तथागताः (चतुःशतक)।

इस धर्म का जिस वाणी द्वारा प्रकाश होता है, वह बुद्धवचन है।

# श्लोकानुक्रमणी

( दंड से पूर्व की संख्या परिच्छेदांक हैं और पर की श्लोकांक । )

---

# अनुक्रमणी

मूलग्रन्थ तथा भूमिका में आए विशेष शब्दों एवं विषयो के अतिरिक्त कितने ही सामान्य शब्द भी इस अनुक्रमणी में सम्मिलित कर लिए गये हैं। इसमें व्यवहृत सकेतों का विवरण यों है —अ=अलंकारपरक प्रयोग; आ=आचार्य; अति=अतिशयात्मक स्वर्गनरकादिविषयक शब्द, ऋ=ऋषि, जा=जाति, टि=टिप्पणी, टी=टीका; दे=देश, प=परिभाषा या पारिभाषिक शब्द; ना=नाम; बु=बुद्धपर्याय, बो=बोधिसत्त्वपर्याय; भू=भूमिका, शा=शास्त्र; सू=सूत्र; एक से अधिक सकेतों के बीच सबंध दिखाने के लिए समास चिन्ह (Hyphen) का प्रयोग हुआ है। यथा—बो-ना=बोधिसत्त्व नाम इत्यादि। अनुक्रमणी में कितने ही शब्दों का अर्थविवरण भी कर दिया गया है।

# शुद्धिपत्र

## भूमिका

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १ | १८,१९ | ऋपि | ऋषि |
| २ | २८ | इन | इस |
| ५ | १७ | प्रक्रिया | प्रतिक्रिया |
| ६ | १६ | ( ई ) | ( इ ) |
| | २१ | ऋपियो | ऋषियो |
| | २५ | ऋपियों | ऋषियो |
| | २६ | ऋपियों | ऋषियो |
| १२ | १८ | व्रहम | ब्रह्म |
| १५ | २८, २९ | वात थी | वात न थी |
| १९ | ८ | हम ऊपर देख चुके है कि | परित्राण के लिए |
| | ३२ | प्रत्य्या | प्रत्या- |
| २१ | ३२ | वज्चित्त | वज्रचित्त |
| | ३५ | यदीच्छते | यदीच्छसे |
| २६ | १८ | गयु-वुद्ध | वुद्धयुग |
| | २७ | व्राहमण | व्राह्मण |
| २७ | व्राहम० | में हकार को हलन्त करके पढिए | |
| | १४ | स्त्रिणा | स्त्रीणा |
| ३३ | १० | निवत्ति | निवृत्ति |
| ३६ | ३० | —एकातवाद | —एकान्तवाद |
| ४० | १९,२० | नित्यात्मावाद | नित्यात्मवाद |
| ४६ | २ | स्थिर नहीं | स्थिर एव अनुगत नहीं |
| | २६ | प्रत्युत् | प्रत्युत |
| | (प्रत्युत शब्द हलन्त नहीं होता है, अन्यत्र भी यदि हलन्त छपा हो तो वहा भी हलन्त-चिह्न हटाकर शुद्ध कीजिए।) | | |
| ४७ | ३० | अर्थातु | अर्थात् |

## मूलग्रन्थ और अनुवाद

सकेत—अनु=अनुवाद

| पृष्ठ | श्लोक | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| १३ | ५३ | यमूदतादयो | यमदूतादयो |
| २३ | २० अनु | छद | छेद |
| २४ | ३० | तऽपि | तेऽपि |
| २५ | ३४ | दु खसमूह | दु ख की वाढ |
| २९ | १५ | ०दिक | ०दिक |
| ३२ | ३४ अनु | मुस | मुझे |
| | ३७ | महु | मुहु |

| पृष्ठ | श्लोक | अशुद्ध | शुद्ध |
| --- | --- | --- | --- |
| ३५ | ५७ अनु | ऋद्धि | ऋद्धि |
| ४० | ९३ | दृष्ट्दा पृष्ट्दा | दृष्ट्वा पृष्ट्वा |
| | ९४ | ०प्ये० | ०प्येव० |
| ५० | ५५ | ०करि० | ०कारि० |
| ५६ | १०३ | ०द्वेषेण | ० वोषेण |
| | (अन्तिम पक्ति) | यत | यत ॥१०८॥ |
| ६० | १३१ | ह्यनुभूयते | ह्यनुभूयते |
| | १३२ | वेत् | भवेत |
| ६२ | ९ | ०च्छ० | ०च्छ० |
| ६४ | २५ | अदौ | आदौ |
| | २७ | पांडित० | पडित० |
| | ३० | सचतन | सचेतन |
| ६५ | ३१ | –स्थान | –स्याम– |
| ६६ | (पक्ति १८) | ४७ | ४१ |
| ६९ | ५७ | परि० | पर० |
| ७० | ६५ | प्राप्र० | प्राप्त० |
| ८३ | ९५ | यना० | येना० |
| ८४ | (पादटिप्पणी) | पाठान्तरव्त्मापि | चेदात्मनि के स्थान पर पाठान्तर चेदात्मापि |
| ८७ | ११८ अनु | ०श्वयर | श्वर |
| ८९ | १३५ | ०नप० | ०नमप० |
| ९२ | (पक्ति २२) | १५० | १६० |
| ९३ | १६३ | सत्त्वा० | सत्त्व० |
| ९४ | १७३ | ० गात्मनि | ०त्मनि |
| ९७ | (द्वितीय शीर्षक) | व्यप० | व्यव० |
| ९८ | ७ | हि | च |
| १०५ | (पादटिप्पणी †) | कतम० | कतमै० |
| १०६ | ४८ | वेदन० | वेदनै० |
| १०७ | ५१ | ० तुल्य० | ०तुल्ये० |
| १०८ | ५५ | ०तम प्रति० | ०तम प्रति० |
| १०९ | ६१ | ज्ञय | ज्ञेय |
| ११२ | ७४ | चित्त | चित्त |
| ११७ | ९६ | निरशत्व | निरशत्व |
| १२८ | १६१ | सुदुर्लभा | सुदुर्लभ |
| १२९ | १६२ | ०वाहुत्याद् | वाहुल्याद् |
| १३७ | ४८ | ०वुद्धा | वुद्धा |
| | ५० | ०वद्धा | वुद्धा |